

॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत प्रबन्धमाला

५७

यास्कप्रणीतं

निरुक्तम्

[प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमध्यमाध्यायात्मकं राष्ट्रभाषा-
नुवादटिष्णीविशिष्टभूमिकादिभिर्वित्तं च]

सम्पादक —

प्रो० उमाशंकरशर्मा ‘ऋषिः’

एम्० ए०, राहित्यरम्भ

(इष्टप्रसारणदक)

संस्कृतविभाग, पट्टनामालेन



चौखंडा विद्याभवन घाराण्डसी-१

१९६६

प्रबालिक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, संवत् २०२२ वि०
मूल्य : ७-५०



© The Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Varanasi-1
(INDIA)
1966

Phone : 2076

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT SERIES

57.

THE

NIRUKTA OF YĀSKA

(Critically edited with a Comprehensive Introduction,
Hindi Translation, explanatory notes etc.)

CHAPTERS-1, 2, 3, 4 & 7 ONLY.

By

Prof. Uma Shankar Sharma 'Rishi'.

Sahityaratna, M. A. (Gold Medallist)

Lecturer in Sanskrit;

Patna College, Patna;

THE

CHOWKHAMBHA VIDYA BHAWAN

Post Box 69, Varanasi-1 (India)

PRESENTED BY
Ministry of Education
.....Govt. of India.....

Second Edition

1966

Price : 7-50

मङ्गलाचरणम्

प्रणम्य पितृरौ पूर्वं सर्वानाचारवदुर्लन् ।
निरुक्तार्थप्रकाशाय वाङ् मया व्यवसीयते ॥ १ ॥

उपकाराय साधूनामपकाराय चासताम् ।
सुव्याख्यायोधितो विद्वान्द्विविधां वृत्तिमीहते ॥ २ ॥

क निरुक्तस्मो अन्थः क वालो वयसा धिया ।
केवलं सच्चिदानन्दमात्रयेऽहं सनातनम् ॥ ३ ॥

जन्मूमागश्चमनिवसतो दुर्गसिंहस्य शृचं
ददृशं ददृशं मनसि निखिला शान्तिरूपथते मे ।
प्राप्तं किञ्चित्तत्त्वलविद्वां शोधकार्यादपीह
अन्थेऽस्मिस्तद्विधितमिदमालोक्यतामादरेण ॥ ४ ॥

‘ऋषि.’



FOREWORD

Dr Tarapada Chowdhury,

M A Ph D (Lond.)

Head of the Department of Sanskrit,

Patna University

It is a Pleasure for me to write a few words regarding Shri Uma Shankar Sharma's Hindi translation of the Nirukta of Yaska It is a word for word translation and is therefore, expected to inspire the general reader and to be helpful to a research Scholar in understanding the linguistic problems of the then mind There are certain references to social and cultural matters as well Moreover Yaska is the first interpreter of Vedic hymns

Shri Sharma is a serious student of the Vedic literature reconciling both the eastern and the western methods of its study I hope that his translation if completed will faithfully bring in his own Vernacular ample material for a study of several aspects of the Vedic Age I have also seen the outlines of his Introduction to the Nirukta which if carefully written, will also be a treasure of the Nirukta literature

Patna }
3-10-51 }

T Chowdhury

विषय सूची

[क] आम निरेदन	११
[ख] भूमिका	
१ भारतीय वाड्मय और वैदिक साहित्य	१३
२ निषण्डु तथा निरक्त	२४
३ निरक्त की विषय-स्तुति—प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ अध्याय	३४
सप्तम अध्याय	७९
४ यासु का निर्वचन	८७
५ निरक्त और वैदिक वाड्मय	९९
६ निरक्त और व्याकरण	१०७
७ निरक्त और भाषाविज्ञान	११२
८ निर्वचन शास्त्र का इतिहास	१२८
९ निषण्डु और निरक्त के ढीकाकार	१३४
१० प्रस्तुत प्रयास	१४१
११ निषण्डु पाठ (मूल निषण्डु)	१५५
[ग] मृड निरक्त अनुवाद विरोप टिप्पणी—	
१ प्रथम अध्याय	१
२ द्वितीय अध्याय	३४
३ तृतीय अध्याय	६८
४ चतुर्थ अध्याय	१०१
५ सप्तम अध्याय	१-२८
[घ] परिशिष्ट	
१ वैदिक मनों का पदानुवाद	१-१२
२ प्रमाण प्राचावगी	१-२

—०००—

आत्म-निवेदन

जिसके निशामोपम थे, श्रुतियाँ समस्त भूतल में,
भधुमय अनन्त आमाय, मरती रहती प्रतिपल में ।
वह जगदीश्वर, मायाग्री, नूतन शशांक का दाता,
कर्णामय, दीन अर्किचन, जन वा सदैव हो न्राता ॥

और हिन्दी निरक्त ? नाम कुछ बेदगा-मा लगता है जल्द, पर क्या
फरेंगे, आनंद की हवा ही ऐसी वह चली है । लीजिए, हिन्दी जुगद,
जिसका अर्थ है हिन्दी में जुगदेद, न कि हिन्दी का जुगद ! सो भलेमानस,
अगर आपको हिन्दी का निरक्त देखना है तो प० रिजारीदास वाजेयी जी
की कलम की करामात देखिए । वह है हिन्दी में निरक्त—उसके पढ़ने का
नया ढग, नई बातें और नया लेखन । वस, नव गई नई बात ।

टीका का अर्थ ? 'सर्वत्र हर सर्वस्य त्र भरच्छेदतत्पर'—सरों का
सर कुछ हरण कर लो, चारी ऊतने (Plagiarism) में मत चूरो और
काट छाँट (अर्थात् छेद) भी करते चलो । इसमें भी सारी दुनिया की
बातें जहाँ-तहाँ से लाकर भर दी हैं, कुछ टिप्पणियाँ जोड़ दीं, थोड़ी भूमिका,
और बन गई पुस्तक ! यही है इतिहास, प्रेरणा, निष्पय- वस्तु विस्तार !

निरक्त मेरे जीवन का थंगी ? छानानस्या में इसके अनुगाद का
धीजारोपण, नालंदा में गवेषणा करते हुए (घनराय नहीं, गनपणा का विषय
बोद्ध-न्याय था, निदेशक थे डा० सातकी मुग्नोषाध्याय, जिन्होंने ठोक-पीट
पर मुस्ति निरसित करन का पूरा प्रयास किया) विम्तार तथा अन अध्यापन-
भाल में फल फूल ! हानि का बेक्षण विज्ञान, स्थान और परित्तनों के
साथ साथ कार्य में प्रगति ॥

अनुग्राद का वार्य सितना बठिन है, इसे भुक्तभोगी ही जान सकता है। कहाँ विक्रम पूर्व सप्तम शती की भाषा और कहाँ आज का युग—यही कारण है कि स्पष्टीकरण के लिए जहाँ तहाँ सैम्लों कोष्ठों का प्रयोग बरना पड़ा। मूल-पाठ में वैदिक-उद्दरणों के स्थान सकेत न देकर अनुवाद में ही उसे दिया है। मेरा लक्ष्य है कि केनल अनुवाद पढ़कर ही पाठक यास्त के विचारों से परचित हो जायें। समूची पुस्तक में सामान्य वर्ग के पाठकों पर हा विशेष ध्यान रहा है। पाण्डित्यपूर्ण टीकायें तो बहुत-नहीं हैं। उनकी ओर भी जागरूकता उत्पन्न करने की चेष्टा की गयी है।

जी हाँ, हिन्दी की ही चीज हो गई। हमारे गौरवोद्घारी गुरु वेतरह नाराज हैं। मूल पाठ में सन्धिया को तोड़दिया है, विराम चिह्नों का अत्यधिक प्रयोग किया है—निरक्षण का पाठ ही आधुनिक वेश भूपा में सुखजित हो गया है। आर दी इच्छा है तो सन्धि गिलान र ही पढ़ें, समझें और समझायें!! यह काम आसान है अपेक्षाकृत उसके कि सुशिलिष्ट, सन्धिपद्ध पदों को तोटा जाय (आप ‘दमाद-मन’ और ‘दमाद-मन’ दी कथा जान ही रहे होंगे)।

जहाँ तहाँ टिप्पणिया दी है जिनमें बहुत धृष्टता दिसात्तर सितन लोगों के विचारों का संडरन किया है। उनमें मूल नी व्याख्या यम ही पायेगे। उसके लिए भूमिका का तृतीय परिच्छेद अपलोकनीय है। भूमिका नालन्दा में लियी गई थी, वहाँ के पुस्तकालय में ग्रास सारी सामग्रियों का उपयोग किया गया है—इसमें सन्देह नहीं। उसके पाद समसे वड़ पुस्तकालय ढाँ सातकी भुजोपाख्याय (डिरेक्टर, नगरनालन्दा महाविहार) के अप्रतिम ज्ञान का गंणसा छाणी है कि वह जन्मों तर भी उनसे उक्त ग्रनें को नहीं।

निष्ठु पा मूल पाठ एवं वैदिक-भेत्रों का पदानुग्राद भी जाथ में लगा दिया है। पदानुग्राद तो सीमित अन्तरों में होता है, उमरी बठिनाई क्या कहें, भाषा की रक्षा होती नहीं, यही समझ लें कि अनुग्राद भर हो जाता है। इससे भी अच्छा अनुग्राद हो सकता था पर किंगोरामस्या में किये गये अनुग्रादों पर उन्म चलाने का साहस नहीं हुआ, ज्यों था त्यों दे दिया।

‘वन्दौ प्रथम असज्जन चरना’—यद्यपि पद्मपद पर असज्जन मिलते रहते हैं, तिन्हु इस कार्य में व्याधात ढालनगालों का क्या कहना? उन्हें दूर से ही प्रणाम कर विराम लेता है!

इसमें ग्रोसाहन देनेवालों की भी कर्मा नहीं। मर्वप्रथम में मुश्टहाँतनामधेय, हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य नलिनविलोचन शर्मा जी का नाम लै तिन्होंने मेरी इतियों पर मुक्ते वधार्द दी हैं तथा निरक के कार्य में भी आजीर्वचन व्यक्त किये हैं। डा० बचन ज्ञा का भी म कम इतन्ह नहीं जो जहाँ-तहाँ मेरा परिचय देते ममय मेरे निरक एवं विजेपतया इमझी भूमिका-सम्पत्ति की चर्चा कर दिया रखते हैं।

यदि पाठकों न इसे पन्द्र जिया तथा ग्रनातक वर्षन्धुदय (आदरणीय श्री मोहनदास तथा विह्लदास जी गुप्त) का वरद नर साथ रहा तो जीश्रातिशीघ्र ममृत की अन्यान्य इतिया का भी हिन्दा रूपान्तर (व्याख्या के साथ) उपस्थित रुपन म कुछ भी क्षमर नहीं रहेगी।

पोन्दिल (गया)
वैशासीपूर्णिमा, २०१८ ।

—‘ऋषि’

भूमिका की विस्तृत-सूची

परिच्छेद १—भारतीय-वाङ्मय और वैदिक-साहित्य

वेद, संसार का प्रथम-साहित्य—उनकी महत्ता—विभाजन—संहिता, व्राद्यण, आरण्यक, उग्नियज्ञ—संहिताओं का संशिख-चर्णन—उनसे सम्बद्ध व्राद्यणादि की गणना—वेदान्त—शिक्षा—कृष्ण—व्याकरण—छन्द—उच्चोतिप—निष्ठा—अन्य वेदाङ्गों से भिन्नता।

परिच्छेद २—निष्ठानु तथा निरुक्त

निष्ठानु, वैदिक शब्दों का संग्रह—निरुक्त, उसी का भाष्य—निष्ठानु और निरुक्त का विभाजन—नैष्ठानु-राष्ट्र—वर्याच शब्दों का संप्र—नैगम काण्ड—कठिन-शब्दों का संप्र—दैवत-काण्ड—देवताओं के नामों का संप्रह—निरुक्त का परिचय—हौली—विचित्र-शब्दों का प्रयोग—निष्ठानु अनेक थे—उनका लक्षण—वर्तमान-निष्ठानु का रचयिता—निष्ठानु और निरुक्त के रचयिता एक ही व्यक्ति नहीं थे—विरोधी तर्फ और राष्ट्र—निर्दर्श।

परिच्छेद ३—निरुक्त की विषय-स्तुति

[क] प्रथम-अध्याय—इसकी गुलाम—विष्ठु श्री हप्तेता, आन्तरिक तथा वाह्य—पद-भेद—नाम और आस्थात—उपर्युक्त—निपात और उनके भेद—शब्द नित्य हैं या अनित्य ? ऐतिहासिक—स्तोडवाद—मोमादरों की युक्ति—फेलो—भाद्र में मनुष्यों और देवताओं का ऐत्य—भावविशार—शब्दों का धातुन-निदानत—शास्त्राग्नि और गार्भ—गार्भ का पूर्वपक्ष—यादृक के उत्तर—सभी शब्दों श्री धातुन भानने के उपकाल—निदानत वो विशेषता—निरुक्त वा उपयोगिता—मन्त्र निर्वर्तक हैं या रुप्यस ?—कौतन का पूर्वपक्ष और यादृक का उत्तर।

[ग] द्वितीय-अध्याय—वर्गा द्वितीय-अध्याय में ही निरुक्त आत्मम हुआ है ! —निर्वचन के निदानत—शब्दों में परिवर्तन—रसोन्ड वा विचार—वैदिक और लौकिक शब्दों का सम्बन्ध—उपभाग्य—अनुवान्य-वनुष्य और अविशारी की जाँच—निष्ठानुके शब्दों की व्याख्या—त्रिचाओं के उपकाल—‘गो’ के अर्थ—इतिहास—यून वा हपक।

[ग] तृतीय अध्याय—निष्ठु के द्वितीय तृतीय अध्यायों के शब्दों की व्याख्या—तत्परता—ओरस पुत्र की थेष्टा—चरिष्ट रा उपाख्यान—पुत्र का उत्तराधिकार—पुत्री का उत्तराधिकार—तर्क—प्रातृहीन नारी का उत्तराधिकार—गर्भाद्वक् शब्द—पुत्री रा उत्तराधिकार-नियेष—पचनन—इतिप्रय ग्रातिपदिक हीन शब्द—उपमा—रक्षण—उपके वर्म तथा प्ररार—रपसमूला उपमा—शब्दानुषृति—नैषण्डुक काण्ड की समाप्ति ।

[घ] चतुर्थ अध्याय—नैयम या ऐष्पदिक-क्षण्ट, इगरी विशेषता—जहा, निधा, दमूना, मूृ—वुमन—तितउ—भाष्य में उद्दरण—शुन्धु के विभिन्न अर्थ—निषान—नूचिन, नूच—कच्छप—च्यवन और इनरा इतिहास—रन और हर—यम-यमी नवाद—अदिनि और सबध्वरवाद—उदात और उसरा प्रयोग—प्रदेशिक नद—इनशी उत्पत्ति की उत्पन्ना ।

[घ] सप्तम अध्याय—देवता-विज्ञान—ऋचाओं के भेद—विषय—मन्त्र में देवता की पहचान—देवताओं के तीन भाग—विभाजन की अन्य रीतियाँ—देवताओं से सम्बद्ध घट्टा—एवं देववाद—बहुदेववाद—सर्वधरवाद—क्षेत्रो यित्तम—स्वहप विचार—मानवीकरण—उसकी विशेषतायें—यमि, जातप्रैदम, वैक्षणर—प्रारन्मित्र विज्ञान ।

परिच्छेद ४—यास्क का निर्वचन

निर्वचन का अर्थ—आतुनित्र निर्वचन—इनका विज्ञान—ज्यापक अध्ययन की आवश्यकता—यास्क की वियोग्या—यास्क के घनि नियम—यास्क के निर्वचन भी विशेषतायें—यास्क के निर्वचनों के स्वहप—निर्वचनों की दुर्बाधिता और उसके वारण—निष्कर्ष ।

परिच्छेद ५—निरुक्त और वेदिक व्याख्यान

निरुक्त रा विसा वेदिक शास्त्र से सम्बन्ध—विभिन्न सहिताओं के उद्दरण—निरुक्त किसी एक वेद से सम्बद्ध नहीं है—यास्क की घट्टता—टा० सरप—अथर्ववद—टा० र्त्तोऽ—उद्दरणों की सारणा—निरुक्त और वेदार्थ—वेदिक अर्थ करने के विभिन्न-सम्प्रदाय—मायण—दयानन्द—अरविन्द—भाषाविज्ञान—धारणा के अनुमार व्याख्या—निरुक्त की व्याख्या शैली ।

परिच्छेद ६—निरुक्त और व्याकरण

निरुक्त और व्याकरण में सम्बन्ध—व्याकरण की प्राचीनता—व्याकरण का

भूमिका

प्रथम-परिच्छेद

भारतीय-चाल्य और वैदिक-साहित्य

[वेद, संसार का प्रथम साहित्य—उनको महत्ता—विभाजन—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्—संहिताओं का संक्षिप्त-वर्णन—उनसे सम्बद्ध ब्राह्मणादि को गणना—वेदाङ्—शक्ता—कल्प-च्याकरण-छन्द—ज्योतिष—निरुक्त—अन्य वेदाङ्गों से भिन्नता।]

किसी देश की संस्कृति का पूरा ज्ञान हम उसके साहित्य से ही कर सकते हैं। जिस देश का साहित्य जितना प्रोड, गम्भीर और विस्तृत होता है उसकी संस्कृति भी उतनी ही उच्च मानी जाती है। साहित्य को समाज का दर्शन कहा गया है अर्थात् साहित्य द्वारा हम किसी जाति की सम्मति, संस्कृति, सम्बन्धि, उदारता आदि का सम्बन्ध कैसे पाए सकते हैं। मारत्वर्य की जो प्रतिष्ठाआज विद्व मे है अधिकांशतः वह उसके प्राचीन-साहित्य पर ही अवलम्बित है। प्रथमः सबों ने यह स्पष्ट-रूप से स्वीकार कर लिया है कि संसार का सबव्रेत्यम् साहित्य भारत में ही वेदों के रूप में व्यवतीर्ण हुआ।

वेदों पर भारतवर्य को गोरख है और उनकी प्रतिष्ठा ब्रह्मण रखने के लिए उनसे संपर्कों वर्य तक डाहें मौतिक-रूप में रखा, प्रत्येक कर्म में उनका पाठ अनिवार्य हो गया, तथा 'स्वाध्यायोऽपेत्यं' का 'स्वरोद्घोष भी किया गया। पीछे का समस्त भारतीय वाद्यम् इसी-न-किसी रूप में वैदिक-साहित्य का शूष्णी है। धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों को उत्पत्ति के लिए हमें वैदिक-साहित्य का ही बालोड़न करते हैं। वेदों वा वर्य ही ज्ञान का समूह (√विद् = ज्ञान)। आज वेदों का अध्ययन विद्वान् लोग न केवल धर्म-कर्म

१. मोहन-बो-दारो की अगठन गिरालिरि (तित्व, ४५०० रु० पू०) तथा बोधाज कोई भी दिचारन गिरालिरि (तुब्बी, १४०० रु० पू०) को लोग वेदों से पूर्ण ज्ञान नहीं है। वेदों का बाल—१३०० रु० पू० (मैक्समूटर), २००० रु० पू० (विनरनिति), ४५०० रु० पू० (विक्रम रूप जैदोबी), और ८५००० रु० पू० (मृदिनाय चन्द्र दास) तक मानते हैं।

आदि के ज्ञान के लिए करते हैं प्रत्युत उनके आधार पर प्राचीन-सभ्यता, भाष्यों की मूल-भाषा, मानव का इतिहास आदि विषयों का भी पता लगाते हैं।

यद्यपि वेदों से "मन्त्रद्वाहाणात्मक, शब्दराशिवेद" (आष० परि० ३१) के अनुसार केवल मन्त्रभाग और द्राहण-भाग वा ही ग्रहण प्राचीन-भाष्याओं ने किया है किन्तु उनका यह सक्षण केवल वर्णकाण्ड तक ही सीमित था, अतएव पाश्चात्य-ग्रनेवको ने भाषा के आधार पर वेदिक और लौकिक सङ्कृत का भेद देखकर वेदिक-भाषा में लिखे थये समस्त साहित्य को 'वेदिक' नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार वे वेदिक-साहित्य को चार खण्डों में (भाषा के अनुसार कालों में) बांटते हैं—सहिता, द्राहण, आरण्यक और उपनिषद्। सहिता-भाग में मन्त्रों का सप्रदाता है और ये सबसे अधिक प्राचीन हैं। द्राहण-भाग मन्त्रों वा याज्ञिक उपयोग बतलाता है, यह अधिकाशतः गद्य में है। आरण्यको और उपनिषदों में दार्शनिक-भावना उद्भूत हुई है; इनमें अहंपियों के ईश्वर, सप्तार और जीव-सम्बन्धी आध्यात्मिक विचारों का गच्छ-पद्धात्मक बर्णन है।

सहिता-भाग के भी चार खण्ड हैं—फृक्, यजु०, साम और अथर्व जिनमें प्रत्येक से सम्बद्ध द्राहण-आरण्यक-उपनिषद् अलग-अलग हैं। उस समय तक सोमन-कला वा आविद्धार न होने के कारण इन्हें कण्ठस्थ ही रक्षा गदा और विभिन्न-कुलों में भिन्न-भिन्न रूप से पाठ होने के कारण इनकी कई शास्त्रायें ही गईं। किर भी प्रत्येक शास्त्रा के अपने-अपने द्राहणादि निश्चित थे। बालान्तर में घड़त-सी शास्त्रायें लुप्त हो गईं। पतञ्जलि ने शृणवेद की २१, सामवेद की १०००, यजुवेद की १०८ और अथर्ववेद की ९ शास्त्राओं का उल्लेख किया है।^{२०} इनमें प्रत्येक शास्त्रा स्वतन्त्र-रूप से वेद है।

शृणवेद—में अचाध्यों का संपह है उपा समस्त वेदिक-साहित्य में यद्य सबसे बड़ा है। इसकी केवल एक शावल-शास्त्रा ही इस समय उपलब्ध है। अन्य सभी वेदों में इसके मन्त्र संग्रहीत हैं। शृणवेद के विभाजन की दो प्रणाली हैं—अट्टक-अच्छाय-वर्ग तथा मण्डस-मूर्त्त-अनुवाक। उदनुसार यह आठ अट्टकों या दस मण्डलों में विभक्त है। पिछला विभाजन ऐतिहासिक है अतएव सभी आपूनिक-विद्वान् शृणवेद के उद्दरण देते समय हस्ती प्रणाली वा आध्यय लेते हैं। शृणवेद के प्रथम तथा ददम मण्डल अर्वाचीन हैं जिसे भाषा, देवता आदि के आधार पर सिद्ध किया जाता है। केवल ७५ मन्त्रों वा छोटवर सामवेद—

२०. महाभाष्य—पृष्ठ ४२ (बग्न०)—स्वश्वेतमप्यतुंगाराः स्वस्वरम् सामवेदः, एकविद्यात्प्राप्त्वा ब्रह्मवृक्षं नवशत्र्ययैषो भेदः।

संहिता के सभी मन्त्र शूरवेद से लिये गये हैं जिनमें अधिकारा नवप-मण्डल (सोमविषयक) के हैं। सामदेव के पूर्वाचिक और उत्तराचिक दो माग हैं जिनमें सभी मन्त्र समीत के योग्य हैं। साम-गान में सात स्वरों वा उपयोग होता है। यजुर्वेद के दो वेद हैं—शुश्ल एवं कृष्ण। शुश्ल-यजुर्वेद में केवल मन्त्रों वा संग्रह है विनियोग-वाक्यों वा नहीं। इसकी संहिता वाज्रसनेयी-संहिता वहलाती है (४० वृथ्याय) जिसकी दो प्रधान शाखायें—माध्यन्दिन (उत्तर भारत) और काष्ठ (दक्षिण) हैं। कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ-साथ विनियोग-वाक्य भी हैं। इसकी चार शाखायें प्राप्त हैं—तंत्रिरीय (अष्टव-प्रस्त-अनुशासक में विस्तृत), मंत्रायशी, काठक तथा बठ-वायिष्ठल संहितायें। दोनों यजुर्वेद प्रायः गता में हैं जो वैदिक-साहित्य का प्रथम मुद्दा है। अर्थवेद में विभिन्न-मन्त्र (मारण, घोटन आदि) संगृहीत हैं तथा यह बीस बार्डों में विस्तृत हैं जिनके भीतर व्रमण, प्रपाठक, अनुवाच, भूक्त और मन्त्र संनिविष्ट हैं। इसके बारह सौ मन्त्र शूरवेद से लिये हुए हैं।

इनमें प्रत्येक वेद के अपने-अपने वाक्यान्, वारण्यक और उपनिषद हैं जिनकी यागना करना चाही जाती है—

संहिता	वाक्यान्	वारण्यक	उपनिषद्
१. शूरवेद	{ १ ऐतरेय 2 कौपीतकि	{ १ ऐतरेय 2 शास्त्रपायन	{ १ ऐतरेय 2 कौपीतकि
२. सामदेव	{ १ लालैय (पञ्चविंशति) 2 तलदहार 3 आपेय आदि	{ १ तलदहार 2 छान्दोग्य	{ १ देव २ छान्दोग्य
३. शुश्ल यजुर्वेद	१ दावप्य (१०० वृथ्याय)	१ बृहदारण्यक	{ १ बृहदारण्यक २ इशा (संहिता में)
४. कृष्ण यजुर्वेद	{ १ तंत्रिरीय 2-३ मंत्रायशी और काठक (संहिता में)	{ १ तंत्रिरीय 2 मंत्रायशी या	{ १ तंत्रिरीय 2 मंत्री ३ श्रेत्रास्वनर ४ बठ
५. अष्टवेद	{ १. गोप्य		{ १. प्रस्त (पैण्डिता) २. मुष्टा (ती. ") ३. माण्डुक्य

१. इन सह मन्त्रों के विस्तृत विवेचन के लिए देखें—२० वहदेव व्याप्ताय, वैदिक शाहित्य और संस्कृत व्यवहा यात्राएँ, वैदिक-वारण्यक वा अधिष्ठाता । इस व्यान द्वारा सभी मन्त्रों की गाना भी असम्भव है ।

अभी तक य सभी ग्रन्थ पूर्णतया उपलब्ध नहीं हुए हैं तथापि इस पिपुलकाय साहित्य को देखकर हमें उस समय के ज्ञान एवं परिवर्तन पर आश्चर्य करना पڑता है।^१ इन सबों को ठीक ठीक समझने एवं उद्दनुसार कायं कलाप वा सचालन करने के लिए वेदाङ्ग ग्रन्थों की आवश्यकता होती है जो परीर के अङ्गों के उपाय ही वेद के अनिवाय भाग हैं। य अङ्ग है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छ द, ज्योतिष और निश्चक। इन सबों का विमाजन पाणिनि शिक्षा (४१-४२) में इस प्रकार है—

छ द पादो तु वेदस्य हस्ती वल्पोऽय पठयते ।

ज्योतिषामयन रामुनिष्ठत थोत्रमुच्चते ॥ ४१ ॥

शिक्षा घाण तु वेदस्य मुख व्याकरण स्मृतम् ।

तत्सात्साङ्गमधीत्यैव वद्धालोके महीयत ॥ ४२ ॥

(१) शिक्षा—स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण का नियम बतलाने वाली विद्या ही शिक्षा है। उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित इन हीनों स्वरों के उच्चारण किस प्रकार से हो, इसे बतलाना ही शिक्षा का प्रधान काय है। स्वरों के अल्प भेद से ही बड़े बड़े अन्य हो जाते हैं जैसा कि हम इंद्रशब्द के पूत्तान् से जानते हैं।^२ शिक्षा का अध्ययन एक प्रकार से आधुनिक ध्वनिविज्ञान (Phonology) का अध्ययन है जिसमें उच्चारण के उपाय वर्ण, स्वर, मात्रा (हस्त दीप्त अनुन) दुःख उच्चारण के नियम तथा सर्विकां अध्ययन होता है। उच्चारण के लिए पाणिनि शिक्षा पढ़ती है कि जिस प्रकार विविध अपने अच्छों को दौत में पकड़ती है, न तो दौत ही गड़ते हैं और न गिरने का ही डर है—सातुर्ण से उसी प्रकार अभरों का उच्चारण करें।^३ उस काल में ध्वनि विज्ञान की इस प्रकार की उन्नति किम चरित नहीं करती है।

१. मन्त्रो हीन स्वरो वर्णो वा मिष्याप्रदुल्लो न सप्तर्थमाद् ।

स वाच्चां यजमान हिनस्ति वथ्यान्तु स्वरनोऽपात्मा ॥ (पा० शि० ५२)

गुकाच पै इकाशुर वो इद्र नामा वे लिए यह बरारह थ। उदोने मात्र पड़ा—इन्द्रशब्द स्वर रक्षा। उनका अविप्राय था यि ह इद्र वे नामा (शब्द)^४ तुम उत्पन्न हो, बढ़ा। ऐसी दशा में त पुरुष समान (जन्म वा अग्र उत्तर) होना, रिन्द्र अमवदा उहोने पूर्ण पद के अनुसार स्वर रक्ष निया जो बहुत्रीहि समान में होता है। परन्तु अब हुआ—इद्र दशु (नामक) है विसरे इस नरह बृह ही मारा गया। रक्ष के लिए देरों—पा० सू० समासस्य (दा० २२), बहुत्रीहि प्रह्या पूर्वपद्म (दा० ११)।

२. व्याधी यथा इरेदम दश्राम्या न च धोडयेत् ।

मीता पननमेदाम्या तददर्ण प्रयान्तेत् ॥ २५ ॥

विज्ञान के प्राचीनतमें यथे प्रातिशास्य के रूप में मिलते हैं, जो सभी वेदों के भिन्न-भिन्न हैं जैसे—शौनक का ऋचप्रातिशास्य, कात्यायन का शुब्लयजुः-प्रातिशास्य, सामवेद का पृष्ठसूत्र, तैतिरीय-प्रातिशास्य तथा अथर्व-प्रातिशास्य आदि। इन सबों में सूत्र के रूप में उपर्यक्त विषय समझाये गये हैं। विज्ञान-ग्रन्थों में पाणिनि तथा याज्ञवल्क्य की विज्ञायें बहुत प्रसिद्ध हैं जो यत्तोक्तव्य हैं।

(२) कल्प—वैदिक-कर्मकाण्ड का विस्तार देखकर उसे सूत्रबद्ध करने की इच्छा से ही कल्प का अविर्भाव हुआ निन्हे हम कल्पसूत्र कहते हैं। इसका अर्थ है—वेद में विटित कर्मों की अपश व्यवस्थित कल्पना करनेवाला दास्त है। विज्ञान की भाँति ही ये प्रत्येक वेद और शास्त्र के लिए अलग-अलग हैं। ये तीन प्रकार के हैं—(क) थोड़ा सूत्र जिनमें शुनि-प्रतिपादित दर्श-पूर्णमास आदि विविध यज्ञों का विधान किया गया है। वस्तुतः कल्पसूत्रों के ये ही पुष्ट घंटा हैं। (ख) गृह्य-सूत्र जिनमें गृह्याग्नि में होनेवाले यज्ञों तथा विवाह, आदि आदि सस्कारों का वर्णन है। (ग) धर्मसूत्र जिनमें चारों यज्ञों पर्याआश्रयों के कर्त्तव्य निर्दिष्ट हैं। यनु आदि की स्मृतियों के ये ही खोत हैं तथा हिन्दुओं के कानून भी ये ही हैं। ऋग्वेद के दो थोड़ा और गृह्य-सूत्र हैं—आश्वलायन तथा शाङ्खायन। एक कौपीतक गृह्य-सूत्र भी प्रकाशित है किन्तु थोड़ा सूत्र प्राप्त नहीं हुआ है। शुद्ध यजुर्वेद के कात्यायन-थोड़ा सूत्र तथा पारस्कर-गृह्यसूत्र प्रमिद्ध हैं। शृण्य यजुर्वेद से सम्बद्ध कल्पसूत्र है—थोधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज तथा मानव। इनमें अधिकारा प्राप्त है। सामवेद के कल्पनूत्र हैं—आपेय-कल्पसूत्र, लाट्यायन, द्वाष्टायन तथा जैमिनीय-थोड़ा सूत्र; गोभिल, खदिर तथा जैमिनीय-गृह्यसूत्र। अथर्ववेद के वैतान-थोड़ा सूत्र तथा कौशिक-गृह्यसूत्र मिले हैं। धर्मसूत्रों में

१. दक्षारण का विद्यंपण करने के लिए आधुनिक-युग में यन्त्र बनाये हैं विन्तु उस युग में इनके अभाव में भी शिष्याकारों ने बर्जों के स्थान और यस ज्ञान लिये थे जो आज भी प्राप्त मान्य है। देखो—Dr. Siddheswar Varma, *Phonetic Observation of Ancient Hindus*—या Allen, *Phonetics in Ancient India* (Oxford University Press).

२. विज्ञुमित्र—वृत्तप्रातिशास्य की वर्गद्वयवृच्छि, पृ० १३—कल्पो वेदविदिनाना कर्मगामानुपूर्णेण कल्पनाशाखम्।

गोतम (साम), बोध-यन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी (कृष्ण पञ्च), वसिष्ठ और विष्णु (अहं) उल्लेखनीय हैं । कल्प का एवं चौथा प्रकार मूल्यसूत्र है जिसमें यज्ञवेदिका का निर्माण-प्रकार वर्णित है जिसे रेखागणित से पूरा सम्बन्ध है ।^१

(३) व्याकरण—वैदिक धार्हित्य में जानेवाले शब्दों का निर्माण, उनकी शुद्धता आदि का अध्ययन प्रवृत्ति और प्रत्यय के सम्बन्ध द्वारा व्याकरण ही करता है । व्याकरण का निर्देश तो अम्बद काल से ही मिलने लगता है किन्तु तेतिरीय-सहिता (६।४।३।३) ये व्याकरण की उत्पत्ति की कथा भी हुई है । इन्द्र के द्वारा वाणी व्याकृत (प्रकृति-प्रत्यय विच्छिन्न) हुई, अतएव इन्द्र ही आदि वैयाकरण हैं । किन्तु सम्प्रति इन्द्रमोमी नामक एक बोडाचार्य का ग्रन्थ ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्राप्त है, प्राचीनतम् इन्द्र का नहीं । व्याकरण के इह परिमादिक शब्द हमें गोपय व्रात्पण (१।२४) में भी मिलते हैं । इस प्रकार के छिटपुट व्याकरण यास्क के निहत्तवाल तक लिखे गये । व्याकरण के प्रथम परिपूर्ण आचार्य पाणिनि ने ही दस प्राचीन आचार्यों के नाम गिनाये हैं जिनमें तो यास्क से भी प्राचीन हैं । पाणिनि (समय ५०० ई० पू०) ने अपनी अष्टाध्यायी ने द्वारा तात्कालिक-भाषा को सम्पूर्ण विद्या । स्पान-स्पान पर वैदिक व्याकरण के विषय में भी कुछ संकेत किया किन्तु वह संकेतमात्र था । वस्तुतः वैदिक व्याकरण का सर्वांगीण व्याकरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ । पाणिनि के बलाके दूसरे प्रकार के कई वैयाकरण हुए हैं जिन्हुंने इनके नियमों से आगे बढ़कर लिखनेवाला कोई नहीं हुआ । पाणिनि (अष्टाध्यायी), वात्यायन (वातिः) तथा पतञ्जलि (महाभाष्य)—इन तीनों को मिलाकर 'विमूर्ति'-व्याकरण कहते हैं और इन आचार्यों की प्रामाणिकता भी उत्तरोत्तर अधिक है । इन्हें ही लेखक काशिका, शीमुदी आदि पीछे गये ।^२

(४) उन्नद—वैद वे मन्त्रा के उच्चारण के लिए उन्नदों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है वयोऽनि वैदिक-सहिताश्रो वा विद्यवाच्म भाग इदोवद है । मुख्य

१ धर्मसूत्रों के वर्णन वे लिए देये—Prof. P. V. Kane *History of Dharma Śāstra* Vol. I, Pp. 12-79 मूल सादित्य का अध्ययन सन्तोषजनक नहीं कुआ है । लेकिन इमका विस्तृत इतिहास लिया रहा है जो शोध ही प्रसारित होगा ।

२ व्याकरण यास्क के विभिन्न आचार्यों तथा ग्रन्थों से परि इस के लिये देये—Dr. S. K. Belvalkar, *Systems of Sanskrit Grammar* तथा युपिडिर मीमांसक, व्याकरण यास्क का इन्दिरास ।

छन्दो के नाम तो हमें सहिताओं और श्रावणों में ही मिलने लगते हैं जिससे इस अग की प्राचीनता सिद्ध होती है किन्तु इसका प्रतिनिधि ग्रन्थ है पिङ्गलाचार्यकृत छन्दसूत्र जिसके प्रथम चार अध्यायों में वैदिक छन्दों का वर्णन है। छन्द का वर्ण है बावरण अर्थात् जो शब्दों का बावरण हो। पीछे सामान्य रूप से वेदा के लिए 'छन्द' शब्द का प्रयोग होने लगा जैसा कि पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में बहुल 'दसि' का प्रयोग करते हैं। चूंकि वैदिक छन्दों में सामान्य नियम का अभाव है इसलिए व्याकरण के अनियमित तथा असमत प्रयोगों को छान्दस अध्यया आप प्रयोग कहते हैं। गुहरातु की गणना से रहित, केवल अक्षरों की गणना पर ही वैदिक छन्द आधारित हैं। यास्त्र ने सप्तम अध्याय में छन्दों का विवरण किया है जिसे हम देखेंगे। प्रधान वैदिक छन्द हैं—ग्रायत्री ($८+८+८$ अक्षर), उच्छिक् ($८+८+१२$), अनुष्टुप् (८ अक्षरों के चार चरण), बृहती ($८+८+१२+८$), पत्ति (८ अक्षरों के पांच पाद), त्रिष्टुप् (११ अक्षरों के चार पाद) तथा जगती (१२ अक्षरों के चार पाद)। इन छन्दों से ही लौकिक छन्दों का विकास हुआ है।^१

(५) ज्योतिष—यह के सम्बन्ध में कालों का विशिष्ट समय जानने के लिए ज्योतिष की नितान्त आवश्यकता है। दिन, रात, ऋतु, मास, नक्षत्र, वर्ष आदि का ज्ञान द्वारा ज्योतिष के हो ही नहीं सकता। यह जीवन से इतना सम्बद्ध है कि अनजाने ही हम 'रात' 'दिन'—जैसे ज्योतिष के ही शब्दों का प्रयोग करते हैं। वैदिक सहिताओं में इही काल के अनेक विमागों का वर्णन उपलब्ध होता है।^२ [ऋतुओं के नाम से वर्ष का बोध होता था जैसे—शरद षष्ठम् = भौ शरद् तत् (शौ वर्ष तत्)]। यहाँ तक कि हमारा सुपरिचित 'वर्ष' भी वर्षा ऋतु के नाम पर ही बना है। वेदाङ्ग ज्योतिष नामका ग्रन्थ ही इसका प्रतिनिधित्व करता है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें इन्होंको मैं शास्त्रात्मक ज्योतिषिया का वर्णन है। पीछे के ग्रन्थ भी ज्योतिषिया

१ अभी तक छन्द शास्त्र के ग्रन्थ बहुत कम पिछे है तथा अध्ययन भी नहीं। देवल आर्नेल्ड ने 'वैदिक छन्द' (Vedio Metre) नामक ग्रन्थ लिखा है।

२ गुहना कर—'सप्तमो भाद्रोऽनिमाद्यीत, ग्रीष्मे राजन्द आदीत, शरदि दैश्य व्यास्तीत' (तै० वा० ३४११) तथा 'प्रात् जुहोनि, साथ जुहोनि' (३४१२)।

के अमूल्य रत्न हैं जैसे—आर्यमटीय, सूयसिदान्त, लोदि । ज्योतिष का ही एक वग गणित है जिसे पूर्वकाल म बहुत ही समृद्ध किया गया था ।

(६) निरुक्त—वेदाङ्गो में चीथा स्थान पाने पर भी निरुक्त धूपनी कई विशेषतायें रखता है । इसमें मुख्यतया वैदिक शब्दों के अर्थ जानने की प्रक्रिया बतलाई जाती है जैसा कि सायण ने इसका लक्षण अपने ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में किया है—‘अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रूप से जहाँ पढ़ो का समूह वहाँ गया है वही निरुक्त है ।’^१ अर्थ ‘चूंकि’ शब्द के अन्तरङ्ग से सम्बन्ध रखता है अतएव यह वहना कदाचित् अनुचित न होगा कि अन्य वेदाङ्ग जहाँ वेद के बहिरङ्ग से ही सम्बन्ध रखते हैं, निरुक्त उसके अन्तरङ्ग से सम्बद्ध है । अर्थ वेदाङ्ग प्राय सूत्रों में है, इन्हुंनी निरुक्त भाष्य-शाली के गद्य में है जिससे अर्थावयव म वही सहायता मिलती है । निरुक्त इवयं निषेठु तामक वैदिक कोश का भाष्य है तथा यास्क वा लिखा हुआ है । निषेठु में शब्द के बल गिना दिये गये हैं जो प्राय अमरकोश की शाली में है । इन्हीं शब्दों पर यास्क ने अपना विशेष व्यान रखा है तथा उनमें अर्थं एक पहुँचने की चेष्टा की है । अर्थज्ञान के लिए वे उस शब्द से सम्बद्ध थानु तथा उसके अर्थ का आधार लेते हैं । यही निरुक्त की आधार-शाला है । निषेठु के पाँच अध्यायों की व्याख्या यास्क ने बारह अध्यायों में की है तथा पीछे दो अध्याय परिचित के रूप में जोड़े गये हैं । अर्थ वेदाङ्ग जिस प्रकार प्रत्येक वैदिक शास्त्र के अलग-अलग हैं उसी प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि निरुक्त भी अलग-अलग होंगे । प्रस्तुत-निरुक्त विस वेद का है—इस प्रश्न की विवेचना हम यथास्थान करेंगे ।

१. विशेष अनुदीदन के लिए देखें—मैकिन-द शास्त्र, ‘भारतीय-र्योतिष’, भूमिका अथ ‘भारतीय र्योतिष शास्त्र वा इन्हात्स’—ठिकर यदव सरकार द्वारा प्रकाशित ।

२. अर्थावतोये निरपश्चाद्या पदज्ञानं दग्धोक्तु तर्पित्वचम् ।

द्वितीय-परिच्छेद

निघण्टु तथा निरुक्त

[निघण्टु, वैदिक-शब्दों का सम्बह—निरुक्त उसी का भाष्य—निघण्टु और निरुक्त का ग्रिभाजन—नैघण्टुक काण्ड—पर्याय शब्दों का सम्प्रद—नैगम-काण्ड—कठिन शब्दों का संग्रह—दैवत काण्ड—देवताओं के नामों का संप्रह—निरुक्त का परिचय—शैली—विचित्र-शब्दों का प्रयोग—निघण्टु अतेक थे—उनका लक्षण—वर्तमान निघण्टु का रचयिता—निघण्टु और निरुक्त के रचयिता एक ही व्यक्ति नहीं थे—मिरोधी तर्क और खण्डन—निर्कर्प।]

ऊपर कहा जा चुका है कि निरुक्त में यास्क ने निघण्टु में गिनाये गये वैदिक शब्दों की व्याख्या की है। इस हिटि से निघण्टु बहुत महत्वपूर्ण है। ३० लक्षण संरूप निघण्टु के विषय में कहते हैं कि 'निघण्टु' की रचना कोश रचना के अभी तक के सभी ज्ञात प्रयासों में प्रथम है, भारत में तो यह कोश-साहित्य के आरम्भ का ही धोतक है।^१ साहित्य में जितने विस्तरे हुए शब्द हैं उन्हें एकत्र करके एक नियम से सजा देना उस प्राचीन-शाल के लिये नई ही बस्तु थी। यह सत्य है कि निघण्टु वैदिक शब्दों का पूर्ण कोश नहीं—इसमें किसी भी वेद के सारे शब्द गिनाये नहीं गये, तथादि बोद्ध-रचना के सात्त्वालिक सिद्धान्त को देखन पर उसे पूर्ण ही कहना पड़ेगा।

जिस निघण्टु पर यास्क ने भाष्य की है वह पौर अध्यायों में बोटा है। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड बहलात हैं और इनके शब्दों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त व द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में की है। निघण्टु के इन अध्यायों में कुल १३४१ शब्द परिणित हैं जिनमें केवल २३० शब्दों की ही व्याख्या यास्क ने इन अध्यायों में की है। इन १३४१ शब्दों में पर्यायवाची शब्द समूहीत हैं जैसे—पृथिवी के २१ पर्याय शब्द, ११ 'जलना' अर्थवाली कियाएं, १२ 'बहुत' के पर्याय आदि। इसकी रचना दीव अमर कोश की शैली में ही हुई है। यद्यपि इनमें कई शब्द वैदिक-

^१ *The Nighantu and the Nirukta*, p. 14.

माहित्य भर में नहीं आये हैं किन्तु वैदिक-वाद्यमण्ड का अधिकाश बिना हो जाने के कारण हम ऐसा नहीं बह सकते। समाधि यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि इतने शब्द ऐसे भी हैं जो निषष्टु में जिस अर्थ में गिनाये गये हैं, वेरों में उसी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। यही कारण है कि अब कट्टर पण्डितों को भी निषष्टु की प्रामाणिकता में सन्देह होने लगा है। प्रो॰ राजवाड़े^१ ने आचोलनात्मक इटि से निषष्टु पर विचार करते हुए लिखा है कि तीनों अध्यायों में वही उत्तर-वैदिक शब्द हैं। इनकी यज्ञना भी उन्होंने करा दी है। इन अध्यायों में सुवर्ण-शब्द प्रथमा एवं चतुर्थ में तथा किंवा-पद चतुर्मान-शाल के प्रथमपुरुष एवं चतुर्वर्ती में विदिष्ट हैं।

निषष्टु के चतुर्थ-अध्याय में तीन स्थान हैं जिनमें चतुर्मान ६२, ६४ तथा १३२ पद—अर्थात् युल २७८ पद हैं। ये दिसी के वर्णन मही, सभी शब्द स्वतन्त्र हैं। तीनों स्थानों की व्याख्या यास्त्र ने निष्क्रिय के चतुर्थ, पचम तथा षष्ठी अध्यायों में दी है। इस अध्याय को नैतिक या ऐक्षण्डिक-वाणि भी कहते हैं। इस वाणि के शब्द प्रायः सन्दिग्ध और कठिन हैं। ठा० येलवलहर बहते हैं—'निषष्टु यामा वैदिक-वाणि की सूची के चतुर्थ अध्याय को, जिस पर यास्त्र ने निष्क्रिय नाम की व्याख्या लिखी है, ऐक्षण्डिक बहते हैं वयोः कि इसमें अज्ञात या सन्दिग्ध यूलडाले २७८ शब्द विवाये गये हैं।'^२ इस वाणि की व्याख्या यास्त्रमें बरते हुए यास्त्र भी बहते हैं—'अथ यानि अनेकार्थाति ऐक्षण्डानि हानि अतोऽनुकूलविष्याम। अनवगतस्त्वार्दीश निषमान्। तद् ऐक्षण्डिकम्' इत्यानन्दाने' (नि० ४।१)। इसमें निष्पर्यं निष्क्रिय है यि ये नाम स्वतन्त्र हैं तथा अनेक अर्थ धारण बरते हैं, स्वयं दिसी के वर्णन मही। निष्टु याप ही साथ इमकी यनावट वा पता लगाना भी कठिन है इसलिये इन्हें ऐक्षण्डिक निषम (उदाहरण या प्रयोग) बहते हैं। इस वाणि के शब्द भिन्न भिन्न रूपों और विभिन्नों में हैं। यात्रयादे के अनुसार एक 'युल' को योइहर इस व्याख्या के गमी शब्द वैदिष्ट है।

निषष्टु वा पश्यम या अनिष्ट अध्याय देवत-वाणि के नाम गे विवरण है। इन्हें छ जगहों में चतुर्मान ३, १३, ६६, ३२, ३६ तथा ३१ पद हैं जो भिन्न भिन्न देवताओं के नाम हैं। ये भी वर्णिय नहीं, स्वतन्त्र हैं, किन्तु इनमें

१. *Daska's Nirukta*, p. 235.

२. युल याप्ति यन्देवता में प्रसारित निष्क्रिय अन्य १, ६० १३ पर यदृच्छा अन्यमें क्य हिन्दी-मनुकाद।

विशेषता यही है कि इन नामों के द्वारा देवनामों की स्तुति प्रधानतया की जाती है।^१ इन शब्दों के शब्दों की व्याख्या यास्क ने निष्ठक के सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक का है। एक एक शब्द की व्याख्या एक एक अध्याय में हुई है। चूंकि इन अध्यायों में यास्क को पर्याप्त स्थान मिला है अतएव देवनामों के विषय में यास्क ने पूर्ण प्रकाश ढाला है। निष्ठु की व्याख्या यद्यपि बारहवें अध्याय में समाप्त हो जाती है किन्तु बाद के किसी लेखक ने इसमें दो अध्याय परिशिष्ट के रूप में जोड़कर कुल छोड़ अध्याय बना दिये हैं। देवत-काण्ड के इस परिशिष्ट में देवनामों और यज्ञों के विषय में लिखा है तथा प्रसगत कतिपय दार्शनिक विषयों का भी विवेचन है। इसकी जैली भी निष्ठक से दिलकुल मिलनी-जुलती है। इस देवत-काण्ड पर ही वैदिक धर्म और सर्वकृति का इतिहास अवलम्बित है क्योंकि वैदिक देवता-बाद पर आलोचनात्मक-हस्ति से विचार करने वाला कोई भी ग्रन्थ निष्ठक से प्राचीन नहीं। यही हम किसी जाति का अपने धर्म के विषय में चिन्तन की प्रथम किरणें पाते हैं।

यास्क ने निष्ठक में निष्ठु के सभी शब्दों की व्याख्या नहीं की है— यह ऊरर की उक्ति से स्वरूप है। पर्यायवाची शब्दों वाले अध्यायों में तो पूरे पर्याप्ति के समूह (जैसे 'उदक' के १०० नामों) ने से केवल किसी एक (जैसे 'उदक') शब्द की व्याख्या करके ही आगे यढ़ जाते हैं। फिर भी यह सत्य है कि केवल निष्ठु के शब्दों का ही निवेचन उच्छीते नहीं किया, प्रसगत धार्मे हुए वितने ही अन्य शब्दों का भी निवेचन किया है जिनमें यहून से संस्कृत-भाषा (वैदिक नहीं) के भी शब्द हैं। डॉ सिद्धेश्वर वर्मा^२ की गणना के अनुसार निष्ठक में कुल १२९८ निवेचन हैं। जहाँ से निष्ठु के शब्दों की व्याख्या आरम्भ होती है उसके पूर्व यास्क ने अपने वास्त्र में प्रवेश करनेवालों के लिये वहूत ही विस्तृत भूमिका लिखी है। निष्ठु के प्रथम शब्द 'गो' की व्याख्या निष्ठक में द्वितीय अध्याय के द्वितीय-पाद से आरम्भ होती है। तथा उक ना अर्थ वर्णात् पूरा प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद केवल भूमिका ही है जिसमें पद क भेद, शब्दों का भातुज-सिदान्त, निष्ठक की उपयोगिता, निवेचन के नियम यादि विभिन्न उपयुक्त विषयों पर विचार किया गया है। यही दशा देवत-काण्ड के आरम्भ

१. तुल० तत् यानि नामपि प्राणान्यस्तुनीना देवनाना तदेवनमित्याच्छ्रौ (निं० ७।१)

२. Dr. Siddheswar Varma, *Etymologies of Yaska Preface*

में भी है। धैदिक देवताओं के नामों का निवेदन करने के पूर्व यास्तक सप्तम अध्याय में भूमिका के रूप में देवताओं के स्वरूप, भेद, स्वभाव आदि का विश्लेषण बर लेत है। भाष्य की भूमिका लिखने की इसी प्रणाली का अनुसरण पन्थजलि ने महाभाष्य में किया है (देखें—प्रस्तावित)।

हम यद्यौ सक्षेप में निरुक्त की दौली पर विचार करें। निरुक्त के किसी सब्द को लेकर यास्तक तुरन्त उसकी निरूपिता करत है जैसे—'नद्य वस्मात् ? नदनाः भवन्ति = सब्दवत्य ।' 'नदी' किस घातु से बना और क्यों उसे नदी हो गहने हैं ? उनर है—'नद' घातु से, जिसपा अर्थ है 'सब्द करना', 'नदी' बना है क्योंकि नदियाँ जोरों की आवाज करती हैं। अब यास्तक ऐसे सब्दों पा प्रयोग दिखाने के लिए या उस सौषधे ही इसी का उद्दरण दें देंगे अथवा उसकी भूमिका बौधते हुए इतिहास आदि पा आधर्य लेंगे तब अच्छा का उद्दरण देंगे। कभी कभी उस सब्द का वेबल निवेदन करके भी आगे बढ़ जात है। अस्तु, अच्छा का उद्दरण देने के बाद उसका अन्यथा इय ही दिना एवं एवं सब्द का प्रतिशब्द सरल सहजत में देते हैं। वीष्यों से सब्दों का निवेदन करने के लिए हह भी जाते हैं। प्रतिशब्द-अव्याख्या करने में य पश्चात्यन्त वर्तनेवाले सब्दों को (हि, तु, तु आदि) को छोड़ देते हैं। कभी कभी संदेहास्पद या विवादास्पद स्थानों में (जैसे—वेदम् त्रो वी सार्वं तता, घातु गिर्दा न आदि विषयों पर) प्रबल वास्तवार्थों की भूमि इट्टर भारतीय दारानिर्व परम्पराएँ के अनुसार, पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए, उम्रा सीधे युक्तियों से साझन करके अपन सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। अपन सिद्धांतों के उत्तेज के मध्य मिन्न-भिन्न विचारीयाल विद्वानों में भन भी उद्दृत करते जाते हैं^३ जिनमे मानुष पठना है यि यास्तक में सब्दों यंजानिन् भी बा मा निवार करती है। इसी प्रशाली संग्रहीय निरूप निरूप दी रखना हुई है।

महाभाष्य की दौली निरूप भी दौली से यूत तृष्ण मिलती है। दाना म ही छोट छाटे यात्रा पा तया समायरहित सब्दों का प्रयोग हुआ है। इन्तु

^१ निरुक्त २ २४ ।

^२ Cf. Clatterjee and Datta, *Introduction to Indian Philosophy*, I.

^३ ऐसे—२३ में 'दाना' को निरूप—'दाने भरने भरने भरने, दान भिन्न भिन्न भिन्न'

यास्क के शब्द बहुत स्थानों पर संदेहास्पद तथा आधुनिक सहृदात दे डिए चिल्हित हैं। कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग है जिन्हें पीछे दूसरे अथ में लिया गया। कम शब्द का मतलब है अथ जैसे 'गतिकर्मा धातु = गति अथवाला धातु। इसी तरह उपर्या का अथ है—समीप जाकर परीभा करना (दुर्गचाय) दखना आदि। पीछे चलकर इसका अथ तिरस्कार हो गया। सप्तम अध्याय में 'आ' और वादि वा अथ है कामना। इस प्रकार कितने ही शब्द अनात और अप्रत्यागित अर्थों में प्रयुक्त हैं इस दृष्टि से यास्क का अध्ययन अवधिकान (Semantics) के लिए बढ़ा ही उपयोगी है। इस पर हम आगे विश्लेषण करें। कहीं कहीं व भिन्न रूपाली कियाज्ञों का प्रयोग किसी दूसरे ही अथ में करते हैं जैसे—अप्रथयिष्यत् = अप्रययत्, उपपिवाद यिषेत् अथ वी इनी वही क्रिया के बल 'उपरादयेत् अथ के लिए दी गई है (सन् प्रत्यय का प्रयोग निश्चय ही अथ है।) बहुत स्थानों पर ऐसे प्रयोग हैं जो यास्क की असाध्यता के परिचायक हैं।

इस प्रकार की व्याख्या द्वारा यास्क ने निष्ठु की महत्ता प्राप्त बड़ा ही है क्योंकि यास्क ने द्वारा प्रदर्शित भीलिक्षता होने पर भी निरक्त की पृष्ठभूमि से निष्ठु ही है। इस स्थान पर इन दोनों के ऐतिहासिक-नक्ष वा विश्लेषण करना आवश्यक है।

यह बात निविदाद सत्य है कि निष्ठु अनेक थे। अत्येक में वैदिक शब्दों का कोई या जो सहज वरनेवाले वी इच्छा वे अनुसार अपनी विद्यापता लिये हुए था। वत्सान निष्ठु के बलावे यास्क ने स्वयं एक अप निष्ठु वा सतेत रिया है। यास्क में ११२० वे चतुर्थ से सिद्ध होता है कि निष्ठु अतिक्रावन् शब्द नहीं इन्हीं जातिवाचक हैं। वे कहते हैं कि त्रिसम निम्नलिखित भार वाले हों वही निष्ठु है—(१) समानाधक धातुओं का सप्तह (एनायन् समानाधमण्डो धानवः) (२) एक ही अधवाल भिन्न-शब्दों का गयह (एतादन्ति अस्य मत्तस्य नामधयानि) (३) कई अर्थों वाल शब्दों का सप्तह (एताशनामर्दनाम् दृश्यमिष्यानम्) और (४) द्वताश्रा में प्रथान तथा गोप नामों वा उप्रट (नैष्ठुर्मिद देवतागाम, प्राप्यायेन दृश्यम्, तदायर्द्येन मात्र निष्पत्ति नैष्ठुर्मिद एत्)। ग्रो० राजवाट तीमरे लगाए वो वत्सान निष्ठु हो एन पासर अनुमान बरते हैं कि इन लगाए से युक्त भी एक निष्ठु था। वस्तुत ऐरपदित वाच में ऐसे शब्दों वा शब्द हैं जो कई अधवाल भी हैं तथा कुछ व्याकरण की दृष्टि से अनाउ

सहारवाले भी हैं—दोनों का मिथण निषष्टु में उचित नहीं। वतंमान-निषष्टु के बेवल तीन ही स्पष्ट हैं जिनका इन चारों से मेल दिलाने का प्रयास दुर्गावायं ने अपनी निश्चिक वृत्ति में किया है। ऐक्षविदिक-बाण्ड के 'अवश्यगत सस्कार' वाले शब्द इस चतुर्लक्षणी में नहीं आते। अवश्य ही इन्हीं लक्षणों में युक्त अन्य निषष्टु भी रहे होंगे¹ जिनमें लक्षण के अव्याप्ति और अविद्यासिन्दोष नहीं होते। पुनः, 'ताम्यपि एके समामनन्ति' (७।१५) जिनने आचार्यं देवनाथों के ऐसे नामों की भी गणना (भपने निषष्टु में) कर सकते हैं। यह भी मिद बरता है जि निषष्टु बई थे।

यास्त ने निश्चक वे अरम्भ में ही निषष्टु वा बहुवचन में प्रयोग इरके सम्बन्ध इसी तथ्य की ओर निर्देश दिया है। वे शब्दों के घार भाग करते हैं—नाम, आत्मात, उपमय और निषान। वतंमान निषष्टु में तो बेवल नाम और आत्मात ही हैं, किंतु उपमयं थोर निषानों का संग्रह रखनेवाला भी निषष्टु था? आचार्यं भगवद्गत ने भी वही प्रमाणी से सिद्ध किया है² कि निषष्टु अनेक थे। निश्चक में जिन प्राचीन भावादों (निरक्तवारों) का नाम आया है वे सब निषष्टु की भी रचना बरनवास थे। अथवापरिग्रहि वा ४८ वीं परिग्रहि भी निषष्टु ही है जिसे य कौटुम्ब्य इति मानते हैं। बृहदेवता में यास्त के नाम के साध-साध्य दाहूणि वा भी उल्लेख वही बार हुआ है, इससे निश्चय ही उनका निषष्टु और निश्चक रहा होगा। पूना से उद्दीपने दाहूणि के निषष्टु को प्रशासित की जाया है।³ इस प्रकार वे १५-२० निषष्टुओं के होने वा अनुमान बरते हैं।

इस अध्ययन सहा निषष्टु को एक व्यक्ति की रचना नहीं मानते,⁴ जिन्हुं राजधानी ने इसका साप्रमाण एकत्र दिया है। इस द्वोहृष्ट ने हम्ल-लिपित प्रयोग वा आधार लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है जि निश्चक वा पूर्वपद्म (१-६ अध्याय) और उत्तरपद्म (७-१२) को प्रयोग हैं, दोनों की संस्कृती भी भिन्न है अतएव निषष्टु में भी वहसे देवन-वाण्ड नहीं रहा।

१. श्रो॒ राजवाद—॥३३॥३ निरुक्ता १-११।

२. देविक-बाल्य वा इन्द्रिय, यान १, मण्ड २।

३. ५० रामोदित् विदेशी, देविक-बाल्य, पृ० २१०।

४. 'The author is probably not the production of a single individual, but the result of the united efforts of a whole generation of pupils of several generations' "High, and Nlr. (14/32-5.)

होगा। यास्क ने स्वयं भी 'साक्षात्कृतघर्माण ऋषयो वमवु' (१२०) वाले सन्दर्भ के द्वारा भी निषष्टु के पारम्परिक रचयिताओं की ओर संकेत किया है।^१ इसमें सो कोई सन्देह नहीं कि प्रस्तुत निषष्टु-जैसा कोश प्रथ परम्परा से प्राप्त होकर एक बार किसी व्यक्ति के द्वारा सकलित हुआ है। जिस प्रकार पाणिनि की अष्टाघण्यी परम्परा से प्राप्त कुछ नियमों, शब्दों और परिभाषाओं को ग्रहण करने पर भी पाणिनि भी मौलिकता प्रदर्शित करती है उसी प्रकार निषष्टु के शब्दों का सकलन भी परम्परा से ही प्राप्त है जिन्हें कोई एक व्यक्ति ही इसे बतायान-रूप देने में समर्थ है। महाभारत (मोक्षधम-पदं, अध्याय ३४२, श्लोक ८६-८७) के अनुसार प्रजापति कर्त्यप इस निषष्टु के रचयिता हैं ।

फई विद्वान् महाभारत के उपर्युक्त श्लोकों को प्रमाण-कोटि में नहीं लाते तथा कहते हैं कि निष्कृत और निषष्टु दोनों के रचयिता यास्क ही हैं। स्वामी दयानन्द ने इस मत का प्रतिपादन किया और आचार्य-मगवदृत जी ने इसके लिए कई प्रमाण दिये हैं। इनका कथन है कि जितने निष्कृतकार हैं व निषष्टु के भी प्रणेता हैं। यास्क को लगाकर कुल चौदह निष्कृतकार हैं— कौपमन्त्र, औदुम्दरायण, वार्ष्यायिणि, वार्ष्यं, आप्रायण, शाकपूणि, और्णवाभ, तैटिकि, गालत्र, श्पीलाट्ठीवि, कौप्तुकि, कास्पय, १३ वाँ स्वयं यास्क और १४वाँ शाकपूणि का पुत्र कौरस्वय। इन सबों ने अपने-अपने निषष्टु बनाये और उसपर ही भाष्य लिखा। महर्षि-यास्क सबसे अन्त में हुए इसलिए इन्हें सबों से पर्याप्त सहायता मिली। निषष्टु को यास्क-रचित मानने के लिए निम्न-लिखित प्रमाण हैं—

(१) मधुसूदन सरस्वती अपने महिम्न-स्तोत्र की व्याख्या^२ में लिखते हैं—'एवं निषष्टवादपोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्यकपदायं पर्यायिशब्दात्मका निष्कृतमूर्ता एव। तत्रापि निषष्टुसञ्ज्ञकं पञ्चाद्यायात्मको भग्नो भग्नता यास्केनैव कृत्।'^३ अर्थात् पांच व्याख्यायों वाला निषष्टु यास्क का ही बनाया हुआ है।

(२) सायणाचार्य ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में बहते हैं—'पञ्चाद्याय-

१. Shold.—*The Nrukta*, p. 6.

२. इनमें से कुछ प्रमाणों के लिए मैं गुरुमण्डल-ग्रन्थमाला से प्रदायित निरुक्त माग १ के भूमिका लेखक के प्रति द्वन्द्व हूँ।

३. श्लोक ७—प्रयो छाद्यू योगः, इस पर उन्होंने बड़ी विस्तृत टीका लिया है।

तृतीय-परिच्छेद

निरुक्त की विषय-वस्तु

[क] प्रथम अध्याय

[प्रथम अध्याय—इससा तुलना—निषण्टु की रूपरेखा, आन्तरिक तथा बाह्य—पद भेद—नाम और आरंभात—उपसर्ग—निपात और उनरे भेद—शाद नित्य है या अनित्य ?—पतञ्जलि—स्फोटवाद—मीमांसकों द्वारा युक्ति—प्लेने—भाषा म गनुण्या और देवताभा का ऐक्य—भाषा विकार—शब्दों का धातुन सिद्धान्त—शाकटायन और गार्य—गार्य का पूर्वपक्ष—यास्त्र ये उत्तर—सभी शादों को धातुज भाजने के कुरुक्षुल—सिद्धान्त को विशेषता—निरुक्त की उपयोगिता—मन्त्र निरर्थक हैं या साथर ?—यीस या पूर्वपक्ष और यास्त्र का उत्तर ।]

इस परिच्छेद म हम निरुत व अतरङ्ग मान का अर्थात् उत्तरी विषय वस्तु का आलोचनात्मक अध्ययन करें। मुविषा व इष प्रस्तुत मस्तरण के अध्यायों (प्रथम व द्वितीय मस्तर) का ही हम अर्थे अध्ययन तप मे रखें। आग चढ़ कर हम यादग वि गम्भूग निरुत का परिषेय वान व इष इन अध्यायों का ही अध्ययन पर्याप्त है।

चकि निरुक्त व द्वितीय अध्याय व द्वितीय पाठ ग निषण्टु के शब्दों का व्याख्यान आरम्भ होता है अनेक तत्त्व एवं निरुत की भूमिका ही वर्णित है—पद हम ऊपर देख आय है। इष व इष अध्ययक वस्तुओं का महत्व वर्ते यादों न वरन् निषिद्धान्त मे पर्यात् प्रवाहा टाला है और वह भी एवं प्रवाह वि कुछ और जानने को चेता ही नहीं। निरुत वा सार्वत्र एकी उमड़ा आपार धारि र्मो निषिद्धान्त ना वर्णित है। निरुत व प्रथम अध्याय की तुलना संपूर्ण-गान्धिय क उच्चरोनि क भाष्यों की भूमिका ग वी जा गर्ना है। व भविष्याव है—मन्त्रभाष्य की परमाणुत्रिव भविष्या एक्षुण्डाय की गारीब भीमिदा शाश्वतभविष्या शामनव वो वृद्धामूलभाष्य भूमिका (व० ग० १०० ११११) और गारीब की वैभाव भूमिकाये ।^१ त्रिप्रवाह

^१ दिव्य—सदा का —३—कान्दभूमिकामप्त है, मन्त्रान्त्र ५० वह व दरामाद ।

इन सबों में अपने ग्रन्थ का महत्व, विरोधियों का खड़न, सारभूत-सिद्धान्त आदि का प्रनिपादन है उसी प्रकार निष्ठक का प्रथम अध्याय भी इन सब बातों पर विचार करता है। यही नहीं 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका की तरह यह अपने युग की निश्चिक विषयक मान्यताओं पर भी प्रवाह डालता है।

अस्तु, प्रथम अध्याय में इन बातों का वर्णन है ये हैं—(१) निष्ठु
फा लक्षण (२) पदा के भेद, (३) भाव के विकार, (४) शब्दों का
धातुज सिद्धान्त और (५) निष्ठक की उपयोगिता। अब हम जमश इन पर
विचार करें।

निष्ठक का आरम्भ यास्क ने 'समानाय समानात' से किया है।
समानाय वा साधारण अर्थ है सप्रह। पठञ्जलि अपने महाभाष्य में 'अइउण्'
आदि १४ शिवभूतों को अक्षर समानाय कहते हैं। वंदिक सहिताओं को
आनाय कहते हैं, इस प्रकार 'सम्' उपमर्ग के प्रयोग से अर्थ होगा वंदिक-
सहिताओं (या माद्वित्य) से लेकर दिया गया सप्रह, चाहे वह अक्षरों का
हो या शब्दों का हो। यही वाच्य निष्ठु और निष्ठक की अविच्छिन्नता का
दोनक है इन्तु इससे हम यह निष्ठकें नहीं निष्ठात सचते कि दोनों यास्क
दे ही चाहते हैं, क्योंकि आओ यास्क कहत है—'इमं समानाय 'निष्ठु'
'माचयते' अर्थात् इस समानाय को लोग 'निष्ठु' बढ़कर पुकारते हैं।
इससे पता लगता है कि निष्ठु उस समय तक प्रचलित शब्द था। 'निष्ठु'
का अनुवात जनिन अर्थ है 'अर्थ वा दोनक', ऐदो से चूनपर जमा किया हुआ',
या एक साथ कहा गया।'

निष्ठु की आर्तिक रूप रैखा बनाकर यास्क इसकी बाह्य रूप रैखा
अध्याय के अन्त म (११२०) देते हैं। यह स्वाधारण तर्कशास्त्र भी क्सीटी पर
दसा जाने लायक नहीं किंतु निष्ठु के विभायों का वर्णन इसमें अत्यन्त
स्पष्टता से किया गया है। निष्ठु में पाँच विभाग होने चाहिये—(१)
समानार्थक धातुओं वा सप्रह (२) एक ही अर्थवाल मिल मिल शब्दों का
सप्रह, (३) एक अर्थों वाले शब्दों वा सप्रह, (४) देवनामों के मुख्यनामों

१ 'लिरिकल बैलेड्स' (Lyrical Ballads) में लोडरित और बड़सर्थे की
कवितायें समृद्धी हैं। इससे भूमिका बड़सर्थे ने लिखे था जो रोमानिक-साहित्य की
प्रतिष्ठियों पर प्रकाश दाना है अन्त प्रशमार्द इसे दें। रोमानिक-युग की बरबिल
(Lible of the Romantic Age) बहन है। प्रकाशनकाल १८१८ ई०।

का संग्रह तथा (५) देवताओं के गोण नामों का संग्रह। जिसमें केवल देवताओं के मुख्य नामों का संग्रह हो उसे 'देवत' कहते हैं।

इसके बाद पद-भेदों का वर्णन होता है। पद चार प्रकार के हैं—नाम, आह्यात, उपसर्ग और निपात। इन्हीं चारों भेदों को विषयकरणों ने भी स्वीकार किया है भले ही पद के नाम पर पाणिनि ने दो ही भेद—सुवन्त और तिङ्गन्त—माने हैं। निरक्त के वाक्यों से मालूम पड़ता है कि ये भेद यास्क के समय काफी प्रचलित थे। नाम और आह्यात के लक्षणों में यास्क ने कमश सत्त्व और भाव की चर्चा की है। दोनों शब्दों की उत्तरि समानार्थक धातुओं (अस् और भू) से हुई है, अतएव यह दिखलाने की चेष्टा हुई है कि नाम और आह्यात में मौलिक-अन्तर नहीं, केवल अवस्था (degree) का अन्तर है। जब तक त्रिया का कम चल रहा है तब तक उसे 'भाव' ही कहते हैं किन्तु पूर्ण हो जाने पर त्रिया 'सत्त्व' नाम से पुकारी जाती है। पढ़ने का काम होते समय तो हम 'पठति' कहते हैं किन्तु काम के अन्त में 'पाठ' नाम रखते हैं। पाणिनि के व्याकरण में त्रिया वीं दोनों ही अवस्थाओं को 'भाव' कहते हैं जिसके स्वतः दो भेद हो जाते हैं—साध्यायस्थापन-भाव जिसे निरक्तकार 'भाव' कहते हैं, तथा सिद्धावस्थापन-भाव जिसे निरक्तकार 'सत्त्व' कहते हैं। साहित्य-यास्क में केवल अन्तिम-अवस्था को ही भाव कहते हैं—भाव, अन्तिमः विवार। यास्क के अनुसार आह्यात और नाम के उदाहरण कमश—'गच्छति' और 'गति.' हैं।

उपसर्गों और निपातों का निर्दिष्ट लक्षण न तो यास्क ही दे पाये हैं और न पाणिनि ही। दोनों ने ही 'प्रतिपद-पाठ' करना ही सुलभ समझा है। उपसर्ग पाणिनि के मत से २२ और यास्क के मन से २० हैं क्योंकि पाणिनि ने निस्, निर् और दुस्, दुर् को अलग-अलग माना है। पाणिनि के मत से उपसर्ग योतक ही हैं अकेले उनका कोई अर्थ नहीं।^१ यास्क ने शाकटायन का मठ चल्लेत करके इतना अवश्य बिया है कि उपसर्गों के लगने से नाम और आह्यात में अर्थ का एवा परिवर्तन होता है—इससे स्पष्ट कर दिया है। यह सन्दर्भ उपसर्गों के अर्थ और इतिहास की टृप्टि से बहुत महसूसपूर्ण है।

१. शुल्ना करे—'उपसर्गः त्रियायोगे' (पा० सू० १४१५९) तथा 'न निर्देशः उपसर्गः अर्थात् निरादुरिति शाकटायनः तद य एष पदार्थः प्रादुरिमे, तपामाल्य-तयोर्यविकरणम्' (नि० १५)। ऋग्वेद प्रातिशाल्य में भी २० द्वा उपसर्ग गिनाये गये हैं (१३६)।

२. देखें—भूमिका का एष परिच्छेद।

निपातो के तीन भेद माने गये हैं।—उपमायंक, कर्मोपसंग्रह और पदपूरण। इन सबों के उदाहरण वैदिक-साहित्य से, विशेषतया ऋग्वेद से, दिये गये हैं। इन भेदों का कोई नियमित विभाय नहीं, उपमायंक निपात पदपूरण भी हो सकते हैं, कर्मोपसंग्रह भी, बथवा किसी अन्य अर्थ में ही प्रयुक्त हो सकते हैं। उनका मुख्य अथ देखकर ही निर्धारण किया जाता है कि अमुक शब्द क्या है।^१ कर्मोपसंग्रह का लक्षण बहुत कुछ व्यस्त है। येरा विचार है कि किसी लिपिकार के प्रमादवश कुछ शब्द इसमें बढ़ा दिये गये हैं जिसे मैंने मूल निष्ठन की टीका में स्पष्ट भी किया है। ३० गुणे इसका अनुवाद करते हैं—‘जिसके आगमन (अर्थात् प्रयोग) से अर्थों (विचारों) की पृथक्ता, सचमुच जानी जाय, किन्तु जो पृथक् स्थान या स्वतन्त्र उल्लेख के कारण साधारण गणना की तरह न हो, वही कर्मोपसंग्रह, अर्थात् अर्थों या विचारों का योग करना या एकत्रीकरण, कहलाता है।’^२ गुणे की आलोचना ३० लक्षण स्वरूप और प्रो० राजवाडे ने की है। सम्मवत् ३० संरूप तथ्य के अधिक निकट पहुँच सके हैं—‘जिसके योग से विचारों का वस्तुत पार्यवय जानें किन्तु गणना के समान का (पार्यवय) नहीं (अर्थात् अलग-अलग कर देने से होनेवाला पार्यवय) यही कर्मोपसंग्रह (Conjunction) है।’^३ याहक ने कुल चौदह निपात गिनाये हैं और प्रत्येक की पुष्टि प्रयोग द्वारा की है। पदपूरण का अर्थ है निरर्थक शब्द जो छन्द की पूर्ति के लिए आते हैं। इस स्थान पर याहक ने भद्र को अपिताक्षर और पथ को मिनाक्षर पार्य कहा है। गथ में यदि पदपूरण के दाद आये तो उन्हें वार्षयपूरण कहा जाता है।

१. कुरु० प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति=किसी वस्तु का नाम उसके प्रधान अर्थों द्वारा देखकर देते हैं। ऐसे ही, प्रधान शब्द या अर्थ देख कर ही किसी शब्द का निर्धारण होता है।

२. ‘Owing to whose advent (i.e., i.e.) separateness of the अर्थ (senses or ideas) is indeed known, but not as in simple enumeration owing to separate position or independent mention, that is कर्मोपसंग्रह, i.e., adding or putting together of the senses or ideas.’ *Indian Antiquary*, Vol xliv p 159

३. ‘That by whose addition separateness of notions is indeed recognized, but not as an enumerative one, i.e. on account of a separateness by isolation, is a Conjunction.’ *The Nirukta, English Translation by Dr. Sarup*

प्रात्मण-प्रत्यो में ये अधिकृता से पाये जाते हैं। निपातों के विषय में पाणिनि के मूल हैं—प्राप्तिप्रवराजिपाता, चाटयोजस्त्वे, प्राटय (११४५६-५८) ।

पद-भेद के सम्बन्ध में यास्क एक विवाद उठाते हैं कि शब्द नित्य है या अनित्य। यह विवाद केवल निरुक्त में ही नहीं, व्याकरण, न्याय तथा पूर्व-मीमांसा के प्रत्यो में भी उठाया गया है। किन्तु इनमें से प्रत्येक अपने लिंगान्तर पर अटल है। भिन्न-भिन्न तरफ़ देने पर भी वेयाकरण और मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, निष्ठकार (ओदुम्बरायण) और नेयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं। ओदुम्बरायण का कहना है कि शब्दों की सत्ता केवल इन्द्रियों तक ही है अर्थात् ये अनित्य (अस्थायी) हैं। ऐसा मानने पर पदों का भेद या प्रकृति-प्रकृत्य का स्थोग भी असिद्ध हो जायगा क्योंकि भिन्न-भिन्न वालों में उत्पन्न अक्षरों का योग असम्भव है। पतञ्जलि भी ऐसी ही युक्ति से कार्य-शब्द की व्याख्या करते हैं—शब्द अलग-अलग व्यनियों से ही बनता है। हम दो व्यनियों एक साथ उत्पन्न नहीं कर सकते। ‘गो’ शब्द में गार, औदार और विसर्ग के उच्चारण भिन्न-भिन्न वालों में होते हैं। इसलिए व्यनियों निश्चित-रूप से नाशकान् हैं।

अनित्य होने पर भी शब्दों से ही वस्तुओं का नामकरण होता है क्योंकि ये व्यापक हैं तथा वस्तु-बोध कराने के अन्य गभी साधनों की अपेक्षा सरलतर हैं। यदि हम वस्तुओं को दिखाकर या हाथ-पैर से दर्शारा करके उन वस्तुओं का बोध करावें तो कठिनाई होगी किन्तु शब्दों के द्वारा बोध कराने में कोई भी कठिनाई नहीं। लौकिक-व्यवहार से लिए ही शब्दों का आधार लिया जाता है। पतञ्जलि ने ‘सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे’ वातिक पर विचार करते हुए कहा है कि शब्द और उसके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु का सम्बन्ध नित्य है। शब्दों की वस्तुबोधक-शक्ति तो स्वाभाविक है इसी की उत्पन्न वीं ही हूई नहीं।^१ वस्तुऐं भी नित्य ही हैं, सकैप में यह कहे कि शब्द, अर्थ और उन दोनों का सम्बन्ध—ये सभी सिद्ध (नित्य) हैं। यह नित्यता हमें लौकिक-व्यवहार से ज्ञात होती है। वस्तुओं को देखकर लोग उनके बोध के लिए शब्द पा प्रयोग करते हैं, शब्द-रचना में परिवर्तन नहीं करना पड़ता। परिवर्तन तो केवल अनित्य वस्तुओं की ही रचना पर वड़ता है, जैसे घड़े की जहरत होने पर हमें कुम्भकार के पर जाकर बढ़ना पड़ता है—घड़ा बनाओ, मुझे जहरत है।^२ शब्द का प्रयोग करने के लिए हम वेयाकरण से पास जापार

कभी नहीं कहते हैं कि शब्द बनाइये, हमें प्रयोग करना है। लोग वस्तुओं को देखते हैं तथा उनका व्योग कराने के लिए शब्द का प्रयोग आरम्भ कर देते हैं। यही भाषा की उत्पत्ति का सिद्धांत है।^१

वैद्यावरण सोग अथवोष कराने के लिए 'स्फोट' स्वीकार करते हैं। कोई शब्द कई अक्षरों से बनता है जो व्याग्रिक होने के कारण न तो मिलकर ही अथवोष करा सकते हैं और न अलग अलग ही। इसलिए उहे अथ का स्फोटक (प्रकाशक) स्फोट स्वीकार करना पड़ता है।^२ इसे ही भरूँहरि ने नित्य शब्द बढ़ा कहा है जिसका विवर^३ रूप ही सप्ताह वे समस्त व्यवहार है।^४ इस स्फोट (नित्य शब्द) का ही प्रतिनिधित्व परनेवाला एक काय—(कामचलाऊ) शब्द होता है जिसकी सत्ता केवल व्यावहारिक दशा (Practical world) में है, पारमायित्या या स्तविक दशा (World of Reality या Transcendental world) में नहीं। इसे ही यात्क भी स्वीकार करते हैं। साराज यह है कि शब्द परमायत नित्य है किन्तु व्यवहारत काय। पाली में लिखे बोढ़प्रयोग में भी 'सह' (शब्द) के स्वभाव का विचार इष्टा पदा है जो स्फोट से मिलता जुलता है। इससे निरुप निकलता है कि स्फोटकाद का सिद्धांत पाहक और बुद्धि समय प्रचलित था।^५

मीमांसा दशन में दूसरी युक्तियों से श ८ वीं नित्यता स्वीकार की गई

१. Bhāvudarkar, Wilson Philological Lectures p. 291

२. त्रुलनीय—कि वर्ण समस्ता व्यक्ता वाऽप्रत्यय अनयन्ति । नाथ, वर्णना व्याग्रिकाना समूहासम्भवाद् । नान्त्य, व्यत्त्ववर्णेभ्योऽप्रत्ययानम्भवाद् । न च व्याससमा साम्यामाय प्रकार समस्तीति । तरमाद्वाणीना वाचकत्वानुपरत्ति वडलादर्थप्रतिपत्ति स होग । सर्वैदर्थीनमग्रह (अन्यजूरस्त्वरण), १३।१३२ ।

३. अतत्स्वनोऽन्यथा प्रया विवरै इत्युदारित (वेदान्तसार)—ऊरा धान जो बरुओं के त चन न बदलने १८ भी उनके परिचर्त्ता वो मरीति करते वह विवरै है ।

४. देखिये वाम्यपरोय १।—अनादिनिधन समूह द्वादशवर यदक्षरम् ।

विवरैन्यथमावेन अक्षिया चग्नो यत ॥

५. स्फोटवाद वे विवेचन निमित्तिः अथो में हुए है—पनविदि ना महामाय, भरूँहरि वा व्याक्यपदीय (काण्ड १), मात्प्रवाचार्य वा सर्वेद्वैनमप्रह (पाणिनिन्द्रिन), बोधमट्ट का वेदारण भूग, नामेह वा स्वुमनूण और स्फोटवाद, P C Chakravarty—Philosophy of Sanskrit Gramenur द्वारा डॉ. करित्तदेव दिवदी वा प्रसन्न (Tesis)—अपेक्षान और व्याकराद्वैन ।

है।^१ शब्दों का उच्चारण शब्दमात्र के लिए नहीं, प्रत्युत अर्थवोध के लिए होता है। यदि शब्द नश्वर हो तो अर्थवोध हो ही नहीं सकता। शब्दों का सार्वजनिक अनुभव होता है। एक ही शब्द का वई बार प्रयोग होने पर उसकी समानता या स्थिरता का भी अनुभव हम करते हैं। इसलिए शब्द नित्य हैं। डा० लक्ष्मण स्वरूप ने औदृष्टिरायण के मत की तुलना प्लेटो के शब्द-क्षणिकवाद से की है। प्लेटो ने अपनी पूस्तक क्रेटिलस (*Cratylus*) में कहा है—‘क्रेटिलस। हम तकनीक यह भी नहीं कह सकते कि वस्तुत जान है, जब कि सभी वस्तुएँ परिवर्तन की दशा में हैं और कोई भी चीज स्थिर नहीं है।’^२ सारांश यही है कि औदृष्टिरायण शब्द को नित्य नहीं मानते जब कि यास्क कार्य (ब्यवहार) के लिए शब्द की नित्यता ह्योकार करते हैं जो स्फोटवाद वीर ओर का सकेत है।

इस विचार के ही प्रसंग में यास्क एक आश्चर्यजनक बात बतलाते हैं कि किसी वस्तु का बोध जिस नाम से मनुष्यों में होता है उसी नाम से देवता लोग भी उन्हें समझते हैं। इन वाकेयों में मनुष्य की प्रधानता दिल्लाई गई है; इससे पता लगता है कि यास्क भाषा की उत्पत्ति को देवी नहीं मानते।^३ क्योंकि वा भी मन हम देख चुके हैं। इसके विपरीत प्लेटो कहते हैं कि देवताओं के द्वारा दिया गया नाम ही उचित और स्वाभाविक है। देवताओं और मनुष्यों के बीच शब्द साम्य होने पर भी मनुष्यों का ज्ञान अनित्य है इसलिए कर्म वा सम्प्रादन करनेवाले मन्त्र ऐदों में उल्लिखित हैं। यास्क ने जिस दींगी में—‘पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिमन्त्रो षेदे’ लिखा है उसे सूत्र-दींगी कह सकते हैं। यास्क के समय सूत्रात्मक-दींगी का प्रचलन आरम्भ हो गया था।

इसके बाद यास्क ने ‘भाव’ वा दार्शनिक विश्लेषण दिया है। किया की उत्पत्ति से लेकर फलप्राप्ति तक जो अवस्थायें (Stages) आती है उन्हें भाव का विकार कहा जाता है। ये छः हैं—उत्पत्ति, सत्ता, परिणाम, वृद्धि,

१. जै० सू० १।१।१२-२३, Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, Vol. II, p. 390

२. ‘Nor can we reasonably say, Cratylus, that there is knowledge at all, if everything is in a state of transition and there is nothing abiding.’ Jowett *Dialogues of Plato*, Vol I, pp. 387-8.

३. देखिये—भूमिका वा सम्परिच्छेद।

अपक्षय और विनाश ।^१ इन सबों को अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। भाव के विकारों का यह व्यत्यन्तिक विलेपण है जोकि दूसरे स्थानों में केवल तीन ही विकार माने गये हैं जैसे—‘यतो वा इमानि भूवानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसुविशन्ति’ (ठै० उ० २१)। सद्गुराचार्य ने प्रलभ्यून वे ‘जन्मायस्य यठ’ (११६२) सूत्र पर साध्य लिखते हुए जन्म, स्थिति और नाश के अन्तर्गत ही सबों का अन्तर्भव किया है। यहाँ इन छः विकारों को तो वे संसार की स्थिति में ही समझते हैं ।^२

चतुर्थ-गाद में एक ऐसे विषय पर विवाद उठाया गया है जो निहत्त की ओर आधुनिक भाषा-विज्ञान की भी आधार-धिला है। वह है—शब्दों का घातुज-सिद्धान्त। इसका अभिप्राय है कि क्या सभी नाम धातुओं से दने होते हैं या स्वतः निष्ठम होते हैं। यास्क इस मठ के पोषक हैं कि सभी शब्द आख्यातज्ञ हैं, जिसे सिद्ध करने के लिए ही सम्पूर्ण निरुक्त की रचना हुई है। अस्तु, इस विवाद में दो पक्ष हैं—एक पक्ष बहुता है कि सभी नाम आख्यातों से उत्पन्न हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं शास्त्रायन नामक वैद्याकरण और सभी निहत्तकार। हूसरों ओर गायं तथा कुछ वैद्याकरण इसे हुए हैं कि सभी नाम आख्यातज्ञ नहीं हैं ।^३

शास्त्रायन बहुत पुराने और प्रतिद्वंद्व वैद्याकरण हैं जोकि इतना उल्लेख श्रूदेद-प्रातिशास्य, वाज्जनेविं-प्रातिशाहृ, अवदं-प्रातिशाह्य तथा पाणिनि-सूत्रों में भी हुआ है। इनके सिद्धान्त के अनुसार ही उणादि-सूत्रों की रचना हुई है जिसकी मूलभित्ति यही है कि सभी शब्दों की व्युत्पत्ति ही सकती है। सम्भव है कि शास्त्रायन ने उणादि-सूत्रों की रचना प्रारम्भ कर दी हो जिसका

१. ऋत्यरित्यत्त्वापरिणामहृदित्या विनाशय इति प्रकाराः ।

भावस्त जन्मस्थितिसङ्गोन्ति विकासदेत्ती रहनु वट् वदन्ति ॥

२. तुल० शौ० भा० ११६२—यास्कत्प्रियडित्यानो तु 'जायतेप्रिय' इत्यादाना गद्ये तेऽन्य जगा रितिकाले सम्मान्यमानत्वात् मूलकारणात् उत्पत्तिस्थितिनाशः यगतो न गृहीतः शुरियादहृयेत् ।

३. तुल० महामात्य शौ१८ प८,

'वाहुदक्ष प्रहृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसनुचयनादपि लेषाम् ।

पादेस्तेविपेश तदुक्त नैगमस्तिव्यवं हि शुमापु ॥ १ ॥

नाम च धातुव्याप्ति निहत्ते व्यासरो शुद्धरक्ष च तोकम् ।

दत्र विद्येष्वप्त्यसमुत्त प्रस्यवतः प्रहृतेष्व ददृष्टम् ॥ २ ॥'

आधुनिक-रूप बहुत पीछे दिया गया।^१ डा० वेलवलकर^२ उणादि-सूत्रों को पाणिनि की ही कृति मानते हैं किन्तु यह भ्रान्त-धारणा है। उनका यह तर्क कि पाणिनि की सब्दावली (जैसे हस्त, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, लोप, सम्प्रसारण और अभ्यास) का प्रयोग उणादि-सूत्र में है, यह निष्कर्ष नहीं निकलने देता है क्योंकि इन सज्जाओं का प्रयोग बहुत पहले से ही होने लगा था, स्वयं यास्त्र ने ही इनमें से कुछ का प्रयोग किया है। गायं भी प्राचीन व्याकरण ही है जिनका उल्लेख यास्त्र और पाणिनि करते हैं। इनके मत से सहमति रखनेवाले पाणिनि और पतञ्जलि हैं जो उणादि को अव्युत्पन्न मानते हैं। दुर्गचार्य ने गायं को सामवेद का पद-पाठकार माना है।

गायं का बहना है कि जिन शब्दों की व्युत्पत्ति हम व्याकरण की आज्ञा मानकर कर सकें, अर्थात् जब शब्द में विद्यमान धातु का अर्थ शब्द के अर्थ से सामञ्जस्य रखता हो, उसकी रक्ता भी हम व्याकरण के द्वारा सिद्ध कर सकें तभी किसी शब्द को व्युत्पन्न मानने का हमें अधिकार है, अन्यथा शब्द अव्युत्पन्न है, जैसे—गो, अश्व, पुरुष, हस्ती। इस प्रकार से व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न शब्दों की विभाजन-रेखा बनाकर अपने पथ दी गुटि के लिए निम्नलिखित प्रमाण देने हैं।^३

(१) यदि सभी नाम आङ्गात से उत्पन्न होने तो नाम में विद्यमान आङ्गात से जिन-जिन वस्तुओं का सम्बन्ध होता उन सबों का एक ही तरह वा नाम होता, जैसे 'अश्व' में अश्व-धातु है जिसका अर्थ है तथ्य करना; तो जो-जो भीजों (सवारियों) रास्ता तथ्य करती उन सभी को 'अश्व' ही कहा जाना। इसके उत्तर में यास्त्र कहते हैं कि यह देखने में आता है कि एक क्रिया से सम्बद्ध सभी भीजों या व्यक्तियों में से कुछ को तो किया से सम्बन्ध-बताने वाला नाम दे देते हैं, कुछ को नहीं। √तथा का अर्थ है लकड़ी काटना,, अब सभी लकड़ी काटनेवालों वो 'तथा' न बहकर बढ़ाई को ही कहते हैं, उसी

१. उणादि के कुछ सूत्र निश्चित रूप से पाणिनि के पूर्व लिखे जा नुकेथे। पाणिनि ने अपने 'तितुप्रथसिमुमरकसेतु च' (अ०२१९) सूत्र में उणादि के कुछ प्राच्ययों का उल्लेख किया है। यह सिद्ध करता है कि क्रम से क्रम ये भूत तो पाणिनि के पूर्व हा से थे। पर भी पाणिनि को इष्टि में लिये पदार्थ से निकले न होने के बारण ये अव्युत्पन्न हैं। वस्तुतः उणादि सूत्र पाणिनि के सिद्धान्त के विवर हैं। पूर्वोक्त सूजना के लिये मैं अब ने अनुसन्धान-युग दा० सातवांशी मुग्जनी वा बहुत कृतपूर्व हूँ।

२. *Systems of Sanskrit Grammar*, p. 25

३. निरहृत ११२-१४।

में यह शब्द सुन हो गया। सभी धूमनेवालों को 'परिद्वाजक' न कहकर बेदल सन्धासियों को ही परिद्वाजक कहते हैं। लौकिक-परम्परा ही इसका निर्णय करती है।

(२) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होने वो जिन जिन क्रियाओं से किसी वस्तु का सम्बन्ध होता, उन सभी के आधार पर उसका नाम पड़ना जैसे सभी को 'दरशया' कहने क्योंकि यह छेद में सोडी है, दूसरी धारण करने के कारण उसे 'आसञ्जनी' भी कह देते। इसके उत्तर में मी यास्क यही कहेंगे कि वस्तु से सम्बन्ध रखनेवाली बनेक क्रियाओं में से कुछ को ही ऐसा सौमार्य मिलता देखा जाता है कि उसके आधार पर ही वस्तु का नामकरण हो। सर्वों के आधार पर मामकरण न तो सम्भव ही है और न उचित ही। किसी प्रधान कर्म के आधार पर नाम रखते हैं (प्राप्त-येत व्यपदेश भवन्ति)।

(३) यदि नाम में आख्यात मिल ही रहा है तो उसे ऐसा यदों नहीं रहना चाहिये या कि वह व्याकरण की हाइ से भी शुद्ध होना और उसका अर्थ भी तुरत मालूम हो जाता, जैसे—'पुरुष' में यदि पूरु + शी पाने हैं तो इससे अच्छा तो शुद्ध नाम होता 'पुरिष्य', 'तृण' वी अपेक्षा अधिक शुद्ध होता 'तदंन' कहता। परन्तु चूंकि ऐसे नाम नहीं हैं इगलिए ये सब अनुपत्पन्न एवं अठ हैं। उत्तर यही है कि ऐकुपदिक-काण्ड में (जिसे अनुपत्पन्न घड़ी का सप्तह कहते हैं) कुछ शृंदंत प्रत्ययों से बने शब्द हैं किन्तु प्रयोग में कम आते हैं। ये आपकी कल्पना के अनुसार ही बने हैं जैसे—द्रतिं, जागरूक इत्यादि।

(४) सभी नामों में आख्यात मानने से किसी शब्द का व्यवहार चल पड़ने पर उसके मूल के विषय में व्यर्थ का विचार करना पड़ता है। मान लिया कि 'पृथिवी' को प्रथा धातु (फैलाना) से निकला मानते हैं। अब वैठार सोचते रहिये कि पृथिवी को किसने और कहाँ वैठार फैलाया? इस परिदास को यास्क आडे हाथों से ले रहे हैं और कहते हैं कि पृथिवी देखने में तो पूरु (फैली हुई) लगती है न? मगे ही किसी ने उसे नहीं फैलाया हो। सभी चीजों का नाम देखकर ही देते हैं।

(५) गार्थ फिर कहते हैं कि आपके शाकटायन से एक तमाशा समा देत है। ये जब देखते हैं कि एक धातु से अनुपत्ति बरने में व्यर्थ असमर हो रहा है, बनावट व्याकरण-सम्मत नहीं है तब वे शब्द के टुकड़ों में भी धातु की

पत्तना करने लगते हैं जैसे 'सत्य' शब्द की व्युत्पत्ति में इ-धातु और अस्-धातु-दोनों को ही नियुक्त कर लेते हैं। यास्क जवाब देते हैं कि यदि शाकटायन ऐसा करें और असगत अर्थ में करें तो बुरा है, विन्तु यदि वे सगत अर्थ में ही बर रहे हो तो कोई आपत्ति नहीं। सिद्धान्त का कोई दोष नहीं होता, व्यक्ति भले ही दोषी हो।

(६) धार लोग यह भी मानते हैं कि क्रिया के पहले नाम पढ़ जाता है किन्तु बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर वह नाम कैसे पड़ेगा? उत्तर में कहा जा सकता है कि कुछ वस्तुओं का नाम तो बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर ही होता है, जैसे—विल्वाद (एक पक्षी का नाम)। यह पक्षी जन्मते ही तो वेल का फल नहीं खाता पर इसका नाम उसी समय पढ़ जाता है। 'लम्बचूड़क' पक्षी की लम्बी चोटी बहुत बाद में होती है पर इसे जन्मते समय भी लम्बचूड़क ही कहते हैं।

इस प्रकार निष्ठकार सिद्ध करते हैं कि सभी शब्दों का निर्वचन सम्भव है। आधुनिक भाषा-विज्ञान का यह लक्ष्य है कि प्रत्येक शब्द के मूल का पता लगायें, उसे रुठ कहकर न छोड़ दें। इस दृष्टि से यास्क ने भाषाशास्त्रियों की रास्ता दिलचार्या है। सत्य तो यह है कि यास्क ही प्रथम भाषाशास्त्री है। प्र०० मैत्रमूलर इस मिद्दान्त के विषय में लिखते हैं '... (यास्क मानते हैं कि) प्रत्येक नाम आव्याप्त से निकला है और वे इसके विरोध में उठाय गये विभिन्न तरीकों का समाधान भी करते हैं—यह वह सिद्धान्त है जिसपर पाणिनि का समस्त प्रस्थान अवलम्बित है और जो वस्तुतः आधुनिक भाषा-विज्ञान का मूल है।'१ यद्दी पाणिनि से मतलब है उणादि-इत्यादि को लेकर, क्योंकि पाणिनि तो इस दृष्टिकोण से यास्क के विरोधी ही है।

भाषा-विज्ञान यद्यपि शब्दों को धातु से नियन्त्रण मानता है किन्तु सभी धातु आरयात (Verbal root) ही होंगे, यह स्वीकार नहीं करता। निर्वचनों के परिशिष्ट में हम यह अच्छी तरह देखेंगे। शब्दों को आव्याप्तज मान लेने के इई कृपरिणाम हैं, जैसे—

१. (Yāska maintains that) every noun is derived from a verbal root and meets the various objections raised against it,—a theory on which the whole system of Pāṇini is based, and which is, in fact, the postulate of modern Philology.' *History of Ancient Sanskrit Literature*, p. 161.

२. Vide, Dr. Siddheshwar Varma, *Etymologies of Yāska*, Chap II.

(१) स्वरों के परिमाण^१ का तिरस्कार—यास्क 'अघ' की व्युत्पत्ति करते हैं आ + √हन् से । वे यह नहीं विचार करते कि 'आ' किस प्रकार अपना परिमाण बदलकर 'अ' बन जायगा । वस्तुत 'अघ' किसी धातु में नहीं बना । मूल भारत-पूरोपीय (Prototype Indo European) भाषा का शब्द है—अघ (agh) जिसका अर्थ है 'खगव'; अवेस्ता में 'अग' = दुरा ।

(२) स्वरों के गुण का आत्यन्तिक-तिरस्कार—'मुद्गल' शब्द की व्युत्पत्ति की गई है—√गिल् से । 'इ' का परिवर्तन 'अ' में होना भाषा-विज्ञान के लिए एक समस्या ही है । 'अम्ब्रू-ङ्गमन् + √थि अर्गात् 'इ' का परिवर्तन 'ऋ' में । व्यन्ति-नियमों का यह साक्षात् विरस्कार है ।

(३) व्यञ्जन-सम्बन्ध का तिरस्कार—'कुल' शब्द √हज् से वर्ण-विषयं प्रदारा निमित्त माना गया है अर्थात् ज् और क्, ए और ल् परस्पर परिवर्तित होते हैं । क्या सभी जगह ऐसा ही होता है? उसी प्रकार 'कृषु' को √इन् से निष्पत्ति मानते हैं ।

(४) कभी-कभी प्रथम व्यञ्जन पर विशेष ध्यान देकर शेष व्यञ्जनों को बिल्कुल छोड़ दिया गया है । 'शादा' शब्द √प्रह् से बना है, 'व' के विषय में यास्क ने मौन घारण कर लिया है ।

(५) स्वर और व्यञ्जन दोनों का एक साथ भी तिरस्कार कर दिया है । अनस् (गाढ़ी) की व्युत्पत्ति है 'आ + √नह्'; यही 'आ' का 'अ' (गुणगत-भेद, स्वर का) तथा 'ह्' का 'स' में परिवर्तन असम्भव ही है ।

(६) कभी कभी शब्द में विद्यमान धातु से अधिक अक्षरों का धातु देकर यास्क व्यव्यं का परिश्रम करते हैं 'अन्यस्' की व्युत्पत्ति उन्होंने दी है 'आ + √ध्यं' जिसमें वेवल 'ध्य' को ही व्यावश्यकता थी । भारत-पूरोपीय भाषा में 'अन्धोस् (andho's)' = पूल ।

ये सभी दोष इसलिए आये हैं कि उन्होंने स्वतं सिद्ध शब्दों में (जो मू० भा० यू० में किया के रूप में न होकर सजा और विशेषण के ही रूप में थे)

१. एक दो वर्ग में कालगत भेद को परिमाण (Quantity) कहते हैं जैसे अ-आ, इ-ई श्वादि में परिमाणगत (Quantitative) भेद हैं । यिन्तु विमित-वर्गों के भेद को गुण (Quality) कहते हैं, जैसे अ-इ, अ-ए, इ-उ आदि में गुणगत भेद (Qualitative difference) हैं । यह भेद यदि स्वामानिक हो तो उन्हें स्वर विकार (Ablast or Vowel Gradation) कहते हैं जैसे Sing, Saug, Sang आ० मुनारिकुमार चट्टी० हस्ते अपनुति कहते हैं (ODBL) । देखिये—Taraporewala, *Elements of the Science of Language*. Chap VIII.

भी धातु खोजने की चेष्टा की है। यह दोष धातुज-सिद्धान्त के आत्यनिक प्रयोग से फलस्वरूप ही है। इन वामजोड़ियों के होठे हुए भी यह सिद्धान्त यहत महत्व रखता है क्योंकि व्युत्पत्ति दिखे गये कुछ शब्द भले ही हमें वैदिक संस्कृत में न मिलें पर भारत-यूरोपीय-भाषा के अन्य शब्दों में मिलते हैं जैसा कि द्या० सिद्धेश्वर वर्मा वा निरोक्षण है—‘यह सिद्धान्त भले ही वई दग्धाओं में हानिकारक हो, किन्तु एक ऐसी शान्तिप्रद विशेषता रखता है जिससे एना चलता है कि इसकी कई व्युत्पत्तियाँ उन शब्दों से सम्बन्ध रखती हैं जिनका सम्बन्ध या मूल प्राचीन-भारतीय-भाषा में प्राप्त न हो, बिन्तु दूसरी भारत-यूरोपीय भाषाओं में प्राप्त है।’^१ श्रो० मैत्रियूलर भी इस सिद्धान्त की प्रशंसा में लिखते हैं—‘मुक्त सन्देह है कि इस समय भी, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान ने शब्दों की उत्पत्ति पर जो भी नया प्रकाश ढाला है उसके साथ भी, इस तरह के प्रश्न (शब्दों की उत्पत्ति के) याकृष्ण की अपेक्षा अधिक संतोष-प्रद रूप से सरल दिखे जायेंगे।’^२

प्रथम-प्रथ्याय में अब देवल एवं ही विषय की विवेचना चल रही है और वह है निष्ठक की उत्पोषिता। यास्क के अनुसार निष्ठक वई विषयों के लिए उपयोगी है—

(१) भारतम् में ही ‘समान्ताय समान्तात्, स व्याक्तित्वः’ लिखा है। इसका अभिप्राय है कि निष्ठु वे शब्दों की व्याहया करना। निष्ठक वा काम है, अर्यात् निष्ठक भाष्य है। दुर्गांशायं निष्ठक को भाष्य कहते हैं। विंतरनित्स (Winternitz)^३ यास्क को प्रथम भाष्यकार मानते हैं तथा

^१ ‘But the theory, however disastrous in many respects, has a palliating feature in the fact that most of the derivations relate only to those words for which relations of origin, though not available in Old Indo-Aryan are to be found in other Indo-European languages.’ *Etymologies of Śāṅka*, p. 2.

^२ ‘I doubt whether even at present, with all the new light which Comparative Philology has shed on the origin of words, questions like these could be discussed more satisfactorily than they were by Śāṅka.’ *Hist. of Anc. Skt. Lit.* p. 169.

^३ Winternitz, *Geschichte der Indischen Literatur*, Vol III, p. 379.

पतञ्जलि को वे अपनी अलकृत शैली में 'भाष्यकारों का राजकुमार' कहते हैं। इस प्रकार शब्दों का अर्थदोष बराना निःक्त का प्रथम कार्य है।

(२) 'इदमन्तरेण यन्त्रेण अर्थप्रत्ययो न विद्यते'—चूंकि निःक्त शब्दों के अर्थ का निर्णय करता है और यास्क उनका प्रयोग दिखलाने के लिए वैदिक-मन्त्रों का उद्धरण देकर उनकी व्याख्या करते हैं, इसलिए मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान भी निःक्त के द्वारा ही होता है। प्राय ६०० मन्त्रों की व्याख्या यास्क ने की है। वैदिक साहित्य भर में मन्त्रों का अर्थ यदि कही हुआ है तो निःक्त में ही। आधुनिक अर्थकारों को यास्क से काफी सहायता मिली है।

(३) निःक्त एक विद्यास्थान (Science) है, प्राचीन काल के चौदह विद्यास्थानों में इसकी गणना है।^१ यह व्याकरण का पूरक भी है व्योकि व्याकरण शब्दों की रचना (बहिरङ्ग) को व्याख्या करता है तो निःक्त उनके अर्थ (अन्तरङ्ग) की स्तोज करता है। इसके लिए वह शब्दों की प्रकृति का पता लगाकर उसके अर्थ से संगति दिखाते हुए पूरे शब्द के अर्थ का अनुसम्बन्धान करता है। बिन्नु व्याकरण पर वह सर्वद अर्पण नहीं कर देता,^२ व्योकि व्याकरण की बनावट (शास्त्र सहकार या बृत्तियाँ) अपवाद (विद्याय) से भरी होती है। फिर भी व्याकरण और निःक्त में अनिच्छितम् सम्बन्ध है।^३

(४) यह में भी निःक्त से काफी सहायता मिलती है व्योकि इसके द्वारा ही 'किस मन्त्र में कौन देवता है'—इसका नियन्त्र विद्या जा सकता है और तभी किसी देवता को हविष् देने के लिए किसी विशेष मन्त्र का उड़चारण सम्भव है। कभी-बही किसी मन्त्र में कई देवता रहते हैं जिसका पता निःक्त ही लगाना है कि किसे प्रयान्तता दी गई। इस गुण के कारण निःक्त वर्मकाशङ्का और पूर्वमीमांसा वा भी पूरक कहा जा सकता है।

(५) 'इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते (जापते)'—निःक्त के द्वारा ही किसी पद वो उसके विभिन्न-खण्डों में बांट सकते हैं व्योकि अर्थ न जाननेवाला यह नहीं समझ सकता कि किसी पद में एक ही शब्द है या दो शब्द, जैसे—

१ तुलनाय—'पुराणन्यायमामासा वर्मशास्त्रमिथिता'।

वेदा रूपानानि विद्यानो भग्यस्य च चतुर्दश ॥१॥ (या० सू०)

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, वर्मशास्त्र, द वेदाङ्ग, ४ वेदाङ्ग = १४ विद्यास्थान हैं।

२ न सख्कारमादियेत्, विद्ययवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। (नि० २।१)

३ देखिये भूमिका वा पष्ठ शरिष्ठेद् ।

‘अवसाय पद्धते०’=परदाले भोजन के लिए, आवश = भोजन—इसमें अब धातु और अस प्रत्यय हैं दोनों मिलकर ही पद बनाते हैं इसलिए ‘अवस’ एक पद है जिसका चतुर्थ एकवचन में रूप है—अवसाय (—भोजन के लिए)। फिन्नु ‘अवसाय अवसान्’ = घोड़ों को छोलकर—यहाँ अब उपसर्ग है, स्पो (खोलना) धातु से त्वय् प्रत्यय (पूर्वकालिक) लगा है, इसलिए दो पद होने के कारण इसमें पद विभाग करना पढ़ता है तथा पद पाठकार ‘अवसाय’ ऐसा इसका पद पाठ बताते हैं। एक ही वरद के पद में, अभी एक शब्द, कभी दो शब्द, हो जाते हैं, इसे निष्ठक न जाननेवाले नहीं समझ सकते हैं।

(६) अर्थज्ञान का महत्व भी इसके द्वारा जाना जा सकता है। ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती ही है। वेदों का अर्थ बिना जाने हुए उन्हें केवल रट जाना निष्पक्ष है। इसलिए निष्ठक का अध्ययन जावश्वक है।

(७) अन्त में, हम अधूनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से निष्ठक की उपर्योगिता पर विचार कर सकते हैं। यहाँ पर संक्षेप में ही कहेंगे। भाषा-विज्ञान की एक शाखा है—अर्थविज्ञान (Semantics) जिसकी ओर लोगों का ध्यान दिग्गज दातों के अन्त में ही आष्ट्रष्टु इड़ा लवकि ड्रील (Michael Dréal) ने सन् १८९८ई० में अपना ग्रन्थ ‘ऐसे द सिम्बन्टिक्’ (éesse de Semantique) फ्रेंच में लिखा। यास्क इस विज्ञान की नींव विकल के कई सौ वर्ष पूर्व दे चुके थे। अर्थ में किस प्रकार का परिवर्तन होता है—इसका निर्देश वे स्पष्टरूप से करते हैं जिसे हम ध्यात्वान (सप्तम परिकल्पन) देखेंगे। ठा० सद्मन सरूप निष्ठक को ‘ध्युत्पत्ति-विज्ञान, भाषा-विज्ञान और अर्थविज्ञान का सदसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थ’ कहते हैं।^१ किंतु भी ध्युत्पत्तिविज्ञान (Etymology) में तो निष्ठक को तुलना ही नहीं है।

मन्त्रों के अर्थ के विषय में यास्क द्वारा उठाये गये एक और विवाद पर विचार कर लेना अनुकूल न होगा। मन्त्रों के अर्थों के सम्बन्ध में बहुत प्राचीन शाल से ही दास्तावें उठायी जाने लगी थी। उनमें दो पथ थे—एक तो लोकापत-मतवाले और दूसरे कर्मचारी। लोकापत (चार्वाक) मत के लोग तो मन्त्रों को इसलिए अर्थ-हीन कहते थे कि इरामें कल-जलूल थाते भरी

¹ Vide—Siddheswar Varma, *Etymologies of Yaska*, Chap IV. and Skold *The Nirukta, Nirukta and the Padakāra*.

² *The Nigh. and the Nirukta, Sabhile, The Oldest Indian Treatise on Etymology, Philology and Semantics.*

पड़ो हैं वेदों को कोई सत्ता नहीं, इन्हे मानना व्यर्थ है।^१ दूसरी ओर कर्मकाण्डियों का कहना यह कि वेदों का कोई अर्थ नहीं किन्तु उनका पाठ अनिवार्य है, पाठ करते में अर्थ का घ्यान नहीं रहता, हम एक निष्ठा से पाठ करते हैं क्योंकि यही हमारा धर्म है। इनके पश्च की विवेचना सायणाचार्य ने अपनी 'ऋग्वेद-मात्य-भूमिका' के स्वाध्याय-प्रकरण में की, जिसमें 'पुरुषार्थ-नुशासन' (एक बप्राप्त प्रथा) से सूत्रों का उद्धरण देकर उन्होंने निष्ठयें निकाला है। आज के कर्मकाण्डी भी पाठ मात्र में ही वेद की सत्ता समझते हैं किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वेदों के अर्थ में उनका विश्वास नहीं है।

यास्क के विषदी कौत्स हैं जिनका कहना है कि मन्त्र अर्थहीन हैं। ये क्षयर कहे गये दोनों पक्षों का समुचित प्रनिनिधित्व करते हैं। यास्क ने उनके प्रत्येक आधेप का सफल उत्तर दिया है जिसे पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ने अपने सूत्रों में ईपत्तरित्वंत के साथ ग्रहण कर लिया है। हम यहाँ उनका धर्मन करें—

(१) वेद के शब्दों की योजना ऐसी है कि न तो उनके स्पान पर हम दूसरे पर्यायिकाओं का सम्बद्ध रख सकते हैं और न ही उनके ऋग का परिवर्तन कर सकते हैं। साथक वाक्यों में तो ऐसा सम्भव था। भले ही ज्ञात-कूक करने के निरर्थक-मन्त्रों में ऐसा परिवर्तन सम्भव नहीं है। योहा भी परिवर्तन किया कि मन्त्रों की कायंकरी दक्षि नष्ट हुई। इसलिए वेद के मन्त्र भी निरर्थक हैं। यास्क इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसा लोक में भी होता है। अपने दैनन्दिन-बातचीलाप में हम ऐसे बातें भी बोल जाते हैं जिनके शब्द निश्चित होते हैं और स्थानस्थृति नहीं सह सकते। इससे यास्क यह भली-भौति स्पष्ट कर देते हैं कि वैदिक मापा से ही लोकिक-मापा की उत्पत्ति हुई है। 'अर्थवन्त' 'षान्दसामान्यात' के द्वारा वो वह इस पर प्रूरा जोर देते हैं कि दोनों भाषाओं में शब्द की भी समानता रहती है। ज्ञात होता है कि वे भाषा के ऐतिहासिक विकास से पूर्ण परिचित हैं।

(२) यदि मन्त्र साथें होते तो ब्राह्मण-प्रथों के द्वारा उनका प्रयोजन निश्चित करना व्यर्थ हो जाता। ब्राह्मणों में किसी मन्त्र का उद्धरण देकर यद्युलिखते हैं कि इसके द्वारा अमुक कार्य करे। मन्त्रों के द्वारा ही कार्य का स्पष्टीकरण हो जाने पर बाह्यण ग्रथ द्वारा उसका पुनः उल्लङ्घन निरर्थक ही

१. तुलनीय—प्रद्यो वेदस्य कर्त्तृतो भष्टवूर्त्तिशाचराः ।

है। यास्क इसे आवृत्तिमात्र कहकर छोड़ देते हैं जिन्होंने जैमिनि ने भिन्न-भिन्न उदाहरणों के लिए अलग-अलग सूत्र दिये हैं।

(३) वर्यों की असत्ति भी वैदिक मन्त्रों की निरपेक्षता सिद्ध करती है । अचेतन चक्षुओं से बात करना पाण्डुलिपन ही है, किन्तु ऋषि महते हैं— ‘हे कुत्खाडो ! इसे हानि मत पहुँचाओ’, ‘हे बोधिवि ! इसे बचाओ ।’ यास्क इनका मन्त्रोपचयनक उत्तर नहीं देते । वे नहते हैं कि इसमें वैदिक-वाचप्रथा अहिंसा का प्रतिवादन करते हैं । यह उत्तर अव्यासिदोष से दूषित है । सभी जड़-पदार्थों के सम्बोधन से तो अहिंसा ही नहीं विकलती । महर्षि वादशालय का ‘अभिमानिभ्यपदेश ॥’ (व० स० २११५) या जंभिगि का ‘अभिधानै-यंवाद ’ अधिक सुन्दर उत्तर है ।

(४) वेदिक-मन्त्र इसलिए भी निरपंक है कि वे आपस में ही विचार करते हैं। कभी तो पृथ्वी में वेदल एक ही रुद्र होने की बात करते हैं तो कभी हजारों रुद्रों को ला देठते हैं। कभी इद्र को जन्म से ही शशुहान बहते हैं और कभी कहते हैं कि उन्होंने एक साथ ही संहर्दों सेनाये जीत की। यह क्या होता है ? यास्क किर सौरिक-प्रयोग के सामने तिर झुका देते हैं किन्तु जैमिनि इसे आलंदारिक (Figurative) प्रयोग कहकर इसका पूरा व्याख्या करते हैं।

(५) वेद में जानकार स्वीकृति बतलाने का नियम है जो एश्रय का नाम करता ही है। यास्क कहते हैं कि ऐसी बात नहीं, यह अभिवादन है। गुरु के समझ हम कहते हैं—ये, रामचन्द्र, आपका अभिवादन करता हूँ, यद्यपि मुझ इसे जान रहे हैं कि अभिवादक रामचन्द्र ही है। रामान ऐने के लिए ही ऐसा करते का विधान है।

(६) जर्ये को असंज्ञिति का ही एक दूषणा उदाहरण है—अदिति को सब कुछ कहना, जैसे—वे ही स्वर्ण है, अन्तरिक्ष है। ऐसा तो संसार में भी कहते हैं कि पानी में सब रस है। इसलिए यह असंज्ञिति नहीं है।

(७) इसके बलावे कई मन्त्र अधिष्ठ बर्याले हैं। तो सबसे अच्छा है कि उन्हें निरर्थक ही समझ लिया जाय। याकू बहुते हैं कि मन्त्रों के

१९८० सं० १२।४१-४३ यन्त्रागिकरण

२. अक्टूबर १८९१।

अदिनिर्वाचनादिनिर्वाचनादितमौत य एष स पुणः ।
दिवे देवा अदिनः पश्चाता अदितिर्वाचनादिर्वाचनः ॥

अस्पष्ट लगते मेरन्ह दोषी नहीं, उसे मैं समझनेवाला व्यक्ति ही दोषी है।
खम्मे का दोष नहीं कि अन्धा उसे न देखे और उससे टकरा जाय।

इस प्रकार यास्क सिद्ध कर देते हैं कि मन्त्रों में अधं है और उसे जानने के लिए निरुक्त की महायता अपेक्षित है। स्मरणीय है कि यास्क का ही विवेचन लेकर जैमिनि ने अपने मन्त्राभिकरण^३ का निर्माण किया है। इस स्थान पर यास्क के कुछ वाक्य सूत्र की शौली मेरे लिये भी गये हैं।



२. लै० सू० १२१३१-५३ रेनका विचार सायण की ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में भी है।

(ख) द्वितीय-अध्याय

[द्वितीय अध्याय—क्या द्वितीय अध्याय से ही निरक्त का आरम्भ हुआ है ?—निर्वचन के सिद्धान्त—शब्दों में परिवर्तन—स्कोल का विचार—वैदिक और लौकिक शब्दों का सम्बन्ध—उपभाषायें—अनुवन्ध-चतुष्टय और अधिकारी की जाँच—निषष्टु के शब्दों को व्याख्या—ऋचाओं के उद्धरण—‘गी’ के अर्थ—इतिहास—वृत्र का रूपक ।]

हम जानते हैं कि द्वितीय अध्याय के प्रथम-पाद तक निरक्त की भूमिका ही है और उसके द्वितीय-पाद से ही निषष्टु भाष्य का बाम आरम्भ होता है । इसलिए इसके आरम्भ-भाग में कुछ जानने भीर विचारने की बातें दी हुई हैं । वे हैं—निर्वचन को रीनि तथा बाट्ये गिर्य को इसीटी जिसपर विचारी को निरक्त का अध्यात्म बन गते ।

द्वितीय-अध्याय का आरम्भ हुआ है अथ निर्वचनम्' से, जैसा कि प्राचीन-प्रथमों का आरम्भ हुआ करता है । प्रथम अध्याय के आरम्भ में 'अर्थ' का प्रयोग नहीं दिया गया है । निषष्टु-भाष्य की भूमिका इसी ही होनी चाहिए जितनी द्वितीय-अध्याय में है । इसीमें निर्वचन की हीति स्पष्ट हर दी गई है । अतएव कुछ विद्वान् निर्वर्त निराकृते हैं कि प्रथम-अध्याय की याद में भूमिका के लिए भिन्न भिन्न विद्वान् द्वारा जोड़े गये हैं, आरम्भ से निरक्त का द्वितीय-अध्याय में ही है । परन्तु यह विद्वान् उपर से जितना आवश्यक प्रतीत होता है, भीतर से उतना ही घोषिता है । प्रथम-अध्याय में दिये गये निर्वचनों का उपयोग भागे के अध्यायों में बहुत रूपान वर 'पूर्वमेव व्याख्यानः' वह वर दिया गया है—यद्य तत्त्व इतना तो रूपान वर ही देता है कि उन-उन रूपानों को जितने के पूर्व ही प्रथम-अध्याय लिया जा पुका या । यदि प्रथम-अध्याय वीड़े में जोहा क्या होता तो वह अभ्यन्त नहीं था । परि, 'पूर्विदी'—जैसे प्रथम शब्द की व्याख्या प्रथम-अध्याय में ही है अन्यत वही नहीं । इसी-ए 'अर्थ' में आरम्भ न होने पर जो प्रथम अध्याय निरक्त का आरम्भ-अध्याय है ।

यास्क के निर्वचन की रीति निष्ठन-प्रकार की है—

(१) जब किसी शब्द में वर्तमान धातु का अर्थ हो जो उस शब्द का है स्वर या बनावट के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं हो, और व्याकरण यास्त्र की प्रक्रिया के द्वारा ही उम्मी बनावट सिद्ध की जा सके, तब ऐसे शब्दों का निर्वचन सामान्यरीति से ही करें, जैसे—‘धातु’ की व्युत्पत्ति^१/पा (धारण करना) से (१२०) की गई है। यहाँ तक निर्वचन की रीति व्याकरण से मेल रखती है तथा वैज्ञानिकता से सम्बद्ध है। निष्ठक की निष्ठत्तियों का विचार हम यथास्थान करेंगे ।^२

(२) जब शब्द में दिलचाई पड़नेवाले धातु का अर्थ शब्द से भिन्न हो, या शब्द का अर्थ रखनेवाले धातु से उस शब्द की सिद्धि करने में व्याकरण वाघष्ट हो तब हम उस शब्द के विभिन्न-रूपों की तुलना धातु के विभिन्न-रूपों से करेंगे। कहो पर भी समानता पा लेने पर निर्वचन कर लें, जैसे—‘राजा’ की व्युत्पत्ति^३/राज् (शोभना) से को जाती है क्योंकि राजा भी राज्य में शोभने हैं (राजन्ते) ।^४

(३) जब इस प्रकार की समानता न मिले तो अर्थ देखकर, धातु और शब्द में एह आध स्वर या व्यञ्जन की भी समानता को आधार मानकर निर्वचन कर दें, जैसे—‘क्षा’ की व्युत्पत्ति है^५/दृ॒ (अच्छा लगना) से, जब कि दोनों में केवल रकार और उकार की ही समानता है ।^६

यास्त्र के विछले दोनों सिद्धान्त अवैज्ञानिकता की पृष्ठमूलि पर आधारित हैं। उनका तिदान्त है कि कोई भी व्यनि किसी व्यनि के रूप में बदल सकती है, भने ही उनमें कोई स्वाभाविक सम्बन्ध न मी हो। यह मापा-विज्ञान के व्यनि तिदान्त के विद्ध है। वैज्ञानिक-सिद्धान्त यह है कि कुछ निश्चित व्यनियाँ ही किसी निश्चिन्त-सूप में फिसी निश्चित समंय पर बदलती हैं। ‘न गृहारमादियत’ एक बहुत बड़ी वैज्ञानिक भूल है। निर्वचन की अनिवार्यता पर ये कहते हैं—‘न देवत न निर्वृत् ।’ निर्वचन करने में अपनी असमर्थता कभी न दिखायें, नहीं तो बहुत बड़ा अनर्थ होगा

१ तद् येऽप्येतु स्वरस्तस्यात् समर्थी प्रादेहिदेन शुनेत् अनितो स्यागम् , तथा सामि निष्ठूयात् ।

२ भवनभिवेऽप्ये, भप्रादेहिके विद्यारे, अर्थनित्या परोद्धेन केनभिद्धुरिसामान्येन ।

३. अविद्यने सामादेहिः अद्यत्वान्वान्वान्यात् निष्ठूयात्

४. Scoll, *The Nirukta*, p. 170.

का तभी शब्दों का पातुज मानने का सिद्धान्त ही स्पष्ट हो जायगा। इतना ही नहीं, शब्दों में किस प्रकार का परिवर्तन होता है, यह भी देखें—

(१) पातु के कुछ रूपों में आदि-अक्षर ही बचता है और सभी अक्षर लुम हो जाते हैं, जैसे—प्र + √दा=प्रत्। इसमें (प्र 'त्' त) √दा का केवल द ही त् के रूप में अवधिष्ठ है।

(२) कही-नकही आदि स्वर का लोप हो जाता है, जैसे √अस् का गुणवृद्धि से रहित स्थानों में—स्त्, सन्ति। भाषाविज्ञान भी इसे स्वीकार करता है तथा आदि स्वर लोप (Aphesis, Aphacresis) कहता है। उदाहरण है—अपिनढ>पिनढ, अवगाह>वगाह, Esquire>Squire इत्यादि। महाभाष्य में इसके लिए एक कारिका भी है—‘वट्टि भागुरिरत्तलोपम्-वाप्योऽपसर्गयो।’ कालिदास ने भी ऐसे कई प्रयोग किये हैं।^१

(३) कही-नकही पातु के अन्त्य-अक्षर का लोप हो जाता है, जैसे √गम>गत, गत्वा।

(४) कही-नकही मध्यम स्वर (उपधा) का भी लोप हो जाता है (Syncope) जैसे—√गम>जग्मतु, जग्मु, में 'ग' के अकार का लोप।

(५) हस्त स्वर के बाद अनुनासिक-वर्ण रहने से दीर्घ-स्वर हो जाता है और अनुनासिक वा लोप भी (यास्क के शब्दों में, उपधा-विकार) हो जाता है—राजन्>राजा, दण्डन्>दण्डी।

(६) वर्णलोप—दूसरे व्यञ्जन के पूर्व व्यञ्जन का लोप,^२ जैसे—वर्त्वा>तत्वा।

(७) द्विवर्णलोप—श्वृच>तृच। (इसी ओर य् वा लोप)

(८) शब्द के प्रथम व्यञ्जन का विकार—चूत>ण्योति।

(९) दोनों ओर के व्यञ्जन परस्पर स्थान बदल सकते हैं, जैसे—√स्तुत्>स्तुच्>स्तुक>स्तोक। इसे वर्ण-विपर्यय कहते हैं, जैसे—सिह भी शुलत्ति-√हस् से।

(१०) अन्तिम व्यञ्जन का विकार—(हडार का ध् या ध् द्वोना)--√वह>ओप, √वह<वधू तथा √मद>मधु।

१. Vide, Dr. T. Chowdhury, *Linguistic Aberrations in Kalidasa's Writings*, p. 3.

२. द्वुष्टनीय—सर्वो हारि सर्वें (पा० सू० ८४४६)।

(११) अन्त स्थान पर रहने से सम्प्रसारण में भी विकार हो सकता है, जैसे—√बद्>ऊति, √ब्रद्>मुद्।

भाषा के परिवर्तन में ये सभी विकार महायक होते हैं किन्तु ये अनियमित (Sporadic) हैं, किस स्थान में होगे नियम बनाना बड़ा कठिन है। दुर्गचार्य ने इन नियमों में कुछ को चुनकर निश्चित का लक्षण किया है—

वर्णग्रन्थो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरो वर्णविकारताशो ।

यातोत्तरप्रतिशयेन योगस्तुदुच्यते पञ्चविध निरुत्तम् ॥

किसी शब्द का निवन्धन करने के लिए इतनि विकार के ये सिद्धान्त भाषा-विज्ञान को भी मान्य है—(१) वर्णग्रन्थ (कई प्रकार के) (२) वर्ण-विपर्यय (Metathesis), (३) वर्णविकार (Change of Syllable), (४) वर्णनाश (Elision of Syllable) और (५) अर्थ के अनुसार घातु से रूप की कल्पना करना।^३

डा० स्कोल्ड^३ कहते हैं कि यास्क के उदाहरण या अनुभव (Observation) ठीक हैं किन्तु उन्होंने निकाले गये नियन्त्रण गलत हैं क्योंकि वे अति यापक हैं। √गम से उपथा वा लोप होने पर 'जगमतु' बनता है—इसमें कोई सम्बद्ध नहीं, किन्तु यह कहना कि सभी उपथाओं का लोप हो सकता है, गलत है। कारण यही है कि ये सभी इतनियाँ अनियमित रूप से विकृत होती हैं।

यह स्थान यास्क के भाषा-ग्रन्थीय ज्ञान का बहुत सुन्दर प्रदर्शन करने वाला है। इसी सम्बन्ध में वे सकेत करते हैं कि वैदिक धातुओं से सस्कृत-शब्द बनते हैं तथा सस्कृत के धातुओं से वैदिक-धातु भी बनते हैं। यह उनके अनुभवों का आदर्श है। चूंकि वैदिक भाषा से ही सस्कृत का विकास हुआ है, इसलिए यह कहना कि ऊपर से विरोधार्थक प्रतीत होता है कि सस्कृत-धातुओं से वैदिक शब्द बनते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि जिन धातुओं से इन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति होती है वे किया के रूप में वैदिक भाषा में प्रयुक्त नहीं होते, किन्तु सस्कृत-भाषा में होते हैं। इसी प्रकार

१. त्रुट्टीय—मवेद् वर्णग्रन्थाद् इसो सिद्धो वर्णविपर्ययाद् ।

गूडोग्मा वर्णविहृने वर्णनाशात्प्रोदरम् ॥

२. इन विकारों से अन्य विकारों के लिए देखें—डा० मोलानाप तिवारी का 'भाषा विज्ञान' ।

३. S. Gold, *The Nirukta*, p. 183—'His observations are correct but his conclusions are wrong because they are too general.'

कुछ यातु एसे भी हैं जो वैदिक-भाषा में किया के स्थान में प्रयुक्त होते हैं। धीरे-धीरे उनका यह प्रयोग समाप्त हो जाता है तथा सस्कृत में उनसे बने दाढ़ मर ही प्रयोग के बोध रह जाते हैं। शब्दों के प्रयोग, विकार आदि में सबसे बड़ा अधिकारी लौकिक प्रयोग ही है। जनता शब्द का जैसा अवहार कर दे। यास्क पहले भी 'अर्थवन्त शब्द सामाज्यान्' के द्वारा वैदिक और संस्कृत-भाषाओं का सम्बन्ध बताता चुके हैं। निष्ठु तथा प्रायः ६०० वैदिक-भाषों की व्याख्या करने वाले यस्क को यह पता लगाने में कठिनाई नहीं द्वारा होगी कि वैदिक से ही सस्कृत का विकास हुआ है।^१

सस्कृत भाषा बोली जाती थी तथा इसकी उपभाषाओं में पारस्परिक अन्तर भी या विसे यात्क और पतञ्जलि दीनों वे ही बहुचाना है। यात्क की दृष्टि भी वितनी तीक्ष्ण है? यातु का प्रयोग लोग एक प्रान्त में करते हैं और उनसे यने हुए दाढ़ का दूसरे ही प्रदेश में। शब्द—किया (=जाना) का प्रयोग काम्बोज-देश में, और शब्द (सजा) का प्रयोग आद्यं लोग करते हैं। चूदा (=काटना) प्राच्य-देश में तथा 'काढ़' उदीर्घ-देश में बोलते हैं। पतञ्जलि भी ऐसी उपभाषाओं का नामोल्लेख करते हैं (देखिये महाभाष्य १११।१)।

यास्क आद्य-देश को प्राच्य छोटे उदीर्घ से भिन्न मानते हैं यद्यपि आपदेश की भाषा से इन शब्दों देशों की भाषायें बहुत भ्रमादित थीं। यास्क के समय इन देशों की भाषाओं को लोग सिष्ट नहीं मानते थे। केवल आद्य-भाषा ही शिष्टों की भाषा थी जिसका अनुकरण अन्य भाषायें कर रही थीं। भाषाओं के शेष्रीय-विभाजन का उल्लेख बाहुप्रयोगों में भी प्राप्त होता है।^२

अपने निर्वचनों के उपर्युक्त नियमों को यास्क ने 'एवपर्व' भावा है अर्थात् उन शब्दों में एक ही जोड़ है, एक बार में दाढ़ से पातु तर चढ़ने वाले हैं। तदिन और समासों पो अनेकून्हाँ रहते हैं जिनकि इनका मोहा निर्वचन सम्भव नहीं। इनवे लिए यास्क ने दो और निर्दाख्य जोड़ दिये हैं—तदितान्त शब्दों, जो पहले तोड़ दे तब उनका निर्वचन परे, जैसे—दण्डघ <दण्ड><चूदा। यमासो वा भी इसी प्रकार निर्वचन परे अर्थात् विश्वह परके शब्दों को असन-अस्य करके, पश्चात् उन अदेले (एवपर्वशाले)

१. Dr. L. Sarup, *The Nighantu and the Nirukta*, Eug. Trans., p. 223.

२. देखिये—जा॒ द्वन्द्वित्तुनार् चट्टा॑—Indo-Aryan and Hindi, Old Indo-Aryan.

शब्दों का निर्वचन करें जैसे —राजपुद्धर<राजा का पुरुष। इसके बाद इन दोनों शब्दों का अलग-अलग निर्वचन करें। इन नियमों का पालन पालन यास्क ने पूर्णतया किया है।

प्राचीन-भारत में विसी शास्त्र के आरम्भ में चार अनुबन्धों का ज्ञान करना बहुत ज़रूरी था। ये अनुबन्ध हैं—सम्बन्ध, अधिकारी, विषय और प्रयोजन।^१ अधिकारी का निरूपण दिना किये हुए किसी भी शास्त्र का आरम्भ नहीं होता था। निषष्ठु-जैसे ग्रन्थ का भाष्य पढ़ाने के पहले अध्यापक को अपने शिष्य की परीक्षा कर लेनी चाहिये। इसलिए यहाँ निरुक्त के उपदेश के अधिकारी किसी योग्य शिष्य को चुनना ज़रूरी समझा गया है। योग्य शिष्य में ये गुण होने चाहिये—व्याकरण-ज्ञान, शिष्य बनकर पढ़ने की इच्छा, निरुक्त को जानना (थदा रखना), मेधावी और तपस्वी होना। दोष हूँडनेवाले, ऐडे या अस्यमी शिष्य को निरुक्त न पढ़ाये। गुरु का द्वारा कभी नहीं करना चाहिये, उन्हें माता-पिता समझे बयोकि गुरु अत्यन्त परिश्रम से अमर-विद्या का दान करते हैं। पढ़ने के बाद जो गुरु का सम्मान नहीं करते, विद्या भी उनका मान नहीं करती। इसलिए पवित्र और अप्रमादी, मेधावी और अद्वौही शिष्य को ही विद्यान्दान करें।

इस भूमिका के बाद से निषष्ठु के शब्दों की व्याख्या आरम्भ हुई है। द्वितीय-अध्याय में ही निषष्ठु के प्रयम-अध्याय को समेट लिया गया है किन्तु प्रत्येक खण्ड (पर्यायों के समूह) से प्रायः एक ही शब्द का निर्वचन किया गया है। निर्वचन की दोनों हम देख ही सकते हैं। इसलिए यहाँ सामान्य-हृषि में ही वर्णन अपेक्षित है।

निषष्ठु के प्रायः पचीम शब्दों के निर्वचन-क्रम में १६ पूरी-पूरी ऋचायें उद्धृत की गई हैं और उनकी व्याख्या भी की गई है। निषष्ठु के शब्दों की व्याख्या उरते हुए यास्क यह ध्यान में रखते हैं कि शब्दों के जितने भी अर्थ सम्भव हैं उन सबों तक व्युत्पत्ति के द्वारा ही पहुँच सके और इस प्रकार कोई अर्थ छूटने न पाये। यदि शब्द के सम्बन्ध में कोई ज्ञानान् आदि हो तो उसका उल्लेख करना भी यास्क नहीं भूलते। अपत्रा किसी शब्द का प्रयोग जिस ऋचा में हुआ है उस ऋचा से भी सम्बद्ध इतिहास का वर्णन ये कर देने हैं। कभी-कभी पूरी ऋचा लिखने के बाद उसके कनिष्ठ चरणों को अलग-अलग उद्देश बरके भी व्याख्या करते हैं। इस प्रकार से- यास्क शब्दों के

१. सम्बन्धशास्त्रिकी व विषयश प्रयोगन्।

हरेक पहलू पर पूर्ण विचार करते हुए आदर्श-व्याख्याकार के रूप में उपस्थिति होते हैं।

'गो'-शब्द यद्यपि पृथ्वी के पर्याय में पढ़ा गया है, इन्तु इसका अर्थ-पशु विशेष भी है। पशु अर्थ वाले 'गो' शब्द के अर्थ कभी-कभी लक्षण से भी लगते हैं। जैसे—गो-दुध, गो-चर्म, गो वी ताँत, कफ आदि। सूर्य को तथा उसकी किरणों को भी गो कहते हैं। इसका कारण प्रो० मैकडोनल (Macdonell) ने बताया है कि सूर्य वी किरणों को प्रात काल निकलती देखकर प्राचीन वायों की कल्पना होती थी कि गायें अपने रात्रिवास से निकलकर गोचर भूमि की ओर जा रही हैं। गायों के समान सूर्य भी रात में विथाम करता हुआ प्रतीत होता था। इसी प्राकृतिक समानता को देखकर 'गो' शब्द आदित्य के अर्थ में प्रचलित हो गया। अर्थ ऐसे ही बदलता है।^१

इस सम्बन्ध में शाकपूर्णि का एक आख्यान आता है। वे समझते थे कि किसी भी मन्त्र के देवता को पहचान ले सकते हैं। उनके इस गवं पर दो विहृत्वाले देवता प्रकट हुए जिन्हे वे न पहचान सके। देवता ने स्वयं ही अपनी पहचान बता दी। एक दूसरे इतिहास का वर्णन है कि कुषवंश में शृण्डिपेण के दो पुत्र थे—देवापि और शम्तनु। छोटे भाई शम्तनु ने अपना राज्याभियेक करा लिया और देवापि रूपस्या करने लगा। इस अधर्म के कारण शम्तनु के राज्य में १२ वर्षों तक पानी नहीं बरसा। शाहूगों ने उसके अधर्म की ओर सकेत किया। इसपर शम्तनु ने देवापि को राज्य लेने के लिये कहा किन्तु देवापि ने बैठक एक यज्ञ कराने को बचत दिया जिससे वर्षा हो। इस इतिहास से रातकालिक-समाज का एक अच्छा वित्र उपस्थित होता है।

पुराणों में जिस वृत्त का इतनी अतिरिक्तता के साथ वर्णन हुआ है उसके विषय में यास्क कहते हैं कि यह और कुछ नहीं, मेघ ही है। जल और प्रकाश के मिश्रण से जब वर्षा होती है तब मालूम होता है कि युद्ध हो रहा है जितका वर्णन लोग करते हैं। मन्त्रों और शाहूगों में उके सौंप मानते हैं। अपने बड़े शर्ऊर से उसने जल-प्रवाह रोक लिया, इन्द्र ने जब उसे बगू से मारा तब जल प्रवाहित हुआ। इसकी वास्तविकता यह है—प्राकाश में

१. देखिये—वायप्रवाह, २—मुरायार्पदे तयोरे रुदिनोऽव मयोजनात्।
Of Metonymy—He drank the cup (= milk in it)

२. Taraporewala, *Elements of the Science of Language*, Semantics या दा० भोडानाथ तिवारी का भाषाविज्ञान (अर्थविचार) देखें।

मेघ लगे हुए हैं किन्तु दर्पा नहीं हो रही है मानो किसी (=वृत्र) ने पानी को रोक रखा है। अकस्मात् बादल टकराते हैं और जोरो से विज्ञी कौशलो हुई गरजती है। यह हुआ इन्ह का वज्र से मारना। सम्भव है कुछ देर बाद दर्पा होने लगे। लीजिये, सर्व मर गया, जल का प्रवाह चल पड़ा। यह विलकुल सच है कि वेदो में जिसका रूपरूप दाँधा गया, उपनिषदों ने जिसे शुद्ध-स्प में पहचाना—पुराणों में उसीका अतिरिक्तन करके कथाएँ लिखी गईं।

ऋषि-विश्वामित्र से सम्बद्ध एक और इतिहास है। वे सुदास् पैतृवन के पुरोहित थे, उससे धन लेकर वे विषयाचा और शुद्धी के साम पर आये। उनके पोछे-पीछे और लोग भी थे। ऋषि ने नदियों से अल्प जलवाली (याह) बनने के लिए प्रायंना की। वेद के कुछ मन्त्रों के द्वारा (कृ० ३।३३) दोनों का सवाद होना है। नदियाँ अस्वीकार करते करते भी मान जाती हैं।

निषण्ठु प्रथम अध्याय के अन्तिम सीन खण्डों का तो वेवल निर्देश ही किया गया है। इस प्रह्लाद कथाय (निष्ठक) का अन्त होता है।

(ग) तृतीय-अध्याय

[निषण्टु के द्विसोयन्त्रतीय अध्याय के शब्दों की व्याख्या—तत्परता—औरस पुत्र की श्रेष्ठता—वशिष्ठ का उपाख्यान—पुत्र का उत्तराधिकार—पुत्री का उत्तराधिकार—तर्क—भ्रातृहोन नारी का उत्तराधिकार गतिरुक् शब्द—पुत्रों का उत्तराधिकारन्निषेध—पंचजन—कतिपय प्रातिपदिक-हीन शब्द—उपमा—लक्षण—उसके कर्म तथा प्रकार—रूपकमूला उपमा—शब्दातुकृति—नैषण्टुक काण्ड की समाप्ति] ।

निष्टक के दूसरे अध्याय में निषण्टु के केवल प्रथम अध्याय की ही व्याख्या (या नामोल्लेख मात्र समझें) की गयी है । स्मरणीय है कि निषण्टु के प्रथम अध्याय में सत्रह शब्द हैं । चूंकि निषण्टु के नैषण्टुक-काण्ड में बैदल तीन ही अध्याय हैं, इसलिए अभी भी दो अध्याय बच रहे हैं । अब इन दोनों अवशिष्ट अध्यायों में विद्यमान शब्दों की व्याख्या निष्टक के 'तीसरे अध्याय में ही होती है और तीसरे अध्याय तक को नैषण्टुक-काण्ड की संज्ञा दी जाती है । इसका विवरण दोहरा है और शब्द काफी (२२ + ३० शब्द), इसलिए संली जरा तेज हो गयी है । इसे व्याख्यान मूल पुस्तक में अनित किया गया है ।

तीसरे अध्याय के प्रथम पाद भर में यास्क एक बड़े मनोरंजक विषय का विवेचन करते हैं, जब कि अपत्य शब्द की व्याख्या होनी है । इस विवेचना ने तात्त्वालिक समाज की व्यवस्था पर पूरा प्रकाश पढ़ना है । यही नहीं यास्क इमूर्तिकारों की कथा में भी प्रवेश कर जाते हैं । अपत्य का सामान्य अर्थ है संतान । वह पिता से पृथक् होकर फैलता है तथा उसके कारण पिता नरक में मही पड़ने । अब पुत्र के बनेक भेदों में औरस पुत्र की व्येष्ठता का बनने सुनें ।

एक वैदिक उपाख्यान है कि वशिष्ठ के सभी पुत्र मर गये । उन्होंने पुत्र की कामना से अग्नि की प्राप्तिना की । अग्नि ने उनसे पूछा कि दत्तक, श्रीतक, कृतिम आदि पुत्रों में बिसे चाहते हो । इसी बात पर वशिष्ठ ने औरस (आत्मज) पुत्र की व्येष्ठता प्रमाणित की एवं दूसरों के जनमें पुत्रों की निन्दा की । उसी प्रसঙ्ग की व्येष्ठाये यास्क उद्घृत करते हैं । दूसरे पां पुत्र तो कभी भी प्रहृण नहीं करना चाहिए । उसे जलदान का कोई अधिकार नहीं है । मूर्खों की यह पारणा है कि दूसरों का पुत्र अपना होकर रहेगा । वह तो

बहीं लौट जाता है जहाँ से आता है। उसे पैतृकन्वश में रहने का अधिकार नहीं। किन्तु बाहरण-भन्धों में हमे ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि दूसरे का पुत्र दूसरे वंश में जाकर पूरा अधिकार पाता है। उदाहरण के लिए, ऐतरेय-ब्राह्मण के शुन शेष को लें। यद्यपि वह बागिरस गोव का था किन्तु विश्वामित्र ने उसे अपने वश में से लिया। यही नहीं, उसकी शेषना स्वीकार न करने वाले अपने औरस (?) पुत्रों को भी शाप दे दिया जिससे वे आनंद, पूर्णिद, म्लेच्छ आदि सीमा पर रहने वाली जानियों में चले गये। इसके विपरीत शुन शेष को दंविक दायभाग, विद्या आदि उत्तराधिकार भी मिलता है। आज की ही भौति उस समय भी अन्य बालकों को अपने वश में ले जाने की प्रथा प्रचलित थी। किन्तु जब औरस ही मिल जाये तब तो उनका प्रश्न ही नहीं रठता। विष्ट को कठिपय विकल्पों के बीच पुनर्जूनना था इसीलिए स्वभावन उन्होंने औरस पुत्र की शेषना प्रमाणित की है।

भनस्मृति के अनुसार^१ पुत्रों के बारह भेद हैं जिनमें ६ दायाद (सम्पत्ति के उत्तराधिकारी) तथा ३ अदायाद हैं। निम्नलिखित पुत्र दायाद हैं— औरस, सेवन, दत्त, कृतिन, गूढोरपन और अपविद्। इसके अलावे कानीन, सहोद, श्रीत, पौत्रभेद, इवयदत्त और शोद—ये उप्रकार के अदायाद हैं। इनमें प्रत्येक का विस्तृत वर्णन अनु ने नवम अध्याय के १६६ से १८० श्लोकों तक किया है। कुछ भी हो औरस पुत्र के अभाव में ही इन अन्य प्रकार के पुत्रों को दायाद बनाया जाता है या उनकी महत्ता स्वीकृत होनी है।

पुनः, इसी प्रस्तुति में दूसरा विवाद यह उठाता है कि पुत्र के समान पुत्री को भी उत्तराधिकार प्राप्त है या नहीं। कुछ आचार्यों के अनुसार पुत्री को भी उत्तराधिकार प्राप्त है। इस सम्बन्ध में दुर्गचार्य वहते हैं कि पुत्री का पुत्र दीहित्र होना है, यदि किसी को पुत्र न हो तो पौत्र भी नहीं होगा किन्तु दीहित्र को ही पौत्र के स्वरूप में वह प्राप्त करेगा। इस प्रकार जब दीहित्र को पौत्र माना जा सकता है तब पुत्री को भी पुत्र माना जाय। दुर्गचार्य की यह उत्तिक वही तक सगत है जब मनुष्य पुत्रहीन हो (जब कि दीहित्र को पौत्र का अधिकार मिल सकता है)। किन्तु पुत्री को उत्तराधिकार देने का मतलब है सभी अवस्थाओं में, चाहे पुत्र रहे या नहीं, पुत्री को भी सम्पत्ति का समान अधिकार प्राप्त है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो

आर्य-जानियो में, पुत्र के रहने पर, पुत्री वो कभी भी सम्पत्ति का भाग नहीं
मिला। ही, दीहित्र को अधिकार तभी मिलता था जब पोत्र न हो। पुत्र के
रहते हुए पुत्री को उत्तराधिकार देना मुसलमानों में प्रचलित है।

दुर्गाचार्य का दूसरा तर्क है कि पुत्र और पुत्री के उत्पादन की विधि
(प्रक्रिया) एक समान है तथा उन दोनों के सस्कार-शायों में कोई अन्तर नहीं
है, एवं ही भव दोनों के सस्कार-शायों में प्रयुक्त होते हैं। यह तर्क मूल की
बतिरजना हो है। इस यत के पश्च में तथा विपक्ष में भी प्रमाण मूल म ही
उद्भृत किये गये हैं। यास्क ने मनु का उद्धरण देकर पुत्री के उत्तराधिकार को
पुष्ट करने की चेष्टा की है। मनुस्मृति में वह श्लोक तो प्राप्त नहीं होता,
किन्तु उस विवार के साथ साथ इसने बाले निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं
(मनुस्मृति, नवम अध्याय) —

यद्यवारमा तथा पुत्र पुत्रेण दुहिता समा।

तस्यामात्मनि तिष्ठत्यां कथमग्यो धन हरेत् ॥ (१३०)

पौत्रदीहित्रयोर्लोके न दिशेषोऽस्ति धर्मतः ।

तयोर्हि मातापितरो समूत्ती तस्य देहत् ॥ (१३१)

पौत्रदीहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।

दीहित्रोऽपि ह्यमुत्रेनं सत्तारपति पौत्रवत् ॥ (१३२)

निम्नु ये विधान उस अवस्था के हैं जब मनुष्य को पुत्र न हो। पुत्र न
होने पर दीहित्र को ही उत्तराधिकार दे क्योंकि उसकी बाता भी उस मनुष्य
की देह से ही उत्पन्न है।

दूसरी ओर भवायणी सहिता को दुहाई देते हुए आचार्य लोग कहते हैं
कि पुत्री को कोई अधिकार नहीं। 'पुमान् दायाद अदायादा ईरी'—पुत्र
उत्तराधिकारी है, पुत्री नहीं। यही वारण है कि जन्म होते ही पुत्री को फौंक
देने हैं, पुत्र को नहीं फौंकते। मारतवर्ष में विषन घनान्दी तक कुछ जातियों में
(विशेषनया राजपूतों में) लड़ाक्यों को फौंकने की प्रथा थी जिसे बाद में
ब्रिटिश-सरकार ने अवैध घोषित करके रोका। लड़ाक्यों का दान भी होता है
(जमीदारी प्रथा में हाल तक दासियों को दहेज में दिया जाता था) उनकी

१ ऐतेव मन्त्रैर्येनैव च विधानेन पुत्रगर्भ जायीयते, सैरेव मन्त्रैस्तेनैव च विधानेन
दुहित्रायोऽपि । येनैव हि विधानेन पुत्रजनने रेत उत्पृथ्वयने, उनैव हि दुहित्र-
जननेऽपि । सत्रैव सति रेत उत्सर्गविष्यविद्युतायाजननदधारियोपादात्रविशुद्धेण, मिथुना =
पुरुषा वियथ, उभयेत्रपि दायादा हत्येवमेके शर्मविद्वो मन्दन्ते—क्षुः (निं० ३।४) ।

विको भी होती है (यह प्रथा तो अब तक है)। इन सर्वों से मालूम होता है कि पुत्रियों को सामाजिक-बधिकार से बचाने कर दिया गया था; तभी तो दान, विक्रय और अविसुर्य जैसे अभिशाप इनके सिर पर बर्तमान थे।

एक तीसरा पथ है जो इन दोनों विरोधी गतों को मिलाते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वही स्त्री पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी हो सकती है जो भ्रातृहीन हो। यही रीति आज भी है (यदि पिता ने भी जीवन काल में इसकी स्वीकृति दी हो तो वोर भी अच्छा।) — आर्यजाति में सदा से ऐसी परिपाटी रही है। जिस स्त्री का भाई नहीं होता वह अपने पुत्र को ही पिता के घन का अधिकारी बनाती है तथा पिता के घर पर ही अधिक ध्यान रखती है। पिता की सदृगति के लिए वह सचेष्ट रहती है। पति-कुल के बल्यान से अधिक चिन्ता उसे पितृकुल की लगी रहती है व्योकि वह यह समझती है कि पिता की रक्षा इस भार, उनकी सम्पत्ति की रक्षा का भार, पिण्डदान इत्यादि का भार तो और किसी पर नहीं, उसी पर (या उसके पुनर पर) सो है—यही अभिशाप है कि अभ्रातृका नारी पितृकुल में लौट जाती है। ऐसी स्त्री से विवाह करना निपिद है, ऐसी स्त्री अपने पिता के लिए पुत्र का कायं करती है। भ्रातृहीन स्त्री से विवाह का निपेश मनु भी करते हैं—

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विश्वायेत वा पिता ।

नौनयच्छेत ता प्राज्ञः पुत्रिकापर्मशद्या ॥ (३।११)

इस प्रसंग में एक व्यक्ति उद्दृश्य की गई है जिसका एक अदा है—'जायेव परप उद्धाती सुवासा।' यह चरण ऋग्वेद के कहीं भनो में है। यही अदा की गुलता भ्रातृहीन स्त्री से की गई है। भ्रातृहीन स्त्री जैसे अपने पितृकुल में लौट जाती है व्योकि उसे अपने पिता का सारा काम-काज संभालना पड़ता है, उसी प्रकार ऊदा भी अपने प्राकृतिक-नियम का पालन करने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल लौट आती है। यही जार उपमायें दी गई हैं—(१) ऊदा मनुष्यों के पास भ्रातृहीन स्त्री की तरह लौटती है, (२) वह घन लाने के लिए उस स्त्री के समान जाती है जो रंगमन पर आस्त होती है; (३) पति की कामना करनेवाली सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत स्त्री के उपान तथा (४) हँयनेवाली—मुश्फुरानेवाली न्नी की तरह ऊदा अपने रूप का प्रदर्शन करती है।

'गर्ताहक्' शब्द की व्याख्या में यास्क दादिगात्य थे नारी का उत्सेष करने लगते हैं। यह नारी धूत-शवन में घन आस करने के लिए जाती है। 'गर्तं' का अर्थ दुर्ग करते हैं वह फलक जिस पर पासे फेंके जाते हैं। ✓

उपमा के विषय में निरक्तकार वडे प्रवीण प्रतीत होते हैं। निष्ठु (३१३) में उपमा के कुछ वैदिक उदाहरणों को समझीत किया गया है। उन्हीं की व्याख्या के प्रसग में काव्यशास्त्र (विशेषतया अलद्वार-शास्त्र) की सर्वप्रथम उद्भावना यास्क ने दी है। यास्क भी अपने पूर्ववर्ती आचार्य गाम्ये के प्रणीत हैं जिन्होंने उपमा का लक्षण दिया है। उनके अनुसार उपमा के लक्षण में तीन तत्त्व होते हैं—(१) दो वस्तुओं में प्राप्तिक भेद होना, (२) उनके घमे वा उल्लेख, (३) उन घमों में उनका परस्पर साम्य होना। मुख और चन्द्र दोनों एवं तीव्रता नहीं, किन्तु दोनों में समान है। यही उपमा वा बोज है। उपमा वो यही परिभाषा विष्णु भगवन् आलदारिको ने स्वीकार की है। यद्यपि बादप्रश्ना (१०१) में 'साधार्थमुपमा भेदे' वहाँ इसका वर्णन हो लक्षण दिया गया है तथापि अभ्य यलाशारों से पार्थक्य दिक्षिताने के लिए विश्वनाथ ने माहित्यशब्दिंग में उपमा के लक्षण में कुप्त उपाधिकारी लगा दी है—

साम्य दार्थमवैषम्यं याऽपैत्य उपमा द्वयोः ।

उपमा में दो तरह के घम होते हैं—(१) वडे गुण से छोटे गुण की उपमा, या प्रतिष्ठ वस्तु के अप्रतिष्ठ की उपमा, (२) छोटी वस्तु से वडे गुण की उपमा। सामान्यत ऐसा देखा जाता है किन्तु आलदारिक लोग इनमें दोष निरालो है।^१ उपमेय की अनेक उपमान यहि जाति, प्रमाण या घमें में भूत हो सकती है तो 'वीनरत-दारा', अपिर हात से अधिरत-दोष होता है। हास्य-रत की रक्तांशों में बृहपि देवता प्रयोग वरह है जैसे 'ब्राह्मने घट्टाल के गमान बहुत साहम दिव्याया', 'यह गूँज विनाशी के गमान घमर रहा है।'^२ यही वडे गुणवाले वी उपमा छोटे गुणवाली वस्तु से दो गई है।

निष्ठु में उपमा के नाम में वारह उदाहरण दिये गये हैं जो 'वैदिक-प्रथमों' के हैं। याम्य उपमाओं के गामान्य विवेचन के क्रम में वारह प्रसार से हरा देखते हैं। ये है—रमोरपा भूतोरपा, स्पादपा और गिद्धोरपा। इनमें रमोरपा 'यथा' राङ्ग में जानी जानी है, वयोरि यथा का युद्धान्य गीये घमें में है। चदात्रण में—'यथा वासो वया वन यथा उमुह एवति' दिया गया है। भूतोरपा में 'भूत' (वह जैसा हो गया है) वा प्रयोग रहता है जैसा—

१. वारहउदाहरण (शास्त्र) ४२०-१३ ।

२. चदात्रैरेव युद्धान्यः साहम परम इतम् ; चहित्युतिः इव भावुरय वहति ।

मेयो भूतः = मैड हो गया । यह रूपक के रूप में है । उसी प्रकार 'दाहमूतो मुरारि' इत्यादि प्रयोग हैं । रूपोपमा भी वैसी ही होती है किन्तु इसमें 'रूप' शब्द वा प्रयोग होता है जैसे—हिरण्यव्यः = स्वर्ण के समान । इसी तरह 'वर्ण' का प्रयोग होने पर वर्णोपमा भी हो सकती है जैसे—हिरण्यवर्णः । 'था' प्रत्यय^३ से भी रूपोपमा ही 'मानी जाती है । सिद्धोपमा का अर्थ है ऐसी वस्तु से उपमा देना जिसका मानदण्ड स्थिर या सिद्ध हो चुका है । इसका वाचक है 'वत्'^४ जैसे—वाहृणवत्, वृपलवत् । दुर्गचार्य ने इनके उदाहरण में 'वाहृणवद अधीते' दिया है । वाहृण का अध्ययन एक मानदण्ड के रूप में सिद्ध है इसलिए अधिक पढ़नेवाले को 'वाहृणवत्-पढ़नेवाला' कहते हैं । 'वृपलवत् आक्रोशति' वहते हैं क्योंकि निन्दा करने में वृपल एक ही है, उसे निन्दा का मानदण्ड सिद्ध करते हैं । यही सिद्धोपमा वा रहस्य है । इस परिच्छेद में हम उपमाओं के नियन्त्रित वाचन-शब्द पाते हैं—इव, यथा, न, चित्, तु, आ, भूत, रूप, वर्ण, वत्, तथा । इनमें अधिकारा वा विवेचन निष्ठत के प्रथम अध्याय में निपातों के बर्णन के क्रम में हो गया है ।^५

चतुर्थ-पाद के आरम्भ में भी अलद्वारशास्त्र-विषयक विवेचना हुई है । ऊपर सो उन उपमाओं को विवेचना हुई जिनमें उपमाओं के वाचकादि विद्यमान रहते हैं जैसे—अग्नि न ये (जो ऊर्ग अग्नि के समान) । किन्तु ऐसी भी उपमायें हैं जिनके शब्द सुन रहते हैं, भेद बिल्कुल नहीं रहता । इन्हे अलकारशास्त्र में रूपक-भ्रमकार बहते हैं । वस्तुत यास्क का यह

१. निष्ठु इ१३।१०।

२. प्रवाचने याद् (पा० सू० ५१३।१५) ।

३. तेन तु स्य किया चेद्दिः (पा० सू० ५।१।१५) ।

४. महिनाप ने मैथून (१४८) में 'एक मुक्तागुणमिव मुदः' इलोक की व्याख्या करते हुए निरुचकार वा उद्देश किया है तथा उनकी आनन्द भी दियाआर है । वे कहते हैं— '(निरुचकारः) तत्र तपोपमा, यत्र इवशुभृत्य दर्हनन्—इति इवशुभृत्यदर्हनात्रापि उपग्रीव इति वज्राम' । क्या निरुचकार महिनाप के अनुभार भैयून के अलद्वारों पर भी अगुमंगान कर रहे थे । उस इलोक में उपग्रीवलद्वार है सही, परन्तु निरुचकार को क्यों पह्लोट आया गया । यास्क के समय में तो उपग्रीव का विचार भी नहीं उठा था । महिनाप जैसे चतुर्नु'स्त्री प्रणिभावाले दीवाकार के मुग्र से बालातिकम दोष (Fallacy of Acauchronism) से युक्त वाक्य दीभा नहीं देता । या ये और दूसरे ही निरुचकार हैं । इस टथ्य की ओर नेरा च्यान आहृष्ट बरने के लिए जैसे अपनी गिर्भा दुर्बुद्धदास (पटना वालेज) का दृश्य है ।

विवेचन अत्यन्त प्राथमिक दशा (Primitive Stage) का दौरा है, उपमामूलक अन्य अलकार भी उपमा के ही अन्तर्गत माने जाते थे। इस विषय पर एक पृष्ठक् विवेचणात्मक निबंध (Research Paper) भी आवश्यकता है। एक दूसरे पर इस तरह की वस्तु वा आरोग्य दो कायी के लिए ही सकता है—निन्दा के लिए या प्रशासा के लिए। निन्दा के लिए 'इवा' और 'काक' का प्रयोग होता है, प्रशंसा के लिए व्याघ्र और सिंह का। दुर्ग इसकी व्याख्या में कहते हैं कि 'सिंहो देवदत' (देवदत ही सिंह है) में ऐसी शोर्द बात नहीं कि सिंह ही देवदत है, प्रत्युत देवदत में सूरता आदि सिंह के क्षिण्य गुण हैं। यह वाक्य उसी अभिप्राय को ध्यक्त करता है जिसकि इसमें उपमा वा वाचकादि विवा वहे हए स्वयमवस्था है। चबलता होने पर कुत्ता तथा पृष्ठता होने पर बाल वहते हैं। पाणिनि ने 'उपमित व्याघ्रादिभि सामांग्याप्रयोगे' में ऐसे ही कुछ शब्द गिनाये हैं जैसे—व्याघ्र, सिंह, शूक्र, चन्द्र, वराह, हस्तिन्, आदि। स्मरणीय है कि इन शब्दों की उत्तरस्थि म रेखार उपमित (= उपमानोत्तरस्थि) अर्थपारप समाप्त बनाया जाता है।

इसी प्रस्तुति में यास्त के भाषाविज्ञान के एक प्रश्न—शब्दोत्तरति—पर कुछ प्रश्नाएँ दाला है। कुछ आधार्य उस गमय भी इतनि भी अनुकूलति से शब्द की उत्पत्ति मानते थे। आपुनिह भाषाविज्ञान में प्रो॰ देवमूलर ने इसे प्रह्लादित गिया था। यास्त का बहना है कि पश्चियों का नाम बहूपा इसी प्रकार से पड़ता है। इसके विरुद्ध ओमगम्यव वा बहना है कि शब्दानुकूलति (Onomatopoeia) से दब्लौ भी उत्पत्ति नहीं होती। ऐसी दग्ध में यास्त आदि शब्दों भी अनुकूलति होती। इस प्रकार यास्त अनुकूलति और अनुकूलति दोनों पदों का स्वीकार करते प्रतीत होते हैं यद्योंकि ओमगम्यव के विद्वान् भी अनुगार वार की निरूपिति (Etymology) भी करते हैं और दूसरी ओर इसमें शब्दानुकूलि भी मानते हैं। यह दोनों हैं कि सभी शब्द एसी प्रकार नहीं बनते, परं भी प्रत्येक भाषा में इस तरह ये बने हुए शब्द रहते हैं, इसमें शोर्द संदर्भ नहीं। उदाहरण के लिए हम बाल, निंदा, वरयर, सरकना, कलहत, Hiss (उत्तर की पुरासार) आदि शब्द से सहते हैं। बहुतः यास्त भी यह शूष्ट बहे बाल की है।

एक परिचयेति में ही बाद के पन्द्रह मुद्रायों का माम देवर २१ में समुदाय में बनेपान शब्द-युक्तों की व्याख्या विस्तारपूर्वक भी नहीं है तथा प्रश्नर शब्द

का नामोल्लेख करते हुए उसका उदाहरण प्रदर्शित है। ये शब्द-युग्म प्राय एक ही अर्थ के हैं। इनमें सर्वनाम, सज्ज तथा किया भी हैं और वे भी विभिन्न रूपों में। कोई तृनीया बहुवचन में तो कोई प्रथमा में; कोई लट्ट में कोई लोट्ट भी। फिर भी अर्थ के अनुसार ये बैठाये गये प्रतीत होते हैं। अन्त में यावायुधिकी की महिमा का वर्णन करते हुए अध्याय की समाप्ति की गई है। तृनीय अध्याय के साथ साथ निश्चिक और निष्पण्डु-काण्ड भी समाप्त हो जाता है।

(घ) चतुर्थ-अध्याय -

[नैगम या ऐक्षणिक काण्ड, इसकी विशेषता—जहा, निधा, दमूना, मूप—'कुरुतन'—'तितउ'—भाष्य में उद्धरण—'शुन्म्यु' के विभिन्न अर्थ—निपात—नूचित, नूच—वच्छप—चयवन और इनका इतिहास—रजा और हर—यम-यमो सवाद—अदिति और संश्वर-याद—उदात्त और उसका प्रयोग—प्रहेलिका मंत्र—इनकी उत्पत्ति की कल्पना ।]

निष्ठक के चतुर्थ अध्याय से लेकर पठ अध्याय तक को नैगम काण्ड कहते हैं क्योंकि इन अध्यायों में निष्ठु के चतुर्थ अध्याय (नैगम ३ घट) की व्याख्या हूई है । निष्ठु के चतुर्थ अध्याय में स्वतन्त्र शब्दों का सद्गत तृप्ति है । पहले तीन अध्यायों की भाँति पर्यायिकाची शब्द उपरे नहीं । 'स्वतन्त्र होने' के बारण ही इस ऐक्षणिक (एक-एक पद पुथर् पुयक्ष हो) काण्ड भी कहते हैं । ये शब्द ऐसे हैं कि इनकी यनावट का पता नहीं लगता । दूसरे इनके शब्दों में अनेक अर्थ भरे हैं जब वि पर्यायिकाची शब्दों में एक ही अर्थ ये लिए अनेक शब्द होते हैं ।

यह विषारणीय है कि इन काण्ड में याद क प्रत्येक शब्द की व्याख्या कहते हैं, पहले की तरह पूरे बग ऐ बेतल दियो एक शब्द का लेकर ही नहीं बड़ जाते । बारण स्पष्ट है कि यदि यही प्रत्येक शब्द की व्याख्या नहीं की गई को निष्ठक का लड़क हो मिठ नहीं होगा । पर्यायिकाची शब्दों की व्याख्या का तो वस्तुतः प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उनके अर्थ तो स्पष्ट हैं; ही, शुत्रति जान लेनी चाहिए । दूसरी ओर ऐक्षणिक-काण्ड के शब्द न बेतल स्वतन्त्र हैं, प्रायुक्त इनके गत्तार (Formation) भी अनवयन या अस्तित्व हैं । ऐसी हात में प्रत्येक शब्द की व्याख्या के मिला दूसरा कोई ढाय नहीं कि हम उनके अर्थ जान सकें । ये अर्थ भी कही हैं । अब दुर्गाचार्य ने याद को लौटी के विषय में यह इनोक दिया है—

विश्वीर्यं हि मदृग्नानमृग्यं सोरतोऽवकीन् ।

इस्टं हि विदुरा श्वो गमाग्यामयारणम् ॥

अर्थात् कहिये ने, जान का वायविक विष्वार बरन के बाद गमेगे भी यहा है क्योंकि गमार में विद्वार्नों का अभीष्ट रहता है कि गमाग एवं व्याग

दोनों शैलियों को अपनावें। दूसरे तीसरे अध्यायों में यास्क ने समाप्त (संक्षेप) शैली प्रहृण की है जिसकि पर्यायवाची शब्दों के पूरे वर्ग से एक-दो शब्दों की व्याख्या ही काफ़ी समझाने हैं। यह सौनाम्य भी उन्हीं शब्दों को मिलना है जिनके अर्थ में या रचना में कुछ विशेषता रहती है। चतुर्थ अध्याय से यास्क की शैली व्यासप्रधान हो गई है और वे प्रत्येक शब्द की व्याख्या करने लगते हैं।

नैगम काण्ड की शैली का परिचय दुग इन शब्दों में देते हैं—

तत्त्व पर्यायशब्देन व्युत्तर्त्तिश्च द्वयोरपि ।

निर्गमो निर्णयश्चेति व्याख्येय नैगमे पदे ॥

अर्थात् नैगमकाण्ड से शब्द का उल्लेख, उसका पर्याय, दोनों की व्युत्तर्त्ति, शब्द का वैदिक उदाहरण, निर्णय—ये ही विषय इस काण्ड की व्याख्या में आते हैं। स्मरणीय है कि ये ही विषय अन्य काण्डों के भी हैं। इन लक्षण के द्वारा कोई विशेषना नहीं बनलाई जाती।

जहा, निधा आदि शब्दों की व्याख्या यास्क ने एक-एक करके की है। जहा का अभिप्राय है जघान (मारा)। यास्क इप \checkmark हन् से निष्पन्न द्वितीया हुआ लिट् लकार का रूप मानते हैं। यच्चि \checkmark हा (छोड़ना) से भी इस शब्द के निष्पन्न होने की सम्भावना है और ऐसे प्रयोग वैदिक-साहित्य में प्राप्त भी है किन्तु यास्क ने उसे छोड़ दिया है। यकृत सम्भव है कि यह 'जहो' (\checkmark हा + लिट् प्रथम पुष्ट एक वचन—आत औ गल) का विकल्प रूप हो प्रयोक्ति वैदिक भाषा में वहूधा ओरुरात रूप आकारान्त भी मिलते हैं। तुलना करें—प्रियो-प्रिया, शुक्रो शुक्रा। अन जहो-जहा वैकल्पिक रूप ही सकते हैं। 'निधा' शब्द तो नि \checkmark धा (भीये रखना) से बना है जिसमें किसी भी आपत्ति नहीं। इसका अर्थ है जाल (पाशपूह).

नैगम काण्ड का चमकता हुआ आदरा 'शिताम' शब्द की व्याख्या में देखा जा सकता है। यास्क ने अपने ललाचे दूसरे-दूसरे आचारों के भत्त भी इसमें दिए हैं। (१) यास्क के अनुसार 'शिताम' का अर्थ है हाथ का अगला भाग, (२) शात्रपूणि इसका अर्थ योनि लेते हैं, (३) सेटीकि इसे यहते मानते हैं और (४) गालव द्वारे चर्चा (शेतमास) मानते हैं। दुंग का कहना है कि पशु के बाहरी और भीतरी दो अवदान (अग) हैं, नितम्य (श्योणी) और ददन्य बर्णि बाहरी अग हैं जब वि जोग, हृदय, यकृत (विगर) आदि भीतरी अंग हैं। यास्क के द्वारा दिये गये उद्दरण में थोणी

और पाश्वं दोनों बाहरी अग हैं अत यह सिद्ध है कि शिताम वा अर्थं वोई बाहरी अग ही होगा जैसे हथ वा अग आग । इस तरट दुर्गं ने यस्त का पथ लिया । अब शावपूणि वे अर्थं (योनि) वा समाप्तान वरते हैं । 'पाशवतः श्रीणित शितामत' में एक के बाद दूसरे अग वा अर्णत लिया जा रहा है । श्रीणो वे बाद का प्रदेश गुद प्रदेश है जिसे शिताम या योनि वहा गया है । शिताम का अर्थं योनि लेने पर 'शिताम' की व्युत्पत्ति विष् (व्याप करना) से वरते हैं (जो पुरोष से व्याप हो, जिसका मास विषिल हो) जिन्नु विषित की शुद्ध व्युत्पत्ति विषं सो (खुला होना) से मानना ठीक है । अंत में दुर्गांचार्य को स्वीकार करना पड़ता है कि 'शिताम' की रचना कठिन है तथा इसका अर्थं भी अनिदिच्छत है । उहोने अनवगति के दस प्राप्त भी बतलाये हैं जिनके नाम मूलग्रन्थ में देखे जा याते हैं । जैसे 'शिताम' वे अर्थं को जानना कठिन है वैसे ही वेद में कई दाढ़ हैं जिनके विभाग को, स्वर वा, या कर्म आदि को जानना कठिन है ।

'ऐहना' ऐसा ही शब्द है जिसके विभाग के विषय में सदैह है । या तो यह मह (पूजा करना) से बना है या मे (मुझे) ह (यहाँ) वा (नहीं)—इन तीन पृथक् पदों का संयोग है । इस अर्थं वा पीचदाँ पद है 'दमूना' । इसके कई अर्थं सम्भव हैं—दमायुद्धि बाला, दान की प्रदृश्टि बाला, संघम रखने वाला । ये सभी अर्थं या तो दृश्य वा दा से आते हैं, जिन्नु याक का दूसरा भी विकल्प है—'दमस्' = घर, अत दमूना = घर में प्रदृश्टि । घर के अर्थं में 'दमस्' का प्रयोग वैदिक साहित्य में तो है ही (तुल० वर्धमान स्वे दमे—क० १।१।६), साथ ही साय अन्य भारोपीय भाषाओं में भी इसका प्रयोग है जैसे—लैटिन Domus औरेजो Domestic यही यह व्यान रखता है कि यूरोपीय भाषाओं वा हस्त अ, ए, ओ भारत ईरानी अर्थ में 'अ' हो जाते हैं अत दोस् से दमस् होता है ।^१

'मूप' शब्द विष् (चुराना) से बनता है क्योंकि जूहे अन्न चुरा लेते हैं । इसीसे सहृत में मूदिक बना है । मूप वहुन प्राचीन शब्द है क्योंकि इसके समाना-तर शब्द भारोपीय-पर्तिवार में प्राय अर्थं मिलते हैं । देतिये—ग्रीक Mys, लैटिन Mus (मूप), जर्मन Maus, ऐ० सं० Mus, वहुवचन में Mys, अंगरेजी Mouse, वहु० Mice^२ मूप का

^१ Cf. Dr. Bala Krishna Ghosh, Ling. Intro. to Skt. Chap II

^२ Chamber's Compact Dictionary, 1934 p. 410.

प्रयोग दिखलाने वाली ऋचा पत्ति छन्द में है जिसमें एक अनुठी घटना का वर्णन है। त्रित नाम के कोई ऋषि किसी कुएँ में गिर पड़े। दोनों ओर की इंटो के गिरने से वे कष्ट पाने लगे। जैसे अपनी सपत्नियों को देखकर कोई स्त्री अपने पति को तंग करती है उसी प्रकार ये ऋषि भी हुख पाने लगे, पीड़ा इन्हें चारों ओर से खाने लगी मानो चूहे तेल, थो आदि में लिपटी हुई अपनी पूँछ को साते हैं। पहले ऋषि ने इन्द्र को पुकारा, पर कोई उत्तर न मिलने पर यावापृथिवी को कहने लगे कि तुम्हीं लोग साधी हो, मेरी दशा पर ध्यान दो।

'कुरुतन' में यास्क 'न' प्रत्यय को स्वार्य (निर्यंक) में मानते हैं, वेद में बस्तुत, लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन में त, तन, यन ये तीन प्रत्यय लगते हैं। 'तितङ' चलनी को या छन्ने (Filter) को कहते हैं। यास्क के समय में चमड़े से हंडी हुई, तिल के समान छोटें-छोटे छेदों वाली चलनी का प्रयोग था। इसके प्रयोग के लिए दी गई ऋचा ऋग्वेद के विद्या-सूत्र में है (१०.७१)। इसका अर्थ है कि जैसे सत्तू को चलनी पवित्र करती है, समस्त विकारों को दूर कर देती है उसी प्रकार दिद्वान् लोग अपनी वाणी को मन से पवित्र करने के बाद व्यवहार में लाते हैं। कहने वा अभिप्राय यह है कि वाणी की कंशता, निन्दाप्रियता आदि मन के द्वारा दूर कर दी जाती है जब कि उन दोषों के परिणाम पर विचार किया जाता है। एक शास्त्र पड़ने वाले लोग परस्पर समान तन्त्र की मित्रता को पढ़चानते हैं। उनमें पारस्परिक ज्ञान-प्रकरण की जानकारी रहती है। ऐसा होने पर ही वे लोग मन में सोच-विचार कर आपा का प्रयोग करते हैं जिससे उनकी वाणी शोभावती बन जाती है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में ही ध्याकरण-शास्त्र (शब्दानुशासन) के आनुपगिक प्रयोजनों का विवरण करते समय उद्धरण दिया है और इसके द्वारा ध्याकरण पड़ने का फल दिखलाया है।

अपनी स्वाभाविक मति में यास्क लोघ (लोभी), शीर (अग्नि) आदि शब्दों की व्याख्या करते हुए 'अयस्त्' शब्द के प्रयोग दिखलाने के लिए एक ऋचा का उद्धरण देते हैं जिसमें 'शुन्ध्यु' आता है। 'शुन्ध्यु' के बई अर्थ हैं— (१) आदित्य, (२) पक्षी, (३) जल। इन सभी वर्थों में √शुध् का ही प्रयोग है। अयस्त् का अभिप्राय 'अग्न धौटने वाली भाता' है जो प्रातः काल में ऊपा की तरह ही अपने पुत्रों को जगानी है।

प्रथम अध्याय में ही निपातों का स्थान दिखलाया जा चुका है। इनके

जिनके अर्थ 'पुराना और नया' हैं। भाषा-विज्ञान की हट्टि से 'नु' 'नू' तथा 'नृ', 'नवीन', 'नूनन' आदि शब्दों की उत्पत्ति एह ही है तथा इनके पापानान्तर रूप यूरोपीय भाषाओं में भी प्रिलते हैं। देखिये—ग्रीक Nyo, लैटिन Nunc, ऐं० सं० Nu तथा संस्कृत में 'नूनम्'। 'नव' के लिए श्रीक Neos, लैटिन Novus, ऐं० सं० Niwe, neowe बैंगरेजी Now, new.^१

इसके बाद 'दावने' और 'अकूपार' शब्दों की व्याख्या ही है। निघण्डु में इसका यही अर्थ है किन्तु निरुक्त के बैंदिङ उद्धरण में उनसा कम उलट दिया गया है, पहले 'अकूपार', तब 'दावने'। इस पर दुग्धचार्य कहते हैं कि निघण्डु और निरुक्त विभिन्न व्यक्तियों की रचना है यदोकि यदि दोनों एक ही की फृति होती तो वपने ही कम का उल्लङ्घन यास्क करते करते? ^२ पह हमारे द्वितीय-परिच्छेद में प्रतिपादित विषय का पोषण है। अस्तु अकूपार के कई अर्थ हैं। मूल अर्थ तो 'असीम' है किन्तु दूधरे भी अर्थ हैं जैसे—गादिद्य, समुद्र, कच्छप (कलुआ)। 'कच्छप' को यास्क तीन भागों में बाँटते हैं क (ख) — छ (छह) — प (वा)। किन्तु भाषा-विज्ञान की हट्टि से पह गलत है यदोकि पह क्षयप / क्षयश / कच्छप होकर बना है, कच्छ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। संस्कृत-भाषा में तालव्य यणों की उत्पत्ति (Palatalisation) यहूत बाद में हुई है। श् का छ से बना सम्बन्ध है यदोकि श् सामान्यतः छ बन जाता है। अत छ् या च् की उत्पत्ति में श् (मूलतः स्) का बदा हाथ है। ^३

च्यवन (चयवन) एह बैंदिक ऋषि ये जिन्हे युद्ध होने पर अश्वमीकुमारी ने पुन युद्धक बना दिया था। इसी सरेत को सेकर पुराणों में च्यवन की कथायें गढ़ी गयी। वाणिभट्ट ने हर्यंचरित में भी च्यवन का पूर्वपुरुष के रूप में वर्णन किया है। लोकोत्तिः एव इष सरेत के बाधार पर च्यवन का आश्रम लोग गया जिले के देवकुण्ड (देवकुल? — अपभ्रंश—देवकुर) में मानते हैं। वाणिभट्ट भी इसी के पास पीह—बननारा (प्रोतिकूट) के निवासी ये—ऐसा

१. वही, पृ० ४२०, ४२५।

२. तेन शायतेऽन्यैवायभृषिभिः समान्याः समान्याः अन्य एव चावं मायकार इति। एको हि समान्यान साम्य च कुर्वन् प्रयोजनस्यामावादेकमन्त्रगतयोः पाठानुकमं नाभ्रह्मयत्।

३. देखिए—Batakrishna Ghosh, वही पृ० ७४।

कुछ लोग कहते हैं। यदि च्यवन वेदिक अहंपि थे तो कोकट (?) देश में कौसे आये। फिर भी वायुपुराण में कहा गया है—

कोकटेषु गया पुण्या नदी पुण्या पुनःपुनः ।

च्यवनस्याथर्पं पुण्यं पुण्यं राजगृहं वनम् ॥

रजः और हर. ये दो नपुसक शब्द हैं तथा विभिन्न अर्थों से प्रयुक्त होने हैं जैसे—ज्योति, जल, लोक, रक्त तथा दिन किन्तु इन अर्थों को ज्ञापकता के विषय में कोई व्युत्पत्ति नहीं दी है। इसी प्रकार अन्य पदों की व्याख्या के बाद यास्क 'विषुण' को व्याख्या करते हुए 'शिशनदेवाः' शब्द का प्रयोग करते हैं जो लिंगपूजा की ओर सकेत है। फिर भी यास्क और दुर्ग यह नहीं स्पष्ट करते कि लिंगपूजा होती थी। इसका प्रधान अर्थ है—जो व्रह्मचारी नहीं, इन्द्रिय-सुख ही जिनका प्रधान लक्ष्य है। शिशनदेव का अर्थ फिर भी यास्क को मानूम नहीं था। यूरोप में भी बहुत दिनों तक लोग लिंग की पूजा करते थे (१८ वीं सदी के मध्यतः)। समस्त विश्व में (विशेषतया आयरलैंड में) लिंगपूजा के अवशेष प्राप्त हैं। आपों ने भारत के द्विंडो से लिङ्गपूजा सीखी। कुछ लोगों का कहना है कि मेषोल नृथ्य तथा ईसा वा नॉस भी लिङ्गपूजा के ही अवशेष हैं।¹

'जामि' शब्द के प्रयोग को दिखाने के लिए यास्न अहरवेद के प्रसिद्ध यम-यमी सवाद-सूक्त से एक कहा का उद्धरण देते हैं। इस सूक्त में यम उदात्त चरित्रवाला पुरुष है जब कि उभी कुल की यमी उसे अपने प्रलोभनों में फैसाना चाहनी है। यम अपने चरित्रवाल का परिचय देते हुए उससे किसी अन्य को पति बनाने को कहता है। अबते युग में ऐसी सम्भावना है कि भाई-बहन विवाह कर लें या एक कुल के मनुष्यों में ही विवाह हो पर वेदिक समाज-व्यवस्था ऐसी नहीं कि लोग समाज गोत्र के साथ विवाह करें। इस सूक्त में कुछ मन्त्र यम के बोते हुए हैं, कुछ यमी के। इसी प्रकार अहरवेद में और भी कई सवाद-सूक्त हैं जैसे—पुरुरवा-उवंशी सवाद (१०।८।१) और सरमा-पणि सवाद (१०।१३०)। इन सवाद-सूक्तों को डा० ओल्डनबर्ग 'आख्यान' के नाम से पुकारते हैं जग्नि सिल्वां लेबी, ओदर, हट्टेल आदि विद्वानों की दृष्टि में ये वस्तुतः नाटक के ही बचे-सुने रूप हैं। इनका प्रयोग यज्ञों में होता था।² डा० विन्तरनित्स इन्हे लोकप्रीत काव्य (ballad) का

१. देखिये—Encyclopaedia of Religion and Ethics, under Phallism

२. द्रष्टव्य—प० वल्देव उपाध्याय, सर्कन साहित्य वा इतिहास (पचम सरकरण) ७० ३९४-३५।

नमूना मानते हैं। ये कुछ तो कवात्सक हैं तबा कुछ रूपात्मक, अतः इनसे ही एक और महाकाव्य बने दूसरी ओर हैं।^१

इसके बाद चतुर्थ-पाद में अदिति को संसार मात्र ही कहा गया है। भूतकाल की भगवन् वस्तुएँ भी अदिति हैं तथा उत्पद होने वाली वस्तुएँ भी। यह अन्त्र वैदिक सर्वेश्वरवाद का आदर्श उपरिषद करता है। पूरा विश्व ईश्वरमय है। भारत की नैतिकता का मूल ही सर्वेश्वरवाद है। सभी जीवों ने, पेणु-पौधों में, पदार्थों में अदिति का निवास मानने से ही अहिंसा की भावना आती है, अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं से सतुष्टु होकर किसी पदार्थ का अनावश्यक उत्तरण बन्द कर देने से अपरिहर्य-भावना आती है। इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने ईश्वरमय जगत् देखने को चेष्टा की थी। यद् भावना कदाचित् इसलिए हुई हो कि सभी पदार्थों (जैसे अग्नि, बायु, पत्तर, छुरा) में अलग-अलग देवता की कल्पना की गई थी—सदों का सकलन करने पर यह विचार उठा होगा।

उदात् और अनुदात् के विषय में यादृक के निरीक्षण (observations) बड़े काम के हैं। वे कहते हैं—सोत्रार्थंतरमुदात्तप्, अल्पीयोऽर्थंतरमनु-दात्तप्। अभिशाय यह है कि अधिक बल देने पर उदात् होता है, कम बल देने पर अनुदात्। वास्तव में इन दोनों स्वरों का यही रहस्य है। यह स्मरणीय है कि भाषा के प्रवाह में बहुत-से शब्दों में स्वर-परिवर्तन (Accent-shifting) होता रहता है। इसके पर्याप्त उदाहरण हमें अंग्रेजी-भाषा के इतिहास में प्राप्त होते हैं। मध्यकाल से आधुनिक काल तक ही नहीं, गत १०० शर्वं पूर्व जो बलापात्-नियम (Accentuation) पा यह आज नहीं है; किन्तु इसके मूल में यही पारणा काम कर रही है कि महत्त्वपूर्ण होने पर किसी पर बलापात् दें, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि अंग्रेजी कविता में बहुपा ऐसे वचों (Syllables) पर बलापात् पड़ता है जिसपर गद्य में नहीं होता तथा कभी मुख्य शब्द भी उनकी इच्छा न होने से बलापात् नहीं ले पाते। निष्कर्ष यह है कि महत्त्वपूर्णता और उदात् में अधिक सम्बन्ध है। वेद में भी वायादि की किंवा ये उदात् पड़ता है, जीव में नहीं। यह ध्यान में रखना चाहिये कि भाषण के आदि में किया हूम तभी रहती जब उसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध करना लगता होगा।^२

१. *History of Indian Literature*, Vol. pp. 102-103.

२. देखिये—पा० सू० ११२८ लिखतिः।

अन्त में एक प्रहेलिका भग्न का विवेचन है जिसमें सह्या के धाघार पर सूर्य और सवत्सर का वर्णन किया गया है—एक पहिये वाले रथ को (= सूर्य को) सात (किरणें) जोतती हैं या ले चलती हैं। सात नामोवाला घोड़ा इसे खीचता है। यह घोड़ा सूर्य ही है। सम्भव है पूरे भूमध्यल को खीचने वाले सूर्य का अर्थ हो। उत्तराधि में सवत्सर का वर्णन है। उस चक्र में तीन नाभि या अद्युयें हैं, वह चक्र बजर-बमर तथा अप्रतिहत है जिसमें समस्त सप्तास्त निवास करते हैं। अत विष्व को पहेली के रूप में देखना और वर्णन करना वेदिक-युग में भली-भीति आरम्भ हो गया था। इसके अन्य उदाहरण हैं जैसे—‘चत्वारि शृङ्गा भयो अस्य पादा.’, तथा ‘अट्टी व्यस्यत् ककुम’ आदि। यही नहीं, रूपक वर्णकर भी वर्णन किये गये हैं जैसे पुष्पमूल में प्रीष्म को इन्धन तथा दारद को हवि मानता। इन पहेलियों की विषयवस्तु तथा इनके विकास का अध्ययन भनोरड्जक अनुसन्धान होगा। अमीर खुसरो सम्भवत हिन्दी वा प्रथम पहेलीकार था। सारांश यह है कि वेदों से ही भारत के सारे विषय आरम्भ होते हैं। भारतीय लोग इस्हे अपौरुषेय इसलिए मानते जाये हैं कि वोई भी ज्ञान वेदों से बढ़कर या भिन्न नहीं हो सकता। कुछ भी पढ़ना हो, वेदों को उलटना ही पड़ेगा—

यदिहास्ति तदन्यन् यन्नेहास्ति न तत् वचित् ।

(८) सप्तम-अध्याय

[सप्तम-अध्याय—देवता-विज्ञान—ऋचाओं के भेद—विषय—मन्त्र में देवता की पहचान—देवताओं के तीन भाग—विभाजन को अन्य रोतियाँ—देवताओं से सम्बद्ध वस्तुएँ—एकदेवगाद—षट्कृदेववाद—सर्वेश्वरवाद—कैथेनोयिज्म—स्वरूप-विचार—मानवीकरण उसकी विशेषताएँ—अग्नि, जातवेदस्, वैश्वानर—ग्रामनिष्ठ-विज्ञान ।]

प्रथम-अध्याय यदि निस्त का हित्य की भूमिका है तो सप्तम-अध्याय वैदिक-बाह्यमय के देवता-विज्ञान (Theology) की भूमिका है । देवताओं की व्याख्या के पूर्व यास्त्र देवताओं और मन्त्रों में सम्बन्ध में घटूत सुन्दर और प्रामाणिक ज्ञान देते हैं ।

प्रत्येक मन्त्र का कोई-न-कोई देशता होता होता है । यदि किसी मन्त्र में कई देवताओं के नाम आयें तो उसमें जिसकी प्रयातता हो उसे ही मन्त्र-देवता मानते हैं । ऋग्वेद की सभी ऋचाओं को यात्र की भागों में बांटते हैं—
 (१) परोक्षरूप ऋचायें वे हैं जिनमें अन्यपुरुष का प्रयोग हो, (२) प्रत्यक्षरूप ऋचाओं में मध्यमपुरुष का कथा (३) आध्यास्मिक ऋचाओं में उत्तमपुरुष का प्रयोग होता है अर्थात् देवता स्वयं बोलते हैं । ऋचाओं का यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है और पुरुषवाचक सर्वतोम (Personal Pronoun) के आधार पर किया गया है ।

ऋचाओं में वर्णित विषयों (Subject-matter) के सम्बन्ध में यास्त ने एक लम्बी सूची दी है—स्तुति, वापना, चाप्य और अभिशाप, अवस्था-विशेष, निन्दा और प्रशंसा आदि का वर्णन ऋचाओं के विषय है । यास्त ने भी अपनी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में मन्त्रों के लक्षण करते समय उनके पदार्थों की गणना कराई है, जैसे—अनुष्ठान का स्मरण करनेवाले, स्तुतिवाले, धन्त में 'त्वा' वाले (त्वान्ता); आम-ब्रह्म युक्त, प्रेरक, विचार करनेवाले, परिदेवना (शिकायत) करनेवाले, प्रस्नार्थक, उत्तरवाचक आदि । इन पदार्थों का अन्त नहीं, इसलिए वे कहते हैं—

ऋषेऽपि पदार्थाना नान्त यान्ति पुष्टत्वशः ।
 लक्षणेन तु सिद्धानामन्त यान्ति विपश्चितः ॥

अर्थात् यदि पदार्थों का अलग-अलग वर्णन किया जाय,^१ तो अन्त हो ही नहीं सकता; बुद्धिमानों को चाहिये कि लक्षण से ही इनका वोध करें। यास्क भी इन पदार्थों के विषय में आनन्द्य का ही संकेत करत है—‘एवम् उच्चावचं अभिप्रायैः शृणुषाम् मन्त्रदृष्ट्यो भवन्ति’ (निं० ७।३) ।

किसी मन्त्र में देवताओं को पढ़चानने के लिए यास्क ने उपाय बतलाया है कि जब मन्त्र में देवताओं का उल्लेख नहीं है तब उस मन्त्र को जिस देवता के यज्ञ या यज्ञ के भाग में प्रयुक्त करें उसी देवता से सम्बद्ध मानें। यदि यज्ञ का प्रसार न हो तो ऐसे सरथक-विहीन (लावारिस) मन्त्रों को प्रजापति-देवता का (याजिको वे अनुसार) या नराशंस का (निरक्तकारों के सम्प्रदाय के अनुसार) समझें। नहीं तो अपने इष्टदेवता या देवताओं का समूह को ही ऐसे मन्त्रों का देवता समझें। यद्युभी जान सेना चाहिये कि अदेवता की स्तुति भी देवता के समान होती है इसलिए ऐसे मन्त्र तपाकृषित अ-देवताओं वे भी हो सकते हैं ।

यास्क ने देवताओं के तीन भाग किये हैं—पूर्ववी के देवता अग्नि, अन्तरिक्ष के यायु या इन्द्र, स्वर्ग के सुयं । यद्यु विभाजन नहीं वेद के एक मन्त्र (१।१३।१।१) पर आधारित है ।^२ इस प्रकार ये तीन ही प्रधान देवता हैं । यास्क का यह अभिप्राय नहीं कि और सभी देवता इन तीनों के ही विभिन्न-स्वरूप हैं, किन्तु एक स्थान में रहनेवाले सभी देवताओं के रूप में पाप्य रहता है । इस पर यास्क पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष लेकर विवाद करते हैं और निकटवर्ती निकालते हैं कि ये मनुष्यों के राज्य के समान हैं जहाँ राजा की प्रधानता होती है । उसी प्रकार जैसे पूर्ववी के बहुत-से देवताओं में अग्नि की प्रधानता है । इसका कोई विशेष अभिप्राय नहीं ।

प्रो० मैकडोनल^३ ने देवताओं के विभाजन के कुछ अन्य सिद्धान्तों का भी निर्देश किया है—ऐतिहासिक-वर्गोकरण जिसमें भारत-पूरोपीय सम्यता से लेकर वैदिक-युग तक वे देवताओं के विभास के अनुसार काल-अक्षम से

१. तुलनीय—महाभाष्य (पश्चाद्धिक), उत्तरों और अपवाद इसी इष्टण की आवश्यकता तथा प्रतिपदपाठ की कठिनाई ।

२. ये देवासो दिव्येवादय रथ धृष्यन्यामध्येकादद्य रथ ।

अप्सुष्टिवो महिनैवादद्य रथ ते देवा यज्ञमिम जुष्यन्ध ॥

अयौद्य दे देवगण ! अपनी महिमा से आप स्वर्ग में भ्यारह हैं, पृथ्वी में भी भ्यारह हैं, अन्तरिक्ष में रहनेवाले भी आप भ्यारह हैं, वे देवगण इस रथ की सेना करें (आनन्द लें) ।

३. *Vedic Mythology*, Strassburg, 1897, p 18-19.

विभाजन किया जा सकता है; देवताओं की पारस्परिक-महत्ता के आधार पर भी उनका वर्गीकरण सम्भव है; अथवा जिस प्राकृतिक-आधार का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उस नियम से भी वे विभक्त किये जा सकते हैं। इस अन्तिम वर्गीकरण को ही वे सदसे उत्तम समझते हैं तथा इसी का अवलम्बन चाहोने स्वयं भी किया है।^३

यास्क ने देवताओं के तीन भाष्य करके उनके विषय से साक्षद् वस्तुओं के नाम भी गिना दिये हैं। ये वस्तुएँ केवल विशिष्ट देवता से ही सम्बन्ध नहीं रखती, प्रत्युन उस स्थान में रहनेवाले हरेक देवता के नाम में भी वे ही वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं। जैसे स्वर्ग में रहनेवाले सूर्य के विषय की ओर वे ही विष्णु के नाम में भी दो जाती हैं वयोःकि वे भी उसी स्थान के निवासी हैं। केवल इतना ही नहीं, भिन्न भिन्न स्थानों में रहनेवाले देवताओं की ओर भी परस्पर व्यवहृत होती हैं। अग्नि के विषेषण सूर्य, इन्द्र आदि में भी लगाये

३. प्रो॰ जैकडोनल ने अपना पुस्तक ‘ैटिक मिर्डोलजी’ में (पृ० १५-१६ तक) देवताओं के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है तथा उनका वर्गीकरण करके प्रत्येक विशेषता का वर्णन किया है। जिन देवताओं का वे वर्णन करते हैं वे हैं—

(क) स्वर्ग के देवता—सौ, वरुण, मित्र, सूर्य, सवित्र, शूपर्, विष्णु, विवर्त, आदिस्याग, उपसू, अधिन् दुरुगल।

(ख) अन्तरिक्ष के देवता—इन्द्र, वित आप्त्य, भावनवाद, मातरिशन्, अदीर्ज्य, अज एवपाद, रुद्र, महदूषण, पर्वत-य आप।

(ग) पृथ्वी के देवता—नदियाँ (सरस्वती), पृथिवी, अधि, सोम।

(घ) भावात्मक (Abstract) देवता—सवित्र, पातृ, स्वदृ, धर्म, विश्वकर्मा, प्रजापति, मनु, अद्य, अदिति, दिति।

(ङ) देविर्याँ—देवस्, वाक्, पुरन्धि, पितृग, इता, सरवनी, रात्रा, पूर्णि, इन्द्राशी, वरणानी, अश्रायी, सूर्या, देवपक्षियाँ।

(च) सुर्य देवता—मित्रावरुण, इन्द्रावस्त्रा, घनाशृष्टिशी (रोदसी), इन्द्रवायु, इन्द्राशी, इन्द्रावहस्ति, इन्द्रानिष्ठु, इन्द्रापूषणा, सोवारुदा, अशायोगा।

(छ) देवताओं के समूह—यरुदूण (२१ या १८०), रुद्रगण (सरया गनिश्चित), आदिस्याग (७ या ८), विद्वे देवा।

(ज) छोटे देवता—ऋग्युग, अप्सराग, गन्धर्वगण।

(झ) रुद्र वरने वाले (Rateley) देवता—वास्तोपति, शेषस्य पति, उर्मरापति।

इन देवताओं के विषय में अधिक जानने के लिए उपर्युक्त पुस्तक देखना आवश्यक है। देवता विद्वान् (Theologus) का इसके समान झन्द्र बालै दुर्लभ है।

जाते हैं। यह देवताओं की परस्पर-समना का घोता है और एकदेववाद की ओर सकेत करता है।

एकदेववाद (Monotheism) और बहुदेववाद (Polytheism) का विचार भी यास्क ने समुचित-रूप से किया है। वे कहते हैं—‘महाभाग्यात् देवताया एकः आत्मा बहुधा स्तूपते (नि० ७।४)’। यहाँ आत्मा का अर्थ है शरीर, वयोःकि वे आगे चलकर बतलाते हैं कि दूसरे देवता इसी आत्मा के विभिन्न अव हैं। सम्भव है कि पृथक्-पृथक् कर्म करने के कारण ये नाम देवताओं के पड़े हो वयोःकि ऋग्वेद के प्रारम्भिक-भाग में प्रकृति के विभिन्न विभागों की सरकारता एक-एक देवता में वाटी मालूम होती है। इससे कुछ विद्धान् इन स्थानों की तुलना यूनानदेश के प्राचीन प्रकृतिवाद (Hellenism) से करते हैं। किंतु यह तुलना भ्रम है वयोःकि ऋग्वेद के वाक्य ही इसका खण्डन करते हैं जैसे—‘१क सद् विद्रा बहुधा वदन्ति’ (१।२५।४५)। एक ही सद्व के विविध-रूपों की स्तुति करने से हम उसे बहुदेववाद नहीं कह सकते। ईश्वर की एकता का सिद्धान्त जो आगे चलकर उपतिष्ठो ऐ द्वारा वाङ्माराचार्य के अद्वैत वेदान्त में पुष्पित और फलित हुआ, निश्चिन-रूप से ऋग्वेद के अन्तिम अशो में ही आरोपित हो चुका था।

सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के उदाहरण भी हम ऋग्वेद में पाते हैं, जैसे—

अदितियौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र ।

विश्वेदेवा अदिति॑ पञ्च जना अदितिजतिमदितिजनित्वम् ॥ (१।८९।१०)

अगतु अदिति स्वर्गं है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, वही पिता है, वही पुत्र है। सभी देवता और पञ्च-नियासी जन भी अदिति हैं, सभी उत्पन्न वस्तुएँ भी अदिति हैं, होनेवाली (भविष्य की) वस्तुएँ भी अदिति ही हैं। इस अट्ठाचा में सम्पूर्ण संसार को ही अदिति के रूप में दिखलाया गया है। फिर द्विष्पर्यगम्भ-मूर्क में भी—

प्रजापते ! न त्वदेताम्यन्यो

विश्वा जातानि परि ता वभूव ।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो व्रस्तु

वव स्याम पतयो रदोणाम् ॥ (१।१२।१०)

अर्थात्, हे प्रजापते ! आपसे दूसरा कोई,
सम्मूर्ख जीव के ऊपर नहीं हुआ है।
जो दिये कामना बुला रहे, वह होवे
हम सभी लोग इन के स्वामी बन जावे ॥

इन उद्धरणों में ईश्वर को विश्वमय देखने की चेष्टा हुई है।

देवताओं के सम्बन्ध में ग्रो० मैक्समूलर (Max-Muller) का कहना है कि प्रत्येक स्थान पर किसी विशिष्ट देवता को ही प्रधान माना गया है, इस प्रकार सभी देवता अपने-प्रपने स्थान पर अन्य सभी देवताओं से ऊपर दिखाये गये हैं। इस विचित्र-मत को वे हिनोथिज्म या कैथेनोथिज्म^१ कहते हैं। किन्तु इस मत की प्रत्यर आलोचना हिटने (Whitney) तथा हॉप्किन्स (Hopkins) ने की है। वे कहते हैं कि देवताओं का वर्णन अन्य देवताओं से अवश्य और पुष्कु तोकर नहीं हुआ है। वहें बलवान् देवता भी पराधीन है—बदण और सूर्य इन्द्र के अधीन हैं (११०११); यहां और अविद्या भी विष्णु के समक्ष विनाश है (११५६४); इन्द्र, मित्र, यहश, अपेमा और आदित्य भी सवितु के आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकते (२१५८१)। दो देवताओं या कई देवताओं की स्तुति भी एक साथ होती है। इसलिए हिनोथिज्म के बल देखने में ही लगता है, वस्तुतः ऐसी कोई वात नहीं।^२ तथापि देवताओं के एकीकरण की ओर आदेवाली ऋग्वेदकालिक-प्रवृत्ति का विदेश करने में यह पूर्ण सफल है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष विकलता है कि देवता के समूह वा वर्णन होने पर भी एकत्र की ओर ऋग्वेद की पारा यह चलते हैं^३ इस प्रकार की पारा को मैक्समूलर बहुदेववादात्मक एकदेववाद (Polytheistic Monotheism) कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पहले-पहल तो ऋग्वेद में अनेक देवताओं की मान्यता है विश्वु निष्पर्यंठः एक ही देवता मानने की प्रवृत्ति आ गई चाहे वह पुराप हो, प्रजापनि या बाह्य।

इसके बाट देवताओं के रखन का विचार होता है। कुछ लोग कहते हैं कि ये मनुष्य के आकार के हैं जयोहि (१) इनके सम्बोधन चेनन-जीवों के समान हैं, (२) मनुष्यों के ही समान इनके अंग हैं, (३) उन्हीं की वस्तुएं

१. Henotheism, Kathenotheism—'The belief in individual gods alternately regarded as the highest'.

२. Henotheism is an appearance not reality.

भी ये प्रयोग में लाते हैं और (४) मनुष्यों के कर्म भी इन देवताओं के हैं। इसके उत्तर में यास्क कहते हैं कि ये सभी बातें तो अचेतन वस्तुओं के साथ भी पाई जाती हैं, केवल इनके आधार पर हम उन्हें मानवाकार नहीं मान सकते। फिर भी वे भीतर से सन्तुष्ट नहीं हैं वयोःकि वे यह भी कहते हैं—‘अपि वा, उभयविधा स्यु।’

आधुनिक-विद्वानों ने वैदिक-साहित्य का गम्भीर अनुशीलन करके इस विषय में कई निष्पत्ति निकाले हैं।^१ देवताओं के मानवीकरण के विविध-रूप हमें वेदों में प्राप्त होते हैं। यज्य प्राइतिक-वस्तुओं के नाम पर ही वैदिक-देवताओं का नाम पड़ता है तब हम समझते हैं कि मानवीकरण अभी प्राह्लादस्या (Primitive Stage) में ही है जैसे—दौ, पुष्पियी, सूर्य, उपस्। इन देवताओं के वर्णन में दो चीजें हैं—प्रकृति का उपादान और उनका शासन उर्नेवाला व्यक्ति। विन्तु जब देवताओं का नाम प्राकृतिक उपादानों के नाम से विच्छिन्न हो जाता है तब उच्चतर मानवीकरण की रूपरेखा हमें प्रिय है। मरुदग्न का नाम वायु से अलग हो गया यद्यपि वैदिक प्राह्लिपि इनके सम्बन्ध से परिचित हैं। इस प्रकार के मानवीकरण की सत्ता में हम कभी अविश्वास नहीं कर सकते।

अब हमें देखना है कि इस वैदिक-मानवीकरण की वया विद्योपताएँ हैं। प्रो॰ मैकडोनल ने मानवीकरण को केवल छायात्मक (Shadowy) माना है^२ क्योंकि प्रकृति के काथों का ही आलटूप्रिक-चित्रण किया गया है। देवताओं पर सिर, मुँह, आकृति, कपोल, आँख, बेदा, कधे, छाती, पेट, बाहु, हाथ और आदि का आरोपण हुआ है। विद्योपतया हम और महन्-जैसे युद्धिष्ठिर देवताओं के सिर, छाती और बाहु का वर्णन हुआ है। सूर्य की किरणें ही उनके बाहु हैं, अग्नि की जीभ उनकी ज्वालाएँ हैं। कुछ देवताओं (जैसे उपस्) के वहन का भी वर्णन होता है। यस्त के विषय में हमें वर्णन करते हैं, और दूसरे देवता घनुप वाण। इनके चमकीले रथ भी हैं, सभी देवताओं के रथ तो घोड़े खोचते हैं लेकिन पूर्वन् वकरों से ही काम चलाते हैं जिसके चलते उन्हें ‘अजाइव’ (वकरों से घोड़े का नाम उर्नेवाला) कहते हैं। देवताओं में दया और कोष भी है जैसे शद में। वृत्र को मारने में

^१ देखिए—Macdonell, Vedic Mythology and A. B. Keith, Religion and Philosophy of the Veda

^२ Vedic Mythology, p. 17.

इन्द्र की शक्ति देखने लायक है। यज्ञ करनेवालों को देवता सहायता प्रदान करते हैं किन्तु कृपणों को दण्ड मी देते हैं। इनमें नैतिकता भी उच्चकोटि की है क्योंकि सभी देवता अपने नियम के पक्षके हैं, कभी धोखा नहीं देते। यह कहना अयुक्त नहीं है कि ये नैतिकठा के सरकार (Guard of morality) हैं। पापों और अपराधों के राष्ट्र बहुण के कोष का आनुपातिक सम्बन्ध है। इन देवताओं को शक्ति और महिमा तो प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार देवताओं के मानवीकरण का उपराहार हम मैकडीनल के बावजूद से ही करें—‘वेद के सच्चे देवता उत्कृष्ट मनुष्य ही हैं जिन्हें मनुष्य की प्रवृत्तियाँ और वासनायें प्रेरित दरती हैं, मनुष्य के समान जन्म लेकर भी ये अमर हैं।’ अहं एव वैदिक देवताओं को अतिमानव (Superman) कहना असमत नहीं है।^१

उपर्युक्त तीनों देवताओं से सम्बद्ध वस्तुओं की गणना कराने के प्रसङ्ग में यास्क ने कुछ मुख्य वाक्यों का निर्वचन किया है जैसे—मन्त्र, छन्द, ऋक् आदि। छन्दों पर कुछ विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है और वेद के प्रायः सभी छन्दों के नामों का निर्वचन हुआ है। इसी प्रकार दैवत-काण्ड की भूमिका के रूप में पूरे तीन पादों का उपयोग किया गया है। चतुर्थ पाद से निघण्डु के दैवत-काण्ड (पचम अध्याय) में गिनाये गये नामों की व्याख्या आरम्भ होती है। चूंकि निघण्डु के पञ्चम अध्याय के केवल प्रथम-स्थान की व्याख्या करना यास्क की निश्चिक के सप्तम-अध्याय में अभीष्ट है इसलिए केवल कीन देवताओं की व्याख्या उन्होंने इस स्थान पर की है। वे हैं—प्रगित, जातवैदस् और वैश्वानर। इन सबों पर उनका विचार यहूत विस्तृत है।

तीनों ही देवताओं की व्याख्या के कथ में पढ़ते देवता का वे निर्वचन करते हैं। उसके बाद वैदिक-शूचायें उद्भूत करके उनका प्रयोग दिखलाते हैं तथा यह सिद्ध करते हैं कि कपर के दोनों ज्योतिष्मुद्रा, विद्युत् और सूर्य भी इन नामों से पुकारे जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि यों तो एक ही देवता का नाम है किन्तु विद्युत् और सूर्य का उल्लेख भी लाक्षणिक रूप

१. Ibid p. 2—‘The true gods of the Veda are glorified human beings, inspired with human motives and passions, born like men, but immortal’

२. विशेष विवरण के लिए देखें मेरा लेख—‘ऋग्वेद में मानवीकरण’ पठना कालेज प्रक्रिया, मई, १९५२।

से इस नाम के द्वारा ही जाता है। आग में वे निष्ठये निकालते हैं कि सूक्ष्मों में सम्बोधित तथा हवि पानेवाले इसी पार्विव (भीतिक) अग्नि (Fire) को क्रमशः अग्नि, ज्ञातवेदस् और वैश्वानर बहुते हैं। इन नामों से कठरी ज्योतिष्युग्मज कभी-कभी ही सूक्ष्मों में संबोधित किये जाते हैं या हवि पाते हैं।

वैश्वानर के विषय में यास्क ने बहुत बड़ा विवेचन किया है तथा कई मनोरंगक वातें उद्भूत भी हैं। दिजली और सूर्य से अग्नि किस प्रकार निकलती है इसका वैज्ञानिक वर्णन किया है जो उस रागय के प्रारम्भिक पदार्थ-विज्ञान का परिचायक है। यास्क कहते हैं कि जब किसी ठोस वस्तु पर विजली गिरती है तब उस उमय तक यह अपना ही गुण लिये रहती है जबतक उहर नहीं जाती। उसके अपने गुण का अधिप्राय है—जल में प्रज्वलित होना और ठोस वस्तु में दृश्य जाना। किन्तु जड़ यह स्थित हो जाती है तब पार्विव-अग्नि का गुण प्रहृण कर लेती है जो ठोस में प्रज्वलित होना और जल में दृश्य जाना है। वस्तुस्थिति जो भी हो वरन्तु विद्युत् से अग्नि का सम्बन्ध स्पष्टित करना कुछ कम नहीं है।

सूर्य से भी अग्नि का सम्बन्ध दिलाया गया है। जब सूर्य उत्तरायण में होते हैं तब कौसा या मणि को साफ करके उनकी किरणों के सामने सूखे गोबर के पास (किन्तु दिना स्पर्श कराये हुए) रखे तो वह जलने लगेगा। वस्तुतः किसी पीतल की उपश्तरी में किरणों को एकत्र करके काला कपड़ा रखने पर वह जलने लगता है। प्राय सप्तम-शती ई० पू० के प्रारम्भिक-विज्ञान को देखकर किसे आश्वयं न होगा? यह देखता चाहिये कि यास्क की प्रतिभा कितनी सर्वतोमुखी थी।

वैश्वानर का वर्णन जिस पाण्डित्य-प्रकर्ष के साथ उन्होंने किया है वह उसकी विलक्षण-वैद्युती का परिचायक है। वैश्वानर को सूर्य के हृप में सिद्ध करने के लिए जितने तर्क दिये गये हैं उनके स्थान में यह स्पष्ट हो जाता है कि यास्क का अध्ययन कितना विस्तृत था।

चतुर्थ-परिच्छेद

यास्क का निर्वचन

[निर्वचन का अर्थ—आधुनिक निर्वचन—इसको कठिनाइयो—व्यापक अध्ययन की आवश्यकता—यास्क की विशेषता—यास्क के ध्वनि नियम—यास्क के निर्वचन को विशेषताएँ—यास्क के निर्वचनों के स्वरूप—निर्वचनों को दुर्बोधिता और उसके कारण—निष्कर्ष ।]

निष्क्रिय निवेदन का ही शास्त्र है । इसमें शब्दों का इतिहास इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि उनमें सम्भिर्हित धातु का पता लग जाय और धातु के अर्थ के आधार पर ही शब्द का अर्थ निर्धारित किया जाय । धातु से शब्द का अर्थ या तो साक्षात् रूप से खला या सकता है (वाच्यार्थ), या अलकारों की सहायता लेनी पड़ सकती है । यास्क ने निर्वचन की दोनों रीतियों का ही आवश्यक लिया है । निवेदन की अनिवार्यता के विषय में यास्क कहते हैं कि हमें कभी भी अपनी असमर्थता दिखलानी नहीं चाहिये (न स्वेद न निर्वृपात्—२११) ।

किन्तु यास्क के निर्वचन और आधुनिक लिंग्यजन (Etymology) का एक मौलिक अन्तर यह है कि यास्क अपने निर्वचनों में शब्दों को निरिचित रूप से आव्याप्ति (of verbal origin) मानते हैं जब कि आधुनिक भाषा विज्ञान का निर्वचन-शास्त्र सभी शब्दों को आव्याप्ति नहीं मानते हैं उनकी उत्पत्ति का यहाँ तक का इतिहास खोजता है जहाँ तक जाने के लिए अभी तक साधन प्राप्त नहीं हैं । उदाहरणतः सम्भृत के किसी शब्द की तुलना अवैस्ता, श्रीरु, गांधिक, बुल्गरियन, तोखारियन आदि प्राचीन भाषाओं में प्राप्य शब्दों से करते हुए प्राचीनतम भारत-यूरोपीय मूलभाषा (Prot type Indo-European) में उसकी सत्ता खोजना ही निर्वचन है । बद भा० यू० मूलभाषा में वह शब्द धातु के रूप में या सहृद के रूप में ही हो—भाषा विज्ञान इसकी चिन्ता नहीं करता । ही, यदि साध्य हो तो अर्थ का

१. Etymology—ग्रीक भाषा का etymos = सत्यना, logos = विद्यन्—सत्यता। या विज्ञान अर्थात् शब्दों की उत्पत्ति और अर्थ का सही पता लगाने वाला विज्ञान ।

निर्वचन के लिए यास्क ने जो सामान्य-सिद्धान्त दिये हैं उनकी आलोचना करने के समय हम देख चुके हैं कि यास्क ने उदाहरण ठीक दिये हैं किंतु मिदान नहीं।^१ उनकी वाधारशिला है कि कोई भी ध्वनि किसी ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो सकती है। यह भाषाविज्ञान के ध्वनि-नियमों के विवर है। इसी बात को देखकर प्रो० राजबाडे-जैसे कुछ विद्वान् वहते हैं कि यास्क की व्युत्पत्तियों को ध्वनि-नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं।^२ डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसकी कटु आलोचना करते हुए ध्वनि-नियमों से यास्क की अभिज्ञता सिद्ध की है। यह सत्य है कि यास्क सब जगह ठीक नहीं किंतु निम्नलिखित तथ्य से उनकी वैज्ञानिकता स्वीकार करने के लिए हमें बाध्य ही करते हैं—

(१) स्वर-विकार (Ablaut) के विभिन्न-रूपों से परिचय :—गुण-विकार—जैसे, 'एव' की व्युत्पत्ति √इ से, 'वय' की व्युत्पत्ति √वी से। वृद्धि-विकार—'आदितेय' की व्युत्पत्ति 'अदिति' से। सम्प्रसारण—'पृथक्' की व्युत्पत्ति √प्रथ से। इसके अलावे अन्य प्रकार के स्वर-सम्बन्ध भी उग्रोनि दिखलाये हैं।

(२) पठ्य और तालव्य-वर्णों के सम्बन्ध से परिचय :—'अङ्गसु' की व्युत्पत्ति √अञ्च (मुडना) से, 'मूर्म' की व्युत्पत्ति √मूर्ज (जाना) से। मूल भारत-मूरोपीय-भाषा में इन दोनों प्रकार के वर्णों का सम्बन्ध हो चुका था, अतिर यही है कि यास्क तालव्य-वर्ण से कण्ठध-वर्ण की उत्तरति मानते हैं जब कि भाषा-विज्ञान की हट्टि से कण्ठध-वर्ण ही तालव्य-वर्णों को उत्तरन करता है।^३ पाणिनि के साथ भी यही दोष है क्योंकि वे भी 'वोः कु' सूत्र के हारा यास्क-मन का ही समर्थन करते हैं।- तथापि इन दोनों वर्णों के पारस्परिक सम्बन्ध को जानना भी बया करते हैं ?

(३) छन्दजनों के दुहरे प्रयोगों से परिचय :—'हक्त्व' की उत्पत्ति √हक्न्द से और 'उत्स' की उत्पत्ति √उन्द से मानना यह सिद्ध करता है कि दोनों का प्रयोग प्रथलित या और यास्क इनके पारस्परिक सम्बन्ध से अभिज्ञ थे।

१. भूमिका वा तृतीय परिच्छेद [स] ।

२. Vide, Yaska's Nirukta, p. XLII.

३. तालव्य-वर्णों की उत्पत्ति के लिए देखें—Dr. Batakrishna Ghosh, *Linguistic Introduction to Sanskrit*, pp. 72-77.

(४) ल् को र् वा आदिष्यविकार मानना :—‘पुलुकाम्’ की व्याख्या ‘पुहकाम्’ रे करते हैं। यह सिद्ध है कि र् और ल् बहुत काल से मिले-जुले थे। मूल भारत यूरोपीय भाषा में ल् वा जो वैदिक मुग में बहुधा रहे गया, इसे रकारीकरण (rhotacism) कहते हैं। उदाहरण है—अहुरि (व०)—अहुति । रघुरात्रि (व०)—लघुरत्रा ।

(५) स्वरो तथा व्यञ्जनो का पारस्परिक सम्बन्ध —‘अभीके’ = अभ्यक्ते (इ<अ) ‘पितु’ < √प्ते, ‘स्तूप’ < √स्त्वे, ‘थोवा’ < √गृ । ‘उपस्’ को √उङ्छ (चमकना) से निष्पत्र मानना भी भाषा-विज्ञान की ओर का एक महत्वपूर्ण पदक्षेत्र है (ए<च्छ) ।

(६) वर्णों के द्विवेचन (Reduplication) से परिचय — ‘अजीग्’ को व्याहरा ‘अगारी’ करके को गई है अर्थात् √गृ का द्वित द्वारा है जिसपे कष्टय ‘गृ’ स्वरूप ज् के रूप में परिवर्तित हो गया है; पुनः ‘जिगति’ को √गृ, √गृ या √ग्रद से निष्पत्र मानकर द्वित की पूर्व-वर्तना कर लेते हैं ।

(७) संक्षिक के विषयों से परिचय —‘अनुष्टुप्’ की व्याहरा ‘अनु’-पूर्वक √स्तुभ से हुई है अर्थात् दात्य ‘स्’ वा परिवर्तन ‘प्’ में हो गया है वर्णोंकि पूर्व में उकार है। पालिनि ने इसके लिए नियम बनाया है ‘इष्टो’ (८३४५७) जिसका अर्थ है इण् और कवर्ग के बाद स् का प् हो जाता है। इसका परिवर्तन के लिए निरीक्षण यास्क वा मूहमदृष्टि के परिचायक हैं। इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि यास्क घनि नियमों (Sound laws) से बिलकुल व्यवसित थे ।

यास्क के बाद घनि-यास्क से ही परिचित नहीं, अपितु निवेचन यास्क से विभिन्न पहलुओं से भली भांति परिचित प्रतीत होते हैं। यह और याति है जिसारात्मिक ग्रन्थणा के अभाव में या विविध मानवोचित दोषों के फलहवल्ला उनके निवेचन कही स्थानों पर निरोध नहीं कहना सकते तथावि इस धोत्र में उनकी समता कोई एक विद्वान् वभी नहीं कर सकता। नीचे हम यास्क की निरक्षियों की विशेषज्ञाद्वयों पर प्रकाश डालेंगे—

१ इन सभ निरोक्षणों का बर्नन दा० सिद्धेश्वर दया दे ग्रन्थ ‘एट्मोल्जीज व्याद्यास्त’ (Etymologies of Yaska) दे आशार पर लिखा गया है। नातुर इस एट्मोल्जीज का आधार ही वह पुस्तक है। मैं इस बहुमूल्य ग्रन्थ का बहुत ध्यान देगा।

(१) यास्क को निर्वचन की धुन लगी है और वे 'न त्वेव न निर्बूयात्' कह कर सचेत कर देते हैं। आरम्भ में ही 'निषष्टु' शब्द का निर्वचन करने में सत्पर हो जाना इसी धुन का फल है। अचार्यों की व्याख्या करने के समय अचार्यों में बाने वाले शब्दों तक ही यास्क की हाइ सीमित नहीं प्रत्युत उनके लिए दिये गये प्रतिशब्दों और उनसे भी सम्बद्ध शब्दों पर तक हाथ साफ करते हैं। फल होता है कि विषयात्मक में भटक जाने हैं। उदाहरण के लिए देखें—केवल 'मुहूर्त'-शब्द की व्याख्या करनी है—'मुहूर्त' = मुहूर्त अहतु। अहतु अर्तमतिकर्मण। मुहूर्त = मूढ़ इव काल, यावदभीइग चेति। अभीष्णम् अभिष्णण भवति। सण लागोत्तेः = प्रदग्नुः काल। 'काल कालयतेः गतिकर्मणः' (नि० २।२५)। 'मुहूर्त' और 'अहतु' की व्याख्या तो उनके २।२ (पूर्व पूर्वम् अपरमपर प्रविश्य निर्बूयात्) के नियम के अनुकूल है पर 'अभीष्ण', 'सण', और 'काल कहीं से टपक पड़े ? इसी धुन के फलस्वरूप उम्होने इन्ह का चोदह तरह से निर्वचन किया है (१०।८) 'जातवेदस्' का छ प्रकार से (७।१९) और 'अग्नि का पाँच प्रकार से (७।१४) ।

(२) कुछ निर्वचन यास्क की रथूल हृष्टि के भी दोनक हैं। अर्थ की खीचातानी और इतनि की परेशानी दर्शनीय है। 'अग्न' को दृष्टे आ + √नम् से (वस्तुत् √न्द = जाना) 'आशा' (= दिशा) को आ + √सद् से, तथा 'इत्' (= स्वामी) को √सत् से (वस्तुत् = √इ = जाना) निष्पत्ति मानते हैं। पाणिनि के अध्येता इन्हें भाव्य ही समझेंगे ।

(३) कही-कही तो यास्क इनने देतानिक हैं कि आधुनिक भाषा-विज्ञान भी आद्यर्थचकित हो जाता है। देखिये, 'महस' की उत्पत्ति 'सहस्रत्' (शक्तिमान्) से मानते हैं। मूल भा० यू० शब्द है Seghesio kmto'm जिसका अर्थ है 'शक्तिमाली सौ', प्रीकू chilioi = एक हजार। 'सहस्र' में 'सहस्र्' शक्ति के अर्थ में है इसकी पुष्टि प्रिम (Grimm), ब्रुगमैन (Brugmann) तथा मोलेट (Meillet) ने की है। इसी प्रकार विश्विति (३।१०), अदा (१।२०), जरित् (१।७) आदि के निर्वचन में भी उम्होने अपूर्वता दिखलाई है। आश्वर्यं तो यह है कि 'जरिता=गरिता' लिखने के समय यास्क मू० भा० यू० भाषा के इतनि चिदान्त को भी जान रहे हैं। मू० भा० यू० में ऐसा ही शब्द है guera (वेरा—) = स्वर ऊँचा करना, प्राचीन भारतीय भाषा (Old Indo-Aryan) में बोल्कण्ठीय (Labio Velar) घ् (gu) सदैव एकार के पर में रहने पर

तालम्य (जू) हो जाता है—यह आधुनिक अनुसन्धान यास्क के मस्तिष्क में उत्तम प्रतीत होता है ।

(४) प्रादेशिक वोलियों में भी यास्क की एचि काफी है । 'शसमान' की 'शसमान' व्याख्या देना प्रादेशिक परिवर्तन का द्योतक है जैसे आज मगध के क्षतिपद्य क्षेत्रों में बानुनाचिकता घर कर गई है—इतिहास, बहतर (बहतर), सौंस (इवास) इत्यादि । शब्द (जाना) का प्रयोग कम्बोज में और 'शब्द (= लाश)' का प्रयोग आयंदेश में होता है । इनके ज्ञान से यास्क शब्दों के ठीक-ठीक इनिहास देने में कुछ दूर तक अवश्य सफल हुए हैं यद्यपि उम समय यात्रादि की सुविधा न रहने के कारण अनेक वोलियों और भाषाओं को जानना बहुत कठिन था ।

(५) यास्क अपनी सामर्थ्य भर आलाय नहीं करते । सम्बद्ध भा० मू० भाषाओं में समान-शब्द ढूँढ़ने की कोई सुविधा न होने पर भी शब्दों की उत्पत्ति के निकट तक पहुँचने की उनकी चेटा स्तुत्य है, उन शब्दों का लूँ भले ही प्राचीन भारतीय-भाषा (Old Indo-Aryan) में न मिले । 'अक्षि' को √ अञ्ज से निकालना क्या कम है ? देखें—मू० भा० मू० मै ००१ (ओक्ष्) = देखना ।

(६) शास्त्रकार की इष्टि से यास्क पूर्णतया वैज्ञानिक विचार-धारा लिये हुए हैं । अपने विचारों के साय-साय दूसरों के विचारों की तुलना भी करते जाते हैं । भारतीयों की इस पढ़ति से वे बहुत दूर हैं कि दूसरे मूर्ख हैं, मेरा कहना ही ठीक है । इस विषय में वैदिक-ध्यायाश्वाकार सायणाचार्य का सिद्धान्त यास्क ने समान ही है जो 'यद्वा' वरके अनेक मतों का उल्लेख करते हैं । विश्वयतया जिन स्थानों में सन्देह वा अवकाश रहता है, वहीं सो यास्क की उदारता दर्शनीय है । प्रृथित-विषय से साक्ष्य रखने वाले सभी सिद्धान्तों का ये उल्लेख कर देते हैं ।

(७) यास्क आधुनिक-भाषाविज्ञान के 'सम्प्रक्षिदोष' (Contamination) नाम की प्रक्रिया से भी परिचित है यद्यकि शब्दों से सम्बद्ध एवं सहस्र धातुओं वा पता बताकर उन सभी के योगफल से भी ध्याद की

१. Vide Dr. Bala Krishna Ghosh, *Linguistic Introduction to Sanskrit* pp. 15-6 and T. Barrow, *the Sanskrit Language*, Sanskrit Phonology. For further reference vide—Wackernagel's—Altindische Grammatik.

निष्ठति का सङ्केत करते हैं, जैसे—‘कुब्ज’ की उत्पत्ति √कुन् (ऐना होना) या √उज्ज (नीचे जाना) से मानते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि ‘कुब्ज’ बनाने वाले इन दोनों धातुओं के सम्मावित स्थान से वे अवश्य परिचित थे।^१

(८) निर्वचन करने का प्रधान साधन यास्त के लिए व्याकरण सम्मत धातु ही है। इसी कारण से वे ‘जातवेदम्’ का निर्वचन करते समय √विद् वे विभिन्न अर्थ (जैसे—जानना, हाना) सेकर इसके ६ निर्वचन करते हैं।

(९) विद्वानों के लिए व्येक्षित एकरूपता का अभाव यास्त में स्टॉकता है। इसके सिर पर वैयाकरणों वा भूत सवार रहता है कि जहाँ जैगा देखा, अपने ही लिखे दूसरे अवतरण की चिन्ता न करके दूसरा ही अर्थ कर दिया। ‘आपान्तमन्यु’ का अर्थ करते हैं आपातिगमन्यु’ (५।१२) और किर दूसरी जगह ‘पान्तम्’ का अर्थ है ‘पानीपम्’ (७।२५)। साधन में भी यह दोष प्रचुर मात्रा में है। इसे देखकर ही पूरीषीक विद्वानों ने इनके विशद आनंदोलन उठाया है जिसे मारतीय पुराने पण्डित प्रकरणानुकूल अर्थ कहकर टाल देते हैं किन्तु प्राचीन शब्दों के अर्थ करने में भाषा विज्ञान के महत्त्व को हम भूल नहीं सकते।

२ समृक्ति दोष—(Contamination)—नव वक्ता के मन में एक साथ ही या अलग्न निकट होकर निचार भवना वाल्य विवाय उपरिख्यत होने हैं तब वानों पर दूसरे में विलीन होकर एक दूसरे को दूषित (मर्जन) कर दातत है जैसे—Camel (अ२) और Leo, 1rd, घोना (के साथ से बनने वाला Camelopard एवं ऐना जन्म है जिसमें डैंटसा गर्दन और चौकैसी छाप है)। ऐसी ऐ विधाएँ brunch (breakfast और lunch दोनों का एक साथ भोजन) करते हैं। ‘कुब्ज’ या कुब्ज और उस्त्र के समृक्ति-दोष से दुभा है—यदि यास्त की मान्यता प्रतात होता है। भाषा के इस तथ्य का आविच्छाह हो यास्त ने किया? अन्य उदाहरण है—Fura^३, Iastim^४ आदि। यह दोष वार्ताओं में भा होना है विद्युतया जब विचार मवाद भाषा प्रवाद वी अपेक्षा अधिक बग में चलता है जैसे—‘इन्द्रध मोम रिति इहस्ते’—‘रिति’ में द्विवचन इन्द्र और इहस्ति दोनों वाल हैं, यह ही ‘इन्द्र’ उसमें सौंचा सम्बन्ध नहीं रखता। समरणीय है कि सामृक्ति दोष के पालनपालन दोनों ग्रन्थ अनुद्देश्य तात्परी को उद्देश्य करते हैं। देखिये—Tara^५ porewala, Elements of the Science of Language, pp. 77-8 और Ashtavish Jabiliee Volume में गरातुरवाण का ऐसा—Contamination in Language.

(१०) कही-कही यास्क अर्थ की स्वीचातानो करते हुए निर्वचनों से खेल करने लगते हैं। देखिये—जब 'वृक्ष' चन्द्रमा को बहते हैं तब उसका निर्वचन है—‘विवृतज्योतिष्ठक’ (केवल दूष्परा ‘वृ’ और अन्तिम ‘क’ बचता है), विवृतज्योतिष्ठक, विकात्तज्योतिष्ठक । अब वही ‘वृक्ष’ कुत्ते के अर्थ में होगा—विकर्तनात् (वि + √कर्त् = काटना) सच तो यह है कि ‘वृक्ष’ कोई भी अर्थ वयो न पारण करे, यास्क वहाँ तक इसे तुरत पहुँचा देंग (५१२१-२२) ।

(११) निर्वचन के छोके में यास्क अपनी कल्पना-शक्ति का अभाव दिखलाने लगते हैं। जहाँ रूपक और लक्षण से अर्थ का परिवर्तन हुआ है, वहाँ भी अपनी निर्वचन-शक्ति का चमत्कार दिखा कर ही छोड़ते हैं (भले ही कुछ स्थानों पर वे रूपकादि का भी सम्मान करते हैं) जैसे—‘अवनि’ का पहला अर्थ है नदी, फिर रूपक से यह—अंगुली का अर्थ धारण वर सेती है परन्तु अंगुली के अर्थ में भी यास्क इस शब्द की निश्चिति करके ही छोड़ते हैं—‘अवनय असूलयो भवन्ति अवन्ति, वर्माणि’ (√अव् = रक्ता करना, ३।१) । यह बात नहीं है कि यास्क अर्थ-परिवर्तन का बारण रूपक, लक्षण, साहस्र आदि को नहीं मानते। इसके लिए हम उनके ‘पद’ शब्द की व्याख्या देलें (२।७) । यथात्यन हम इसपर विचार करेंगे ।

यास्क के हारा उपस्थापित निर्वचनों के सम्बन्ध में पर्याप्त अध्ययन किय गये हैं और भाषाशास्त्रियों ने आघुनिक-मनुस्मृथानों की कसोटी पर उन्हें कमने की चेष्टा की है। फलतः निर्वचनों के विश्लेषण करने पर वे निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं ।^१

(१) यास्क के कुछ निर्वचन तो भाषा-शास्त्र को पूर्णतया स्वीकार हैं, जैसे—‘अद्वस्’ की उत्तरति √वच् (मृक्ना) से। मू० भा० यू० ankl=मृक्ना, घोक—ankon=वेहुनी ।

(२) कुछ निर्वचन ध्यनि को दृष्टि से स्वीकार हैं जिन्हु अर्थ की दृष्टि से अस्तीतार, क्योंकि आघुनिकम अनुग्र-धानों से उनके अर्थ गलत प्रमाणित हो चुके हैं। ‘राजन्’ की उत्तरति √राज् (चमकना) से मानना ठीक नहीं प्रत्युत मू० भा० यू० में orig = निर्देश करना, तथा लेटिन में

१. देखिये—परिच्छेद ७, अर्थविद्यान् ।

२. Dr. Varma, Etymologies of Yâska, pp. 17-33.

तेत्र = राजा—ये शब्द हैं जिनसे 'राजन्' सम्बद्ध है। ध्वनि की हटाई से फिर भी उपर्युक्त निष्ठिति निष्ठोप है।

(३) कुछ निर्वचन अंशतः स्वीकार हैं वयोंकि आधुनिक वालोचक के लिए ये अत्यन्त प्राचृत (Primitive) हैं। याहू 'उत्तर' की उत्पत्ति 'उद्धनतर' से मानते हैं। वे तुलगात्मक (Comparative) 'तर' प्रत्यय को जानते हैं जो 'उन्' उपसर्ग में भी लगा है किन्तु यहाँ सवर्णलोप (Haplology)^१ नहीं हुआ है। पून, 'यु' की उत्पत्ति √युद् (चमकना) से मानते हैं किन्तु वह वस्तुतः √यु है, ताकार व्यर्थ है। मू० भा० यू० में ediu, dei = चमकना।

(४) कुछ निर्वचन निश्चित रूप से स्वीकार नहीं हैं, उनकी स्वीकृति के विषय में सन्देह है, जैसे—उद्दिष्टम्=उद्दकवन्तम्। उद् = जल, मूल भा० यू० *ud̥ ग्रीक hudos = जल। 'भर' (संप्राप्त) की उत्पत्ति √भू (पारण करना), से मू० भा० यू० *bher = पारण करना, ग्रीक pbero = मैं पारण करता है। यह निर्वचन नहीं है वि संप्राप्तायंक 'भर' भी ऐसे ही बना है।

(५) कुछ निर्वचन सम्भवतः स्वीकार हैं तथादि अनुमन्वान भी आवश्यकता है जैसे—'अन्स्' (लग) √भाप् (पाना) से; मू० भा० यू० *asp = पहुँचना, लैटिन apiseor = मैं पहुँचना हैं। सम्भव है कि 'अन्स्' वा सम्भव √भाप् से हो जाय।

(६) कुछ निर्वचन अत्यन्त प्राचृत हैं जिनका कारण है याहू का युग। यह बात नहीं कि वे अवैज्ञानिक हैं। 'मुहूर्' की उत्पत्ति ऐवल √हूर् से बनाई रह गये हैं जब कि मू० भा० यू० में aleuq = चमकना, ग्रीक—

१. सर्वनामोप (Haplo'ogy) का अर्थ है दो समान ध्वनियों (Syllables) में एक वा लोप होना जैसे शोर्पेश्चिक > शोर्पेश्च > शोर्पिश्च, मधुइच्छ > मधुय, Camel leopard > Camelopardal, where ever > wheretever हत्यादि। यह वर्तमान मेरे एक अध्यायप्रसिद्धि ने मुस्से पूछा कि Haplogy (हेप्लोजी) क्या है। इस पर जोट खिला है। मैंने इसे कि आप तो रखें इस Haplogy का उदाहरण नेपार करके दिये हैं वे वन दूसरा लक्षण दिया है। 'उद्धनतर' में यदि सर्वनामोप हो तो तो तक्तरों का और हो जाय, परन्तु इंद्राजि में देखा नहीं दुमा। उद्दन्यों में भी प्रत्यय लगाने से इसी बायर उदाहरण है ऐसे—प्रदन्, निदन्, मनन्, बदन्, रितन्, प्रत्। वे ऐनिह्वान में हो जाने वे।

leukos = प्रकाश—ये शब्द भी मिलते हैं। यास्क आगे न बढ़ सके। कुछ निवंचनों की प्राहृतता (Primitiveness) ध्वनि की उत्पत्ति से है जैसे—‘दण्ड’ की उत्पत्ति $\sqrt{द}$ या $\sqrt{दम्}$ से मानता। मू० भा० यू० में शब्द है *odel+ndo = फाडना, लैटिन dolo = मैं काटता हूँ। यह बात यास्क में रूपविज्ञान की उत्पत्ति से भी है। इसका मुख्य कारण है सभी शब्दों को आख्यातज मानता। आज जिन शब्दों को निश्चित रूप से सज्जा आदि माना रखा है यास्क उन्हे भी सज्जा और विशेषण के मूल के रूप में आख्यात समझ लेने हैं जैसे—‘दीर्घ’ की उत्पत्ति $\sqrt{द्वाष्ठ्}$ से। यहाँ तक कि प्रत्ययों में भी धातु की गत्थ उन्हें मिल जाती है—नूण = नू + $\sqrt{नम्}$ (नू न नम्) जबकि ऐसे शब्द ‘म्न’ प्रत्यय लगाकर बनते हैं जैसे—शुम्न, सुम्न, निम्न (देखिये, हिंटने का सरहृत-व्याकरण, नियम-सहया १२२४)। ‘स्त्री’ की उत्पत्ति $\sqrt{स्त्र्}$ से मानते के समय वे यह नहीं देखते कि ‘अ’ से ‘ई’ कैसे बन जायगा। ‘हिरण्य’ की उत्पत्ति $\sqrt{ह}$ से मानते हैं जब कि मू० भा० यू० में यह आख्यात नहीं, विशेषण है—*ghel=पीला, helvus = पीला ।

कही-कही यास्क अशरों को शब्दों का सकोचन और शब्दों को वाक्यों का सकोचन समझ लेते हैं जैसे ‘अग्नि’ = $\sqrt{इ}$ (अ) + $\sqrt{अङ्ग्}$ या $\sqrt{ह}$ (अ) + $\sqrt{नी}$ (नि) इस प्रकार तीन धातुओं से अग्नि के तीन अक्षर बनते हैं। अशु = $\sqrt{शम्}$ (अ) + $\sqrt{श्वर्}$ (श) + उ। पुश—पुद + $\sqrt{शा}$ या पुरु + पा, मू० भा० यू० *put = पुष। अशरों में शब्द का दर्शन करना भारतीय मस्तिष्क की विश्लेषणात्मक-प्रवृत्ति का चरित्र है।

(७) यास्क के कुछ निवंचन लोक-निष्ठिति (Folk etymology) से प्रभावित हैं। ये निष्ठितियाँ उन्हे वाहाण-ग्रन्थों, परम्पराओं, विवदन्तियों और अपनी कल्पनाओं से प्राप्त होती हैं। ‘अज्ञिरस्’ की उत्पत्ति ‘अज्ञार’ से मानते हैं वर्षों कि अज्ञार के सम्बन्ध की दर्जनया ने निवंचन को ही बदल दिया। मू० भा० यू० *angiras, ग्रीक angellos = दूर। वैसे ही ‘देवर’ की व्युत्पत्ति ‘दितीयवर’ से मानते हैं जब कि यह शब्द मू० भा० यू० से ही चला आ रहा है—*daiuer, ग्रीक daer = पति का भाई। उत्तर्युक्त निवंचन का कारण है तात्कालिक समाज-व्यवस्था जिसमें एक पत्नी रामी भाइयों की सम्पत्ति समझी जाती थी।

(८) कुछ निवंचन गलत हैं जो विकाशत यास्क की असावधानी के परिचायक हैं। ‘किंवद्’ की व्युत्पत्ति ‘इनवान्’ कहकर $\sqrt{क्ष}$ से मानते हैं

विन्तु 'ऋ' को 'इ' करने वाली प्राकृत भाषा की प्रत्यक्षि प्राचीन आयंभाषा (१५०० ई० पू०—५०० ई० पू०) में नहीं आई थी। कुछ निर्वचनों में व्याह्या की अशुद्धियाँ हैं जैसे देवापि—देव + √बाप् (पापा) किन्तु 'मित्र' के अर्थ में 'आपि' का प्रयोग क्रमवेद में कई स्थानों पर आया है।^१ मू० भा० पू० *épēpi* = साथी द्वीप *épios* = मित्रवत्। इनमें से कुछ का सम्बन्ध दिखलाना यास्क के लिए सम्भव या यदि सावधानी रखते।

(१) कुछ निर्वचन असम्भव हैं जैसे रसिम'—√यम् ?, 'ऊं' √पच् या √प्रश्च से।

(२) कुछ निर्वचन तो दुर्बोध हैं जिनके विषय में कुछ भी कहना कठिन है। इसके कई कारण हैं—(क) निर्वचन किये गये वैदिक शब्द स्वयं भी सन्दिग्ध हैं वयोंकि भा० पू० भाषाओं में उनकी समता नहीं मिलती। सम्भव है कि वे मुण्डा-भाषा के शब्द हो।^२ (ख) यास्क की शुद्धि या अशुद्धि दिखलाने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हम नहीं कह सकते कि 'आहाव' आ + √ह्वे से बना है कि नहीं। (ग) यास्क ने स्वयं भी कई प्रकार के निर्वचन दिये हैं। जिसमें जात होना है कि वे भी शुद्ध निर्वचन के विषय में निर्दिष्ट नहीं हैं। (घ) कुछ निर्वचनों की भाषा भी संदेहात्मक है। (छ) कहीं कहीं अनुपत्ति दी गई है किन्तु अर्थ नहीं। यदि अर्थ ही सन्दिग्ध है तो निर्वचन की परीक्षा करना कठिन ही है। (च) कुछ निर्वचनों के आधार भी सन्दिग्ध हैं। (छ) कहीं तो ऐसी भ्रान्ति है कि यह कहता कठिन हो जाता है कि अमुक व्याक्या निर्वचन है या व्याह्यामात्र। (ज) कुछ स्थानों पर जहाँ यास्क विलकुल स्पष्ट भी हैं तो भाषाविज्ञान के पास कोई साधन नहीं कि उनकी परीक्षा कर सके। 'अक' आ + √नम् से बना है कि नहीं—यदृ जाचना बहुत कठिन है।

इस प्रकार यास्क के निर्वचनों का विभाजन करना सम्भव है। निर्वचन-शास्त्र में वस्तुतः यास्क, अपने ही युग के लिये नहीं, अपितु अपने से बादवासे

१. देखिये—Petersburg Wörterbuch (q.v.)

२. सस्तुत में मुण्डा-शब्दों के बर्गन के लिए देखें मैटा लेय—Austro-Asiatic as a Source of Sanskrit Words, Journal of the Bihar University, 1960. अनार्य शब्दों के लिए T. Burrow का Sanskrit Language देखें।

युग के लिए भी अनुरप्त रहता है। मायाविज्ञान की प्रतियांशों से अभिज्ञ, प्राचीन-आर्यमादा उमड़ने के एवं मात्र महायज्ञ तथा अपने युग के विचारों का सद्गृह प्रतिनिधित्व बरने वाले यास्क का निर्वचन पाणिनि का भी पष-प्रदर्शक रहा है थोर आयुतिक भायाविज्ञान तो हन दोनों महूदियों पर ही अवलम्बित है जो हमें अन्यकार में पषधन होने से बचाकर उचित-भार्ग पर लाते हैं।

पञ्चम परिच्छेद

निरुक्त और वैदिक-व्याख्या

[निरुक्त का किसी वैदिक-शास्त्र से सम्बन्ध—विभिन्न सहिताओं के उद्धरण—निरुक्त फिसी एक वेद से सम्बद्ध नहीं है—यास्क की घटुक्षता—डाँ सर्हप—अथर्ववेद—डाँ स्कोल्ड—उद्धरणों की सारणी निरुक्त और वेदार्थ—वैदिक-अर्थ करने के विभिन्न सम्प्रदाय—सायण—दयानन्द—अरविन्द—भाषापरिज्ञान—धारणा के अनुसार व्याख्या—निरुक्त की व्याख्या शैली।]

वेद का अङ्ग होने के कारण वैदिक वाद्यय मात्र से निरुक्त का यहूत घना सम्बन्ध है। इन सम्बन्ध की पुष्टि के लिए ही प्रथम परिच्छेद में वैदिक-साहित्य का सिंहावलोकन किया है। अब हम यह देखेंगे कि किन विद्वैदिक-न्यूनों के बावजूद निरुक्त में उद्धृत हैं तथा वैदिक-व्याख्या में निरुक्त कहीं तक सफल है।

वों तो निरुक्त में विभिन्न वैदिक-सहिताओं और ग्रन्थों से वाक्य उद्धृत किये गये हैं परन्तु उनमें प्रथमता ऋग्वेद की ही है। इसका कारण यह है कि निरुक्तकार जिस निष्ठा पर भाष्य लिखते हैं उसमें ऋग्वेद के शब्दों का ही सकलन हुआ है अतएव ऋग्वेद में ही उसके प्रयोगों को दिखलाना यास्क ने लिए एवं या। निरुक्त के अधिकांश परिच्छेद ऋग्वेद की इसी ऋचा से आरम्भ होते हैं जिसके बाद उन ऋचाओं की व्याख्या भी जाती है। ये ऋचायें कहीं कहीं दूसरी जगह भी मिल जाती हैं परन्तु इन्हें प्राचीनता ऐ दृष्टि से ऋग्वेद से ही उद्धृत भानना संपत्त है। किन्तु केवल अन्य सहिताओं में मिलने वाले वाक्य भी निरुक्त में हैं। इस शीघ्रतान के कारण निरुक्त वो जिस वैदिक शास्त्र से सम्बद्ध माने, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है। किर मी चूंकि अन्य वेदाङ्गों के अन्य भिन्न भिन्न वैदिक शास्त्रों में है, अतएव इसे भी इसी न-इसी शास्त्र से सम्बद्ध मानना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस प्रस्तुत वो समाधिन वरने में रोक (Roka) वा कहना है कि निरुक्त उपर यजुर्वेद से, विशेषतया तैतिरीय शास्त्र से, सम्बद्ध है। भाषणारकर

और गुणे (ना० अभिं० ग्रन्थ) कहते हैं कि यासक स्वयं यजुवेदी ये और उन्होने विभिन्न-सहिताओं से उद्धरण लिये हैं जिनमें तैतिरीय, मैत्राण्यी और काठक-सहितायें मुख्य हैं। वेवर (Weber) के अनुसार निष्कृतकार काप्य शाखा से उद्धरण देते हैं। यजुवेद के उद्धरण के लिए वे वाजसनेयी-संहिता का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार ये विद्वान् यजुवेद की कनिष्ठय शाखाओं से यासक का सम्बन्ध जोडते हैं। इनके तर्बों के मूल में यही बात है कि निष्कृत वेदाग है, किसी-न-किसी शाखा से अवश्य सम्बद्ध होगा। अन्य शाखाओं के भी अपने निष्कृत रहे होगे जो वाज प्राप्त नहीं हैं।

बव यह विचारना है कि वया निष्कृत वस्तुत इसी शाखा से सम्बद्ध है। हमने ऊपर अन्य वेदाङ्गों से निष्कृत की विलक्षणता देख ली है। निष्कृत स्वयं भी भाषा-विज्ञान नामक एक विलक्षण-शास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषा-विज्ञान को किसी एक पुस्तक या भाषा पर सीमित रहना नहीं पड़ता। उसे तो अनन्त भाषाओं, ग्रंथों और शाखाओं के क्षेत्र में स्वच्छान्द विचरण करना पड़ता है। कोई भी नियन्त्रण उसके लिए सुम्भव नहीं। यही कारण है कि निष्कृत अन्य वेदागों से विलक्षण है, किसी एक शाखा के शब्दों तक इसे सीमित करना अनुचित है। यासक स्वयं भले ही कोई वेदी हो, यजुवेदी या ऋग्वेदी, परन्तु निष्कृत का सम्बन्ध है सभी वेदों से, उपनिषदों से और सात्कालिक साहित्य से। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अपने काल के अनुकूल निष्कृत वैदिक-भाषाविज्ञान का महा-नियन्त्रण (Thesis) है। इसलिए निष्कृत एक प्रकार से सभी वेदों का निष्कृत है। अन्य निष्कृतों की भी खेली ऐसी ही रही होगी, वे भी सभी वेदों से उद्धरण देते होंगे।

यह तो कं यहाँ अनुचित प्रतीत होता है कि उस काल में कोई भी साहित्य किसी कुल और शाखा से सम्बद्ध था, क्योंकि यासक-जैसे और निष्टुकार-जैसे वैज्ञानिकों का अभाव कभी नहीं रहता जो सभी शाखाओं और कुलों में जाकर किसी विषय-विशेष का अध्ययन करके सासार को नवीन प्रकाश देते हैं। यासक स्वयं किस शाखाध्यायों कुल के थे—यह हमारा विषय ही नहीं। डा० स्कोल्ड का कथन है कि—‘ वया यह सामान्य वैदिक-अध्ययन की कृति समझी जाय, या किसी वेद-विशेष की या वेदों के समूह की ? हम नहीं जानते कि किस शाखा से इसका सम्बन्ध है या पहले रहा होगा । ’

२. प्रथम-परिच्छेद का अन्तिम भाग।

प्रायः सभी वेद निरुक्त का स्रोत होने का गौरव रखते हैं।^१ यह अब निश्चित है कि इस तथ्य के मूल में कौन-सी बात है। दा० लक्षणसूत्र भी निरुक्त के उद्धरणों से यास्क की बहुज्ञना का परिचय देते हुए लिखते हैं—निरुक्तमें उदाहरण देने के लिए दिये गये उद्धरणों से निष्ठार्थं निकलता है कि यास्क ऋग्वेद, साम्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद और उसके पदयाठ, तैत्तिरीय-सहिता, मैत्रायणी सहिता, काठक-सहिता, ऐतरेय-द्वादशण, गोपय-द्वादशण, कौदीतिकि द्वादशण, दातपय-द्वादशण, प्रातिशाल्यो को और कुछ उपनिषदों को जानते थे।^२ इतने प्रन्थों का उद्धरण देनेवाले ग्रन्थ को यदि हम वेद की किसी एक शास्त्र में बाँध दें तो अन्याय होगा। यह और बात है कि यास्क स्वर्यं किसी एक शास्त्र के द्वादशण होगे जिसकी छाप निरुक्त पर पड़ना आवश्यक है जैसे सायण ने कृष्ण-यजुर्वेद के भाष्य को प्रायमिकता देकर उसकी पुस्ति भी की है।^३

अथर्ववेद के उद्धरण तो यास्क में हैं परन्तु जिस समय निरुक्त में वेदों का निवंचन^४ होने लगा है अथर्व का नाम नहीं। योद्ध-साहित्य में भी त्रिवेदी का ही उल्लेख है। हाँ, छान्दोग्योपनिषद् में अथर्व का नाम आया है किन्तु अलग स्थूला देकर 'धनुर्यमायर्वं' कहा है। इससे यह पता लगता है कि अथर्व पहले एक स्वतन्त्र ग्रन्थमात्र था जो वैदिक-सहिताओं की ही सौलों में सहलित किया गया था। अभिवार-प्रयोगों के कारण उसे वेद की सज्जा नहीं मिली थी, यद्यपि उसे तुल्य समझा जाता था। फिर भी यास्क ने उसका उद्धरण अपनी बहुज्ञता का परिचय देने के लिए दिया है।

यास्क के वैदिक उद्धरणों का विशेष अध्ययन दा० स्कोल्ड में किया है

१. Skold, *The Nirukta*, Chap. II, p. 11.—... "whether it should be regarded as a work based on Vedic studies in general, studies of a special Veda, or group of Vedas. We do not know to which school it belongs or originally belonged. ... Nearly all the Vedas share the honour of being the source of the Nirukta."

२. L. Sarup, *Introduction to the Nirukta*, p. 45.—"The numerous exemplary quotation occurring in the Nirukta conclusively show that Yaska knew the Rigveda,----- the prathakhyas, and some of the Upanisads."

३. देखिये—सायण द्वारा ऋग्वेदमात्रभूमिका का प्रारम्भिक अंश।

४. निरुक्त ७।१२।

तथा अपने ग्रन्थ में उसकी सारणी भी दी है। उसीके आधार पर हम यहाँ एक आदर्श रखेंगे। यास्क के पुछ वैदिक उद्दरण बेवल निश्चत में ही उपलब्ध हैं। सम्भव है कि जहाँ से वे लिये गये हैं, वे ग्रन्थ काल-कोर से नहीं हो गये हो। जो वैदिक उद्दरण अन्यथा प्राप्त हैं वे दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं—कुछ तो निश्चत से मिलते-जुलते [उद्दरण हैं परन्तु कुछ उससे घोड़ा अन्तर रखते हैं। वर्तमे प्रथम-व्याख्यात के मिलते-जुलते उद्दरणों की विस्तृत सारणी देकर बाद में एक सक्षिप्त-सारणी दी जाती है—

प्रथम अध्याय

[क]	केवल निश्चत में—१।१० निष्टव्यतात्, १।१८ स्पाणुर्यं ...	१
[ल]	निश्चत और ऋग्वेद में—१।५, १।६, १।७ नूर्त, १।७ प्रसीम्, १।८, १।९, १।१७ अवसायाइवान्, १।१९, १।२० उत त्व	१
[ष]	निश्चत और ऋग्वेद लिल—१।११	१
[घ]	निश्चत, ऋग्वेद और यजुर्वेद में—नि०+ऋ०+वाजस० १।१७ इति० न त्वा, नि०+ऋ०+तैति०+काठ० १।१७ अवसाय पट्टते ...	२
[छ]	निश्चत, ऋग्वेद और सामवेद में—१।२० अश्वं न त्वा ...	१
[च]	निश्चत, ऋग्वेद और अथर्ववेद में—१।१० एमेत्तं, १।१७ परो निर्झृत्या, १।१७ अन्तिरिक्ष	१
[छ]	निश्चत, ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में—नि०+ऋ०+सा०+ अ०+वैतानसूत्र (अथर्व) १।१० अयमु से	१
[ज]	निश्चत, ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में—नि०+ऋ०+ मैत्रा०+ अ० १।१७ हूतो निर्झृत्या	१
[अ]	निश्चत, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद में—नि०+ऋ०+सा०+ धाज०+सैति०+मैत्रा०+काठ० १।१५ शत सेना	१
[अ]	निश्चत और धारो वेदो में—नि०+ऋ०+सा०+नार०+ तै०+मै०+ का०+शत० धार०+तै० वा + नृ० पू० ताप्तीयोपनि०+ अप० घोतसूत १।२० मृगो न	१
	इन मिलते-जुलते उद्दरणों के अलापे प्रथम-व्याख्याय में मिश्न-पाठोंवाले भी दो उद्दरण हैं। इस सारणी का उद्देश्य यही है कि हमें ज्ञात हो जाय कि विस प्रकार निश्चत जभी देदो वा निश्चत है। अब हम सम्पूर्ण निश्चत के उद्दरणों वा, 'व्याख्यमावली' कर लें—	

२. पहले-सेता ही विस्तार के लिये देखें—Dr. Sheld., *The Nirukta*.

अध्याय	मिलते जुगते उद्धरण	मिन्न पाठ वाले	योग
प्रथम	२४	+	२
द्वितीय	१८	+	६
तृतीय	३३	+	९
चतुर्थ	४६	+	१२
पञ्चम	५६	+	५
षष्ठ	६१	+	१८
सप्तम	३६	+	७
अष्टम	१०	+	९
नवम	२६	+	१३
दशम	२७	+	१७
एकादश	२९	+	१८
द्वादश	१७	+	२४
	३७३	+	१४१
			= ५१४

डा० रुद्रपण सहूप ने निष्कृत के विभिन्न प्रकार के शब्दों की सूची प्रकाशित की है जिसके अनुसार से पता लगता है कि निष्कृत के उद्धरणों को यदि उससे निकाल दिया जाय तो याहक का लिखा अश बहुत ही थोड़ा रह जाता है। कुछ भी हो वैदिक-उद्धरणों का जितना प्रयोग निष्कृत में हुआ है उतना ज्ञायद ही किसी वेदाङ्ग में होगा।

अब हम देखें कि वैदिक शब्दों और वाच्यों¹ के अर्थ प्रकाशन में निष्कृत का क्या स्थान है। यह मानी हुई बात है, किसी भी प्रथम से बहुत दिनों तक के लिए सम्पर्क छूट जाने पर उसके अर्थ करने में बहो कठिनाइयाँ होती हैं। इसलिए प्राचीन होने के बारण ऐदो के अर्थ का विषय करना बहुत कठिन है। 'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना' के अनुसार आज अनेक अर्थ दिये जा रहे हैं। अपनी समझ और पढ़ति से—विसे जो मिला उसने वही अर्थ कर दिया। निष्कृत का काल वैदिक-काल की प्राप्त अन्तिम सीमा है। वैदिक-सहिताओं को बहुत समझ हो गया था। स्वयं याहक ने ही वैदिक अर्थ करनेवालों को विप्रतिपत्ति का उल्लेख किया है। उनके अनुसार वेदार्थों के ये सम्प्रदाय हैं—आधिदेवत, आध्यात्मिक, आस्थानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, नैष्कृत, परिधाजक, पूजा याजिक, याजिक। इससे स्पष्ट है कि आज की भाँति

उस समय भी विभिन्न-आधार हो गये थे। फिर यी उनमें एक परम्परा-प्राप्त अर्थ की रक्षा की गई है।

यास्क वैदिक अर्थ करनेवालों में अत्यधिक उपयोग है, यह उनकी व्याख्याओं से पता लगता है। निर्देशन का ठीक-ठीक पता लगाने में उन्होंने भले ही आलस्य किया हो, विन्तु वैदिक व्याख्या में तो उन्होंने समस्त प्राप्य साधनों का उपयोग किया है। द्राह्यण-ग्रन्थों के अर्थ, परम्परा-प्राप्त अर्थ और निर्देशन-समक अर्थ—सबों को समुचित स्थान दिया है। कहना नहीं होगा कि यास्क की व्याख्या ही सायण और आपुनिक भाषा-वाचिनीयों के अर्थ का मूल है। आज वैद-व्याख्या की चार प्रजालियाँ प्रचलित हैं—

(१) सायणाचार्य की व्याख्या (१४वीं शती) — इसमें निष्क्रिया ही नहीं, समस्त वैदिक-वाद्यमय का उपयोग किया गया है और परम्परा से प्राप्त अर्थों का प्रकाशन किया गया है विन्तु इनकी व्याख्या में विदेशी लोग यह दोष निकालते हैं कि सभी इथानों पर एक शब्द का एक ही अर्थ उन्होंने नहीं किया है। कई अर्थ देने के कारण इनकी व्याख्या कोई विशिष्ट अर्थ नहीं देती। इस विषय में यह कहना अनुचित न होगा कि सायण वैदिक-वाद्यमय के पूर्ण परिवर्तन से, प्रकरण के अनुगार ही उन्होंने अर्थ का परिवर्तन किया है। विष्टपार्थ देने के दो कारण कुमारित ने बतलाये हैं—

व्याख्यान्तरविकल्पस्य द्वयमिल्टे निष्क्रियम् ।

विकल्पापरितोयो वा व्याप्तिर्विषयान्तरे ॥

वस्तुत सायण ने वैदिक-साहित्य का जितना गम्भीर किया उतना किये भी विद्वान् ने नहीं किया है। राजनीति और सेना में भी जाग लेते हुए सभी दास्त्रों को अपनी जिह्वा पर मचाते थे। आज के गवेषकों की भीति वे सूची-परिवर्त^१ नहीं थे। फिर भी सायण परम्परा के प्रवाह में पड़कर कहीं-कहीं असम्बद्ध अर्थ दे देते हैं। इसलिए पूर्णतया इन्हीं पर आधारित होना कठिन है।

(२) दयानन्द की व्याख्या—परम्परा और भाषा-विज्ञान दोनों के

१. सूची परिवर्त—आपुनिक अनुसन्धानों में ऐसी (Index) वी बहुत बड़ी आवश्यकता समझी जाती है जिससे दोबारी इट शब्द का अर्थन निकाल लिया जाता है। एक के विद्वान् अन्य ही फलस्थ रखते हैं जिससे सूचीयों अनावश्यक भी, परन्तु आज प्राच्यविषय के कारण ऐसा करना पड़ता है। अर्थ के स्तर में गहरा प० रामानन्द शर्मा गवेषकों द्वारा 'सूची परिवर्त' कहते हैं।

ही घोर विरोधी स्वामीजी ने शब्दों के यौगिक-बर्यं पर बहुत जोर दिया है और वेदों में ईश्वर का सन्देश, प्रार्थना आदि मानते हैं। इनका पूर्वाग्रह है कि वेदों में इतिहास नहीं। अभिन का बर्यं लेते हैं—जगत् का प्रकाशक परमात्मा। एक नई दिशा की ओर संकेत करने पर भी स्वामी जी का बर्यं आलोचनाओं का पात्र हुआ है।

(३) अरविन्द को व्याख्या—वाध्यात्मिक हस्तिकोण से ये वेदों में अध्यात्मवाद का सन्देश पाते हैं तथा वेदों को दार्शनिक-धर्म भावते हैं, न सो कर्मकाण्ड और न इतिहास। कपालि दास्त्री ने इनकी व्याख्या का अनुवाद संस्कृत में किया है जो बहुत गमोरञ्जक है। चास्तव में वेदों में सर्वत्र आध्यात्मिकता की छाप नहीं है इसलिए यह व्याख्या सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

(४) आधुनिक भाषाविज्ञान के आधार पर व्याख्या—यह पढ़ति अधिकतम सन्तोषजनक है। किसी भी शब्द के विभिन्न-स्थानों के बर्यों की शुलभा की जाती है और यदि सम्बन्ध हुआ तो भारत-नूरोपीय-भाषा के अर्थ वर्गों में उस शब्द की सत्ता किसी भी रूप में स्वीकी जाती है। दृढ़न्तर सम्भाष्य बर्यं परिवर्तन की पूर्ण परीक्षा करके किसी शब्द का तात्कालिक बर्यं निकाला जाता है। टोकाकार भी पर्याप्त सहायक होते हैं। जैसे—‘इमः’ शब्द ऋग्वेद में आता है, लैटिन में ऐसा ही ‘दोमस्’ (domus) शब्द है, दोनों का बर्यं ‘पर’ है। साधण ने भी यही बर्यं दिया है। इस शब्दाली के प्रथम प्रवर्तनक है रॉय डिम्होनि संहित-जर्मन गहाकोप (Petersburg worterbuch) का निर्णय इसने सहृकम्ही घोटनिदू के साथ किया। आधुनिक अनुसन्धानों से वेदों के बर्यं पर काफी प्रकाश पड़ता है। प्राप्तमैन और गेट्टनर ने जर्मन-भाषा में समूचे ऋग्वेद का अनुवाद किया है जिसमें इन सभी अनुसन्धानों का पूर्ण वर्णण किया है। इतना होते हुए भी यह रीति अभी अधूरे अनुसन्धानों के कारण अनुरूप है। जब उक सभी वैदिक-धर्म न मिल जायें, भारतीय-परम्परा वा सम्यक् ज्ञान न हो जाय, विभिन्न-बर्यों में विकरे वेदार्थं वा आलोचनारूपक अध्ययन नहीं किया जाय, वेदवल भाषावासन के आधार पर वेदार्थं करना भूल है। यह कायं एक व्यक्ति वा नहीं, व्यक्ति-घमूह वा है।

आधुनिक-बर्यं विवेचना कौनिक-बर्यं वा प्रतिपादक है जब कि परम्परा हमें इह बर्यं की ओर से जाती है। पं० रामेश्वरिन्द्र विवेदों ने ‘हिंदियोंगात्

'यत्तीयसी' भले ही कह दिया हो परन्तु वेदिक युग में शब्दों का जो अर्थ था उसकी प्राप्ति के लिए परम्परा कुछ दूर तक ही सफल हो सकती है पूर्णतया नहीं। कारण यह है कि वेदिक युग से वेदार्थ करनेवालों के युग में बहुत अन्तर पड़ जाता है। यास्क ने भी व्याख्या तब आरम्भ की है जब लोग वेदार्थ भूलने लगे हैं। फिर यास्क ने समूची वेदिक-सहिता की व्याख्या नहीं की है किन्तु जहाँ तक की है, परीक्षा में उतना अर्थ प्राप्त खरा उत्तरता है। इस दृष्टि से यास्क वेदार्थ के प्रथम प्रकाशक हैं। अर्थ में विभिन्न-मतों का होना स्वाभाविक है। हम साधारण-सी बात बोलते हैं उसीका किरणे लोग सरहन्तरह का अर्थ समझ लेते हैं। 'चत्वारि शृङ्गाऽ' की व्याख्यायें ही विभिन्न-प्रकार की दी हुई हैं—याज्ञिक अर्थ (साधन), व्याकरण का अर्थ (पठञ्जलि) साहित्यिक अर्थ (राजशेखर) और सूर्य का अर्थ (तैत्तिरीय ग्राहण)। यह बैसा ही है जैसे बहानुव वे वर्ता को एक ही अर्थ अभीष्ट पा, अपने पूर्वाप्रह से खोचतान करके लोगों ने द्वेतवाद, अद्वेतवाद, विशिष्टाद्वैत आदि विभिन्न-मत चलाये।

कुछ भी हो वेदार्थ से निष्ठता का अपना स्थान है, प्राचीनता और वैज्ञानिकता होने के कारण इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेद-व्याख्या की शीली भी हमें यास्क ने दी है। ऋचाओं में जिस क्रम से शब्द है उसी क्रम से ये उतनका अर्थ देते जाते हैं, वाक्य-विन्यास (Syntax) की चिन्ता नहीं करते। इसके आधार पर भाषावास्त्र की एक अद्भुती शास्त्र वाक्य-विन्यास (syntax) पर अध्ययन किया जा सकता है। यह शीली पिछले युग में सर्वमान्य रही किन्तु उसमें भूल शब्द भी अन्वय के साथ लिखे जाने लगे। यास्क का एक उदाहरण लें—

तत्सूर्यस्य देवत्वं तत्महित्वं मध्ये कर्तोवितर्तुं स जभार।
यदैदयुक्तं हरिता संघस्थादाद्रात्री वासस्तनुने सिमस्मै॥

व्यारया—तत्सूर्यस्य देवत्वं, तत् महित्वं, मध्ये यद् अर्थां (= वर्तोः) क्रियमाणाना वितत संहित्यते। यदासी अयुक्त हरणान् आदित्यरशमीन् ; हरित = अश्वान् इति वा, अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै। अपि वा, उपमार्थं स्यात्—रात्रीव वासः तनुने इति (४।१।)।

पठ परिच्छेद

निरुक्त और व्याकरण

[निरुक्त और व्याकरण में सम्बन्ध—व्याकरण को प्राचीनता—व्याकरण का सम्प्रदाय—निरुक्तमें व्याकरण के शब्द—पतञ्जलि और निरुक्त—उपसर्ग की वाचकता और व्योतकता का प्रश्न—प्रौढ़ राजवाङ्मेय के निरीक्षण—निष्कर्ष ।]

यास्क ने निरुक्त को कहा है कि यह विद्यास्थान है, व्याकरण का पूरक है।^१ वेदों के समुचित अध्ययन के लिए भी दोनों की समान आवश्यकता है व्योति दोनों वेदाङ्ग हैं। इस साहचर्य के कारण उनमें अनिष्ट सम्बन्ध का होना अनिवार्य है। वे एह दूसरे के पूरक हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे माद्यरूप और योग, आगमन और नियमन तर्वशास्त्र ।

व्याकरण शब्दों की शुद्धागुणि का विचार करता है, और शब्द रचना के लिये प्रत्यक्षित-प्रत्यय का विस्तार करता है जैसा कि तैत्तिरीय-ऋग्वेद के इस वाच्य से मालूम होता है—‘यावै पराची अव्याहता अवदृते देवा हग्म-इवन्—इमा नो वाच व्याकुदिति’... ‘तामिद्रो मध्यतोऽवत्रम्य व्याकरोत्। तस्मादिप व्यापूना वागुदते’ (तै० स० ६।४।३।५)। पुन शब्दों के भेद, लिङ्ग, वचन, कारक आदि का विचार भी व्याकरण ही करता है। वे सभी शब्द के बहिरङ्ग हैं। पतञ्जलि ने व्याकरण के प्रयोजनों में शब्दानुशासन, वेदों की रक्षा, वह (विचार) आगम (वेदाध्ययन), शब्दाविकार भी शब्द और असन्देह का मुख्य माना है। आवानत निरुक्त के भी ऐसे ही काम हैं विन्दु यह एक ढेव और आमे बड़वर अर्थानुशासन भी करता है। व्याकरण यह शब्दों की शुद्धता की जैव छिप्पत्रयोग (नियाउनों पे) और प्रटिप्रत्यय के द्वारा कर सकता है तब निरुक्त ही उसका अर्थ ही और सङ्केत रचना है। भाषा में शब्द यदि बहिरङ्ग है तो अब अन्तरङ्ग । निरुक्त भभी शब्दों में यानु की रक्खना वर्ते मूल से सेकर वर्णमान अर्थं तर शोदृग्ने की जेगा करता है। चूंकि शब्द और अथ में आपोन्याथ्य सम्बन्ध है इन्हि व्याकरण और निरुक्त भी इसका अधिकार हैं।

१. तदित विद्यालय, व्याकरण्य कार्यक्रम (नि० १।१५)।

व्याकरण अपनी प्रकृति की सुदृढता और वर्य की जाँच के लिए निहत्त पर निर्भर करता है। सच यह है कि वर्य का ज्ञान निहत्त के बिना नहीं हो सकता। घातुपाठ के सभी वर्य निहत्त की ही कृपा से हैं। दूसरी ओर निहत्त उन घातुओं के लिए व्याकरण की ही सहायता लेता है परन्तु प्रत्ययों की आवश्यनता इसे नहीं। जैसे कहीं-कहीं स्पष्टीकरण के लिए दे दें, यह दूसरी बात है। इतना होने पर भी निहत्तकार यास्क व्याकरण को सर्वस्व नहीं मान सकते जैसा कि वे कहते हैं—‘न सखारमादियेत्। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति’ (२।१)। व्याकरण के रूप बड़े सशयात्मक होते हैं इसलिए कई स्थानों पर उन्होंने व्याकरण के घातुओं का उल्लंघन किया है। यह हम ऊपर दिखा चुके हैं।

यास्क के समय वैयाकरणों का एक पुष्ट सम्प्रदाय या—यह उनके उद्दरणों से स्पष्ट होता है। निहत्तकार स्वयं भी कई वैयाकरणों के नाम देते हैं जैसे— शाकटायन, गाम्यं, गालव, शाकल्य। इनके नाम पाणिनि ने भी अष्टाद्यायी में दिये हैं। यदि वे दूसरे व्यक्ति नहीं हैं तो सचमुच ये आचार्य अत्यन्त प्राचीन हैं। इन सभी वैयाकरणों तथा अन्य आचार्यों का पूरा उपयोग निहत्त में किया गया है। इनके पारिभाषिक—शब्द निहत्त में प्रचुरता से मिलते हैं। कुछ शब्द ही प्रातिशाख्यो (विद्याद्यन्यो) से भी लिये गये हैं जैसे—सहिता, स्वर आदि। पाणिनि ने यास्क के कुछ शब्दों को परिवर्तन के साथ दिया है—

प्रेरणार्थक	...	यास्क	...	पाणिनि
क्रियासमिहार	...	कारित	...	णिजन्त
इच्छार्थक	...	चक्करीत	...	यद्यलुग्नत

इन शब्दावलियों से स्पष्ट होता है कि यास्क ने नाम रखने के लिए \checkmark के रूप को ही उपलक्षण मानकर उसका भूतकाल कर दिया है (कारित), इसी शैली में व्याकरण ने ‘इत्’ और ‘इत्य’—जैसे शब्दों को स्वीकार दिया है जो उपलक्षण का ही उदाहरण है। किन्तु पाणिनि-व्याकरण में प्रत्यय की मत्पन्ना करके उसके भाष्यार पर नाम रखने की प्रणाली है जैसे तिद्वत, सन्तन्त। यह विकासावस्था का चौतक है।

व्याकरण के पद-भेद यास्क ने भी लिये हैं—नाम, आव्याप्त, उपसर्ग और निपात। पीछे चलकर पाणिनि के बहुत दो ही भेद रखते हैं—मुद्रन्त और २. देखिये—उपिषिठ मीमांसर, व्याकरण शास्त्र का विद्यालय।

तिहत्त ! निष्ठा में व्याकरण के पारिभाषिक शब्द बहुत-से पड़े हुए हैं जिन पर स्वतंत्र-रूप से अलग अलग विचार करना एक सम्भव का विषय है। व्याकरण के कुछ शब्दों का तो उन्होंने निर्वचन तक दिया है जिससे हाँ देलवलकर—जैसे कुछ विद्वान् निकर्ष निकालते हैं कि इन शब्दों को वे पारिभाषिक नहीं मानते होंगे जैसे 'सर्वनाम' का निर्वचन है 'सर्वाणि नामानि यस्य, सर्वेषु भूतेषु नमति = गच्छति वा', किन्तु निर्वचन की धून तो यास्त्र में है ही। 'निपात' को भी तो वे 'उच्चावचेष्वेषु निपन्नित' बहते हैं। फिर चार पद भेद कहने का वया अभिप्राय है ? यदि सर्वनाम को पारिभाषिक-शब्द नहीं मानते तो 'त्व इति सर्वनाम अनुदात्तम्' वर्णों कहते ! यह स्थान स्पष्ट करता है कि सर्वनाम कुछ खास शब्दों का संग्रह है जैसा पाजिनि भी मानते हैं।

जिस प्रकार यास्त्र ने व्याकरण की शब्दावली का प्रयोग किया है उसी प्रकार पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में निहत्त के मताले का खुलकर उपयोग किया है और कई स्थानों पर उनके वाचन उयों-के-त्यों उद्घृत किये हैं। कुछ उदाहरण लें—

१. मेरे पूर्व गुरु प्रसिद्ध वैदिक हाँ लारापद चौधुरी, एम० ए०, पी० ए० डॉ० (छन्दन) निहत्त में व्याकरण के शब्दों पर गवेषणा (Research) कर रहे थे, किन्तु उनके भस्त्रामदिक निधन (दीवाली, अक्टूबर ३१, १९५१) से वह कार्य अधूरा रह गया। उन्होंने सुझे अपनी शब्दावली की तालिका दी थी। आज है इसमें निहत्त के शब्दों पर काशी प्रकाश देतेगा और इस विषय पर गवेषणा दो प्रश्नतिवेदी—

पदात्, नाम, अस्त्यात्, उपसर्ग, निशात्, भाव, सत्त्व, वचन, इमैस्मग्रह, उप-सम्य, पश्चमी, दिवोया, चतुर्थी, ग्रहमा, (एक स्थान पर क्रम से भी विभक्तियाँ दी हुई हैं), सर्वनाम, अनुदात्त, अर्थनाम, इहन्द्य, अनुदात्त अहति, दशमहति, दशुवचन, व्यात, उस्तार, आरित, इत्य, नामकरण, अवग्रह, सहिता, भाग्यहति, उपसृष्ट, प्रादेशिक-विद्यार, अशुर, धर्म, विभक्ति, निष्पुत्तिस्थान, उपथा, व्यापति, वर्णोपजन, स्वर, अन्तस्य, दिग्महति, प्रहृति, विहृति, लटित, समाप्त, एक्षयते, अनेकपते, तादित, पूर्वी प्रहृति, चर्दीन, पूर्ता सदया (१), अम्बस्त, निरुदोपथ, अन्वादेश, ग्रहमादेश, अनवग्रह सरकार, निगम, वास्त्व, विशीकृत, निर्देशिनोपसर्त, तुष्टिविकरण, ग्रहम-मध्यम-उत्तम-पुरुष, अनास्त्रान्तर्हपतिहृति-विभाषित, शुद्ध, आदितुष्ट, अन्वास्त्र, व्यास, तर्से हितन् तेन सरात्तम्, तत्त्वापत्त्यग् ।

इस प्रहृति-तादित से रख देना है कि निहत्त व्याकरण का विद्वान् नहीं है। इन शब्दों के उपरास पर या निहत्त में माने के खोल पर या इनकी उपनीयता पर अच्छा अनुसंधान हो सकता है।

(१)	निरक्त ११२ —	महाभाष्य — पद्मावतिकारा भवन्ति इत्याहुं
(२)	" ११३ — "	भगवान् चार्यायिणः ।
(३)	" ११२ — "	— उत्तरत्वं पश्यन्तः ।
(४)	" २१२ — "	— नाम खल्वपि धातुजम् — एवमा- माहूनेरक्ता ० ।
(५)	" ४१० — "	— शब्दिगंति कर्म कामोजेऽवै भावितो भवति ।
(६)	" १३० — "	— सब्दुमिव तितउना पुनन्तो० ।
(७)	" १३१ — "	— चत्वारि शृङ्खा वयो० ।
		— चत्वारि वाक्परिमिता पदानि ।

अतएव निरक्त और व्याकरण में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । निरक्त का सर्व प्रयत्न उल्लेख अपने वर्तमान अर्थ में आन्दोऽयोपनिषद् (सत्तम अध्याय) में मिलता है तथा छ वेदाङ्गों के नाम हमें मुण्डकोपनिषद् (१५) में मिलते हैं । फिर भी कालक्रम की हटि से व्याकरण निरक्त की अरेक्षा प्राचीनतर है यद्योऽकि निरक्त की अमृतस्तियो का अोत व्याकरण ही है जिसकी पूर्वस्थिति ब्रावश्यक है । इकोट्वाद और क्रिया के छः विकारों का विवेचन हम कर ही सकते हैं—इन्हें भी यास्क ने—वैया-करणों से ही लिया था ।

उपसर्गों के विषय में भी हो पक्षी—शाकटायन और गार्थ—का समन्वय यास्क ने अच्छी तरह किया है । शाकटायन का मत है कि उपसर्ग का अवेले कोई अर्थ नहीं (अर्थात् ये याचक नहीं हैं), ये वेवल चिह्नमात्र हैं तथा क्रिया और सज्जा में जुटकर उन्हीं के छिपे हुए अर्थ का प्रकाशन कर देते हैं । दूसरी ओर गार्थ का मत है कि उपसर्ग वाचक हैं, अपना अर्थ रखते हैं तथा सज्जा या क्रिया से मिलकर उनके अर्थ में विकार ला देते हैं । यास्क शाकटायन के मत पाँ उल्लेख करके गार्थों के पद में भी उपसर्गों का अर्थ देते हैं, जिस प्रकार का परिवर्तन बीन उपसर्ग करता है ।^२

प्रौ० राजवादे ने यास्क की व्याकरण-सम्बन्धी दो साधारणियों का निरीक्षण किया है । यास्क ने वसोपसंप्रह (Conjunction) 'व' के विषय में लिखा

१. भूमिया वा परिवर्त्ते व (क) ।

२. विशेष विवरण के लिए देखें—३० विवरण देव दिवेदी वाचार्य, अर्थविश्लेषण और व्याकरणदर्दन ।

है 'उमाभ्या सम्प्रयुज्यते' अर्थात् यह दोनों जुड़े हुए शब्दों के बाद आता है। ये इस नियम का पूर्ण रूप से पालन करते हैं जैसे—चर्मं च श्लेष्मा च (२१५), स्नावं च श्लेष्मा च (२१५), विचिकित्सार्थीयं च पदपूरणं च (११५)। दूसरे, पाणिनि के अन्वादेश^१ का पालन करने में भी यास्क सावधान मालूम पड़ने हैं—'प्रथनात् पृथिवीत्याहु, क एनामप्रथविष्यत् ? (११३) आस्यपृथिवीते, आस्यन्दते एनत् व्यनम् (११९) इत्यादि।^२

इस प्रकार हम देखते हैं कि निश्चक व्याकरण का पूरक तो है ही, साथ ही साथ व्याकरण के नियम भी इसमें समूचित स्थान पाते हैं। वस्तुतः दोनों सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं।^३

१ अन्वादेश—'एन्ट' शब्द को दुष्ट विपक्षियों में त्राट के स्थान पर नहीं हो जाता है। यह तब होता है जब उस अर्थ का उत्तरेता पहले भी हो जुका हो जेते—अनेक व्याकरणमधीयन्। एन एन्टोप्रथापय। देखिये तिळान्धौमुशी—एवं कार्यं विपानु-मुराहिरय वादर्नतरं पिशान्तु पुनरुषादानन् अन्वादेश।

२ Rajaride, Yāska's Niruktā LII

इ निहल में व्याकरण शालीय एवं के अध्ययन के लिए सेसठ एवं शोधनिवास विद्वां रिसर्च सोसायटी परिका के लिए Grammatical Speculations of १८१८ नाम से लिख रखा है जो दोनों ही प्रश्नाद्वित द्वागा।

सप्तम परिच्छेद

निरुक्त और भाषाविज्ञान

[भाषा-विज्ञान की नीव—इसकी शाखायें—यास्क का युग—भाषायें और उपभाषाये—भाषा को उत्पन्नि—मनुष्य ही भाषा का उत्पादक—धारु-सिद्धान्त—यास्क का सिद्धान्त और मनोविज्ञान—ध्वनि-विज्ञान—स्वरों के क्रम (Grades)—सम्प्रसारण—ध्वनि-परिवर्तन—इसकी विभिन्न दिशायें—रूप-विज्ञान—सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व—पदों के भेद—संज्ञा और किया में सम्बन्ध-तत्त्व—शब्द की रचना—फृदन्त—तद्वित—समाप्त—अर्थ-विज्ञान—निरुक्त का आधार—अर्थ-परिवर्तन—वस्तुओं का नाम पढ़ने का कारण—अर्थ-परिवर्तन के कारण—साहस्र्य—तद्वित-प्रयोग—अर्थादेश—वाक्य-विज्ञान—यास्क के वाक्यों की विशेषतायें—निर्वचन—भाषा का विकास ।]

हमारी समस्त कियाओं की भित्ति भाषा पर ही आधारित है जिसका साझेपाझे विवेचन करना भाषाविज्ञान का काम है। यद्यपि यूरोपीय-विद्वानों के मस्तिष्क से ही इसे आधुनिक-रूप मिला किन्तु यह कोई मबून विज्ञान नहीं। हजारों वर्ष पूर्व ही इसकी नीव भारत और यूनान में पड़ चुकी थी। इसे आधुनिक-रूप में लाने का श्रेय भी सस्कृत-भाषा को ही है। सामान्य-भाषाविज्ञान का कोई भी ग्रंथ, याहे वह सिद्धान्तों की विवेचना करे या इस विज्ञान के इतिहास का वर्णन करे, यास्क और पाणिनि के नामोलेख के बिना अपूर्ण ही रहेगा। इन दोनों के अध्ययन से ही यूरोपीय-विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों की विवेचना करने को दोली पाई और अधिकार्य वस्तुएँ भी उन्हे इनमें मिल गईं।

भाषा-विज्ञान अपनी विशेषणात्मक-शक्ति के कारण विभिन्न शाखाओं में बंटा है जिनमें स्वतन्त्र-रूप से मिन्न-मिन्न विषयों का अध्ययन त्रिया जाता है। इसकी मुख्य शाखायें ये हैं—(१) ध्वनि-विज्ञान (Phonology) जिसमें ध्वनि की उत्पत्ति, योजन-वक्ता-सम्बन्ध, ध्वनि-विकास, ध्वनि-परिवर्तन आदि विषय आते हैं, (२) रूप-विज्ञान (Morphology) जिसमें शब्दों के भेद, उनके विकास, रूप-परिवर्तन, समाप्त की रचना आदि विषयों का विचार

होता है, (३) अर्थविज्ञान (Semantics) जिसमें शब्दों के अर्थ, अर्थ-परिवर्तन और इसकी दिशायें, उनके कारण आदि विषयों का, अध्ययन किया जाता है, (४) वाक्य-विज्ञान (Syntax) जिसमें किसी वाक्य में शब्दों का स्थान-निर्धारण करके विभिन्न-स्थान होने से अर्थमें आदि का विचार होता है। शब्दों का सम्बन्ध-तत्त्व किस प्रकार एक दूसरे से जुड़ता है इसका अध्ययन करना वाक्यविज्ञान का ही काम है। इन मुख्य शास्त्रों से भी कई शास्त्रों निकली हैं जैसे (५) निवंचनशास्त्र (Etymology) जिसमें शब्दों की उत्पत्ति और इतिहास का पता लगाते हैं। हम आगे यास्क के निःकृत को भाषाविज्ञान की इन शास्त्रों की कस्ती पर कस कर देखेंगे कि आचुनिक-बनुसंघानों और यास्क के तात्कालिक ज्ञान में वया अन्तर है तथा यास्क ने भाषाविज्ञान के विकास में वया सहयोग दिया है।

यास्क के युगपर हृष्टिपात करने पर हमें पता लगता है कि उनके समक्ष केवल दो ही भाषायें थीं और वे भी एक ही परिवार की। वे हैं—वैदिक-भाषा और लोकिक-भाषा। पहली भाषा का केवल साहित्य वर्तमान या और दूसरी बोलचाल की भाषा थी। पहली को वे बहुत 'विग्रह', 'छाद', 'ऋग्' आदि नाम से पुकारते हैं तथा दूसरी को 'भाषा' ही कहते हैं। दोनों के पर्याप्त अध्ययन से यास्क में ऐसी शक्ति आ गई है कि वे शब्दों के विषय में अनुसंधान कर सकें। भाषा-विज्ञान ने वैदिक-भाषा की भी उत्पत्ति मूँ ८० यू० भाषा से मानी है किन्तु भौगोलिक और अन्यान्य कारणों से वहाँ तक पहुँचना यास्क के लिए उत्तम युग में असम्भव था इसलिए वे वैदिक-भाषा तक ही बढ़ सके जिसे वे लोकिक भाषा का उदगम-स्थान मानते हैं।^१ और हो और, अपने प्रदेश में ही सर्वत्र धूम-धूमकर उपभाषाओं की विभिन्नता का अध्ययन करना कठिन था। ऐसी हितति में यास्क ने अपने समक्ष विद्यमान भाषाओं को लेकर ही भाषा-विज्ञान का अनुसन्धान आरम्भ किया है।

यह भी सत्य है कि उस समय उपभाषायें पर्याप्त थीं जिनका द्वाद्वृण-ग्रन्थ में प्राच्य, उदीच्य आदि बोलियों के उत्तेजव मिलते हैं।^२ यास्क ने भी उपभाषाओं का उल्लेख किया है। अनुमान हिया जाता है कि यह सूचना या तो यास्क को यात्रियों से मिली होगी या परम्परा से प्राप्त हुई होगी,

१. देखिये—अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्।

२. Vide, Dr. Suniti Kumar Chatterjee, Indo-Aryan and Hindi, Old Indo-Aryan.

ऐसी अवस्था में ये उस समय नहीं बोली जाती होंगी। आर्य, कम्बोज, उदीच्य और प्राच्य देश की उपभाषाओं में और कुछ अन्तर नहीं, वेवल दो धातुओं और सज्जाओं का ही—यह वाइचर्यं प्रतीत होता है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि याहक अपनी अल्प सूचना पर भी कितना ध्यान रखते हैं और उसे उचित स्पान देकर भाषाशास्त्री का कर्तव्य पूरा करते हैं। पाणिनि और पतञ्जलि को उपभाषाओं के विषय में काफी सूचना मिली मात्रम् पढ़ती है वयोःकि वे भारत के सातकालिक भूगोल का अधिक ध्यान रखते हैं। युग की सीमायें देखकर ही हमें याहक के सम्बन्ध में कुछ कहने वा अधिकार है।

अपना मूल अध्ययन भारम्भ करने के पूर्व भाषाविज्ञान के एक घड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न—भाषा की उत्पत्ति—पर विचार कर लेना सामयिक प्रतीत होता है। वस्तुतः यह प्रश्न आरम्भ से ही विद्वानों को परीशान करता आ रहा है कि भाषा की उत्तरति कैसे हुई। विभिन्न लोगों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इसके अलग-अलग समाधान दिये हैं। कुछ लोग भाषा को ईश्वर-कृत मानते हैं कुछ लोग वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण वे समय की ध्वनि से, कुछ वस्तुओं के ही द्वारा को गई ध्वनि और कुछ लोग विकासवाद से भाषा की उत्तरति मानते हैं।^१ प्राचीन भारत और यूनान में ईश्वर को ही भाषा का द्वारा जाता था वि ईश्वर ने ही भाषा बनाहर हमें दी है। सहृदय का पर्याय शब्द ‘देवभाषा’ इसी धारणा का द्वारा है। याहक ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है विन्तु स्पष्टतया अपने मत का उल्लेख नहीं दिया वयोःकि अपने मन की पूर्व-इत्पन्ना लेकर ही उद्दोने निरक्त वा आरम्भ किया है। इसका तात्पर्य है वि वे पाठ्यों से आज्ञा रखने हैं वि याहक वा अपना विद्वान्त क्या है, इससे अभिज्ञ हैं। जहाँ-तहाँ विवरे हुए उनके वाक्यों द्वे देववार ही उनके सिद्धान्त का हम अनुमान वर मन्ते हैं। निरक्त (१२) में वे कहते हैं—‘अणीयरदराच्च शब्देन संजाहरण व्यवहारायं सोऽ। तेषां भनुष्यवदेवतामिधानम्।’ इन्तरा अभिश्राय यह है वि वस्तुओं का नाम संसार में व्यवहार के लिए रखा गया है वयोःकि वस्तुओं को पहचानने या

१. पाणिनि पर दा० बासुरेव शुद्ध अव्ययाल ने असुचम् ग्रन्थ प्रत्युत रिया है—‘पाणिनिवालीन भारतवर्ष’ जिसमें पाणिनि वा संस्कृतिक अध्ययन दिया गया है। इसी की स्परेया वा ग्रन्थ एतचलि दर दा० बैज्ञानिक पुरी ने लिया है।

२ Cf. Divine Theory, Bow bow Theory, Pooh pooh Theory, Diring-dong theory, Yeho-he Theory, Evolution Theory etc. Vide—Tarn-porewali, Elements of the Science of Language.

चतुर्लाने की अन्य प्रणालियाँ (जैसे सकृत करना, वस्तु को ही सामने रख देना आदि) बहुत ही कठुनाघ्य हैं, यद्य ही सरलता से वस्तुओं का धोतन कर सकते हैं इसलिए शब्द के द्वारा ही उनका नाम सुविधा के लिये रखा जाता है।^१ वस्तुओं के जो नाम मनुष्यों में रखे जाते हैं, देवना भी उन शब्दों से ही तत्पञ्चद्वय वस्तुओं को समझ लेते हैं। इससे इनका तो स्पष्ट है कि वे देवी भाषा (ईश्वर द्वारा बनाई गई भाषा) में विश्वास नहीं करते। भाषा का उत्पादक मनुष्य ही है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि 'देवभाषा' शब्द को व्याख्या उग्नीने अच्छी तरह कर दी है। यदि भाषा का उत्पादक यनुष्य ही है, उसे बोलने वाला भी मनुष्य ही है तो सहृन को 'देवभाषा' व्यों कहत है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि इसी भाषा में देवना भी अपेक्षा ममसते हैं, मनुष्यों की प्रार्थना पर ध्यान देने हैं इसलिए इन देवभाषा कहने में अत्युक्ति नहीं।

किन्तु यास्क के वाक्यों से यह पता चलता है कि वे किसी भाषाविशेष को ही देवनाओं की बोलगाम्य भाषा नहीं कहते। भाषाभ्यरुता से शब्द' भाषा को उग्नीने ऐसा कहा है। किर भी यह अनुमान लिया जा सकता है कि यास्क के सामने एक ही भाषा—सहृन-भाषा या लीकिङ भाषा—होने के कारण उनका लक्ष्य एकमात्र इसी पर है। दूसरे, बाद में 'इमंहम्पति मध्य वेदे' कहकर भी इसी का निर्देश दे करते हैं व्योंकि वेद म भी इसी भाषा का प्रयोग है। वस्तुन् यह स्थान यास्क के सम्बन्ध का परिचायक है जहाँ उग्नीने मनुष्य कृत भाषा मानकर भी 'देवभाषा' को संगति बैठाई है।

इनका ही नहीं शब्द के धानुज-सिद्धान्त वा विचार करते समय भी कुछ पत्तियाँ वे रख जाते हैं जिनसे दाऽदोत्पत्ति पर प्रशास पड़ता है। निष्क्रिय (३१४) में यह है—‘भद्रति हि निष्पन्न-सिद्धान्ताहारे योगररीचिति’ अर्थात् इसी शब्द वे बोलकाल में प्रयोग हो जाने पर ही उसकी ध्युत्पत्ति देखी जानी है कि इन वस्तु का यह नाम व्यों पढ़ा। ‘पूर्विको’ को उत्पत्ति में जाहे ✓प्रप्. (फैलना) का अपान न हो किन्तु उसी से सम्बद्ध ‘पूरु’ (फल हुआ) पान तो है जिससे इसकी उत्पत्ति हो सकती है? कियाँ ही शर्दा को उत्पन्न करती है अर्थात् कोई शब्द इसी किया से पहल सम्बद्ध होना

१. तुमना वरे—दण्डो वद वास्तव्यर्त्ती (११४)—

इदमन्यनम् इमन् दादेष मुदनवदस् ।

वरि दावदाहद उद्देनिरात्मनार न दीन्देष ॥

है, भले ही लक्षणा, रूपक आदि कारणों से उनके अर्थ की विकृति हो जाय। निष्कर्ष यही निकलता है कि वे मनुष्य के द्वारा की जाने वाली क्रियाओं से ही शब्दों का सम्बन्ध मानते हैं। घातुओं पर विचार करते हुए मैवसमूलर ने कहा है^१ कि इन घातुओं की तीन विशेषताएँ हैं—(१) इनमें निश्चित ध्वनि होनी है जो भाषा के ध्वनि-नियमों के अनुसार बदलती है, (२) प्राप्यः इन सबों में ही मनुष्य के द्वारा की जाने वाली किसी क्रिया का अर्थ छिपा हुआ रहता है, (३) ये विचारों को व्यक्त करते हैं, वस्तुओं के मानसिक-संस्कार को नहीं।

यास्क का इस सम्बन्ध में अपना मन आधुनिक-भाषाविज्ञान की दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं है व्योकि इस सिद्धान्त में ध्वनि से अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं दिखलाया गया है। यास्क की व्याख्या मनोविज्ञान की ओर सकेत करती है जैसा कि स्टाउट का कहना है—प्रत्यक्षीकरण बहुपा शारीरिक-गतियों से जुड़ा रहता है। इस प्रत्यक्षीकरण के बाद ध्वनियों की पूर्ति के लिये शरीर में चेष्टायें होती हैं और वे ही चेष्टाय उन वस्तुओं से जुड़ जाती हैं जिसपार उन वस्तुओं को देखकर शरीर में पुन वैसी ही गति उत्पन्न होती है। इसी क्रम से मनुष्य की ध्वनि भी उत्पन्न होता (चूंकि यह भी एक शारीरिक चेष्टा ही है) वस्तुओं से सम्बद्ध हो जाती है^२। इस प्रवार भाषा उत्पन्न होती है। यास्क भी मनुष्य की क्रियाओं से ही शब्दों की उपत्ति मानते हैं परन्तु उचित साधनों के अभाव में उससे बाने न बढ़ सते। तथापि उनको देन भाषाविज्ञान के इनिहास में बहुत महत्वपूर्ण है।

अब हम चमत्कार भाषाविज्ञान की दास्ताओं पर निहत्क हप्ती फल की संगति बैठायें। यद्यपि निर्वचन के सिलसिले में बहुत कुछ कहा जा चुका है किन्तु उन पर पृथक्-रूप से विचार करना अनुकूल न होगा।

(१) ध्वनिविज्ञान—विद्यासंग्रहों में व्यारों के ऋग, उच्चारण आदि का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है,^३ यास्क ने अनावश्यक समझ पर इन बातों का उल्लेख भी नहीं किया है बिन्तु ध्वनि के कुछ मिदान्तों को हन्दोने प्रातिशाद्यों से भी बांगे बढ़वार दिया है। ध्वनिविज्ञान की दास्ताओं में यास्क के निरीक्षण अत्यन्त उत्प्यप्त हैं और आधुनिक-अनुग्रन्थों में अनुकूल हैं।

१. *Three Lectures on Science of Language*, p. 29.

२. Stout, *Manual of Psychology*, Book II, Chap. 5

३. Vide, Allen, *Phonetics in Ancient India*.

(क) स्वरविकार (अवश्रुति Ablaut) के नितने भी रूप संस्कृत-भाषा में उल्लङ्घ हैं सबो का परिचय यास्क को है। हम यह जानते हैं कि संस्कृत भाषा में देवल परियाणात्मक (Quantitative) स्वरविकार होता है। एक ही स्थान से उच्चारण होने वाले स्वरों में पारस्परिक परिवर्तन होता है जो उच्चारण-काल के आधार पर निश्चित होता है। ये विकार हैं—गुण, वृद्धि और सध्प्रसारण। यद्युपि हम गुण और वृद्धि का निदर्शन दरते हैं—

प्रथम ग्रम (grade)	इ	उ	ऋ
द्वितीय ग्रम (grade)	ए	ओ	ऋट्
तृतीय ग्रम (grade)	ऐ	ओ	आट्

इनमें प्रथम ग्रम को मूल-स्वर मू० भा० यू० भाषा का हस्तित-क्रम ('reduced' grade or 'Vollstufe') कहते हैं। द्वितीय-क्रम पाणिनि का 'गुण' है जिसे मू० भा० यू० का सामान्य ग्रम ('Normal' grade) पहने हैं। तृतीय-क्रम पाणिनि की 'वृद्धि' है (Lengthened grade)। यास्क इवर के इन सभी विकारों से वरिचित है भले ही उनका नाम न है। वि = पश्चीमित्रका निर्वन्दन है 'वेते, गतिकर्मण' अर्थात् वि <वेति। यही नहीं एक जाह वे गुण वा नाम भी लेते हैं—'दोष' इति सुखनाम। विद्यने। उचार नामकरण। अन्तर्स्थान्तरोपलिङ्गी गुणः (१०।१७)। इसमें विद्य में 'दोष' ही जाना गुण के कारण दृढ़ते हैं। इसी प्रकार वृद्धि का ग्रम इतन है—ईश्वरातः करमात् ? विश्वनृ नरात् लक्ष्यति (७।२१) जिसमें विद्य से 'ईश्वर'—यनाया गया है। इसके बाद (७।२३ म) तो वृद्धि से वने शब्दों की भरमार ही कर दी है और यह भी शब्द है कि उनके पारस्परिक भरमन्य भी वे जानने भी थे। देखें—वेद्युत् (<विद्युत्), ओतमिषानि (<उत्तम्) भाषानि (<भग्)^१ सावित्राणि (<सवित्र्), पोष्यानि (<पूष्य्), वृत्तावाति (<विष्णु-), भास्मेयेषु (<भास्मि-), आदित्य (<भद्रिति-) इत्यादि। उचार व नभो वा उपर्याह ने एक स्थान पर भी प्रयोग किया है (१०।१५)—अभिष्टुष्मि, स्तुव्या स्तोमे—इसमें व्रतम वृद्धि, मूल भीर गुण विद्यार व दृढ़ हैं। फिर—'द्वा, रोति

१. वृद्धिरैष (या० यू० १११८)—ज्ञानाद भी वृद्धि ही रे वर्षि भास्मदिवान ईमे दृढ़ हो द्वा से देखना है।

इति सत्, रोह्यमाण।' इवनि इति वा—यहाँ भी मूल वृद्धि थीर गुण-
विकार के स्वर हैं। अकार के क्षमों का भी कई जगह निदर्शन है जैसे—
प्रत्यूतः सर्वाणि भूतानि । तस्य वेश्वानरः (७।२१) अर्यात् । √ अह से 'अर'
(विश्वन् + अर) बना है। पुनः 'वृपभस्य = वपितु' (७।२३), वर्णो वृणोने.
(२।३)—ये गुण-विकार हैं। 'आटिपेणः वृष्टिपेणस्य पुत्र' (२।११)—
अह का आर् (वृद्धि का विकार है) ।

(व) सम्प्रसारण की विधि से भी याकू बूँ वरिचित हैं। य, व, र जैसे अधिनिकारी के स्थान से इ, उ, रु, होना ही सम्प्रसारण है।^३ आधुनिक भाषा-विज्ञान ने इसकी पृथक् सत्ता मानी है। याकू ने इसका लक्षण कुछ विचित्र-शब्दों में किया है—तद् यत्र स्वराद् अनग्तरान्तस्यान्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीता स्थानमिति प्रदिवन्ति (२१२) जैसे—√अव् > अति. √ग्रद > मूढ़, √प्रथ् > पृथु, √यज् > इष्ट. इत्यादि। याकू सम्प्रसारण को द्विप्रकृति कहते हैं, इसकी व्याख्या में दुगचार्य का बहना है कि सम्प्रसारण वाले घातुओं के दो रूप होते हैं—एक अवता (विना सम्प्रसारण के) और दूसरा सम्प्रसारण का, जैसे—√यज् का अपता रूप है यथा, यदु, यष्टव्यम् और सम्प्रसारण-रूप है इष्ट, इटि, इष्टवान् इत्यादि।

(ग) धनि-परिवर्तन की विभिन्न रीतियों से याहक का परिचित होना आश्चर्यजनक है। द्वितीय अध्याय के आठम्ब में ही उद्घोषे इन परिवर्तनों की दिशाओं का निर्देश किया है जिन्हें हम देख सकते हैं। आधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुसार ये धनि-परिवर्तन दो तरह के हैं—स्वयम् उत्पन्न (unconditional) और प्रोत्सन्न (conditional)।³ स्वयं ही उत्पन्न होनेवाले धनि-परिवर्तन के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। भाषा में प्रवाह में ये परिवर्तन हो जाते हैं, इनका कोई कारण नहीं दिया जा सकता। यद्यपि में भी अकारण नहीं होते किन्तु परिवर्तन का कारण न जान सकने से ही इह ऐसा कहना पड़ता है। संस्कृत 'अथु' हिन्दी में 'बौमू' वयो हो गया, कहना कठिन है। इसी तरह—मूल्य > मोल, हृदय > हिया, पुष्कर > पोखरा,

३ 'रोस्यमाण' में यह होने के बारें अभ्यास को शुग हो गया है जैसा कि पाणिनि ने कहा है—युणो यदनुको। (पा० सू० अ४८८)

२. इम्बेदकीय सम्प्रसारणम् (पा० स० श१४५)

३ देसिए—Dr. P. D. Gope, Inter-

४ दासर—Dr. P. D. Gune, Introduction to Comparative Philosophy pp. 4C-5S.

पिण्ड > पेड़। मूँ भाँ यूँ भाषा के अ, (हस्त) एं और (हस्त) आं मस्कृत में 'अ' ही रह गये। दूसरी ओर प्रोटन्न छविन-परिवर्तन के कारणों को जाना जा सकता है जैसे—आवधि की (Physiological) या धरणेन्द्रिय (acoustic) की विभिन्नता, सामग्र्य (Analogy), स्वराधात (Accent), मोरोलिक-प्रभाव इत्यादि।^१

यास्क ने यों तो दोनों प्रकार के परिवर्तनों के उदाहरण दिये हैं कथोकि थाज उनका अध्ययन किया जा चुका है परन्तु परिवर्तनों के लिए कोई कारण न देने से उन्हें 'स्वयम्भूत्पन्न' परिवर्तन मानें तो कोई आपत्ति नहीं। द्वा० स्कोल्ड ने यास्क के निर्बन्धों के सिद्धान्त की जूटि (?) दिखलाते हुए लिखा है कि यास्क के निरीक्षण ठीक हैं पर तिक्कर्य गलत। 'ज्ञापतु' से उपधारोप हुआ है—ठीक है; पर सब जगह उपधारोप होगा—यह कहना गलत है। यदौ विदेशी विद्वान् ने समझने में ही गलती की है। यास्क ने इन सिद्धान्तों को हठ नियम नहीं माना, वस्तु ये निरीक्षण अनियमित परिवर्तन (Sporadic change) में ही माते हैं। वे केवल यही कहते हैं—जपापि उपधारोप भवति=कहीं कहीं उपधा का सोप देखते हैं, जैसे 'जागतु'। इसी तथ्य को भाषाविज्ञान मध्यस्वरलोप (Syncope) कहता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यास्क ने या भाषा-विज्ञान में इसे हठ नियम बना दिया है कि सर्वत्र यही बान मिलेगी। सर्य तो यह है कि भाषा ने हठ परिवर्तनों की उपाधा करने की चेता दोनों ने की है। यास्क भी भाषा विज्ञान के साथ-साथ ही स्वीकार करते हैं कि ये परिवर्तन देखे जाते हैं—भविष्य में भी होंगे, इसमें सन्देह है।

यही आधुनिक शब्दावली का आवरण यास्क को दिया जाता है :—

(ब) बादि स्वरलोप (Aphesis)—यास्क कहते हैं—प्रथापि अस्ते निवृत्तिस्थानेषु (Weak Terminations) आदिलोपो भवति, जैसे—

१. प्रो० ब्रूगमैन (Brugmann) ने इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को यों समझाया है—“Unconditional phonetic change is the change which an individual sound undergoes, without the determining influence of the particular kind of the accompanying sounds, or the accent, or the language rhythm, while conditional change is where such influences take place” द्वा० युग्मे वा युलक (प० ४८) में उद्धृतः

२. देखिये भूमिका, दूसी परिचय (ख)।

✓ अस् > स्तः, सन्ति । यह लोप स्वराधात (accent) के कारण होता है जिसकि किसी स्वर पर विशेष चल (Stress) देने से दूसरे स्वर सुनोच्चारण हो जाते हैं, 'स्तः' पर जोर देना ही 'अ' के लोप का कारण है । अंग्रेजी में esquire से squire होने का भी यही कारण है । कम्-से-कम् यास्क तो इस तथ्य से अवश्य परिचित थे ।

(था) मध्यस्वरलोप (Syncope)—यास्क का 'उपधा-लोप' जैसे—
✓ यम् > जम्मु, जम् । दूसरे स्थानों में भी यास्क ने ऐसे परिवर्तनों के उदाहरण दिये हैं । राजन् से राजा, √दा से दित्सति आदि भी ऐसे ही परिवर्तन के उदाहरण हैं ।

(इ) सबर्णलोप (Haplology)—यास्क ने जो 'धात्वादी एव गिधेते' कहकर 'प्रतम्, अवत्तम्' (√दा) आदि उदाहरण दिये हैं वे इसी के हैं । 'प्रदत्त' 'अवदत्त' से समानता होने के कारण दकार का लोप हो गया है । 'उत्तर' की व्याख्या में उन्होंने 'उदत्ततर' कहा है । यद्यपि भाषाविज्ञान की इटि से यह निर्बन्ध ठीक नहीं तथापि यह यास्क के सबर्णलोप के ज्ञान को प्रकाशित करता है ।

(ई) मध्यस्वरागम या स्वरभक्ति (Auaptyxis)—यद्यपि बीच में स्वर के आगमन से ही यह सम्बन्ध रखता है तथापि व्यजनों के आगमन में भी यही नाम देने की प्रणाली चल पड़ी है । यास्क इसे 'वर्णोवज्ञन' कहते हैं जैसे—√अस् > आस्पत् । किन्तु उनका दिया हुआ √भ्रस्त् से भ्रंजा का उदाहरण तो शुद्ध स्वरभक्ति है । अत्य उदाहरण है—स्वर्ण > सुवर्ण, प्रसाद > परसाद ।

(उ) वर्णविपर्यंद (Metathesis)—यास्क का 'आद्यन्तविपर्यंद' जिसके लिए वे उदाहरण देते हैं—√शुद् > से स्तोकः, √सृज् > रञ्जु, √कस् > सिफता ।

(ऊ) समीकरण (Assimilation)—यास्क इसे 'आदि-विपर्यंद' (जैसे √घृत् > घ्योति) के रूप में स्वीकार करते हैं यद्यपि इसके उदाहरण निष्क्रिय में भरे पड़े हैं । इसी के द्वारा वे विपर्योक्तरण (dissimilation) का भी उदाहरण दे देते हैं जैसे √हन् > घनः; अत्यध्यापति में कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं—√गाह् > गाषः ।

१. त्रुष्णीय—'अच उपसर्गाचः' (पा० सू० लाभार्थ)

(क) महाप्राणीकरण (Aspiration)—प्रत्यप्राण का महाप्राण-दण बनना जैसे—√मद्>मध् । अन्य उदाहरण हैं—गृह>घर ।^१

(ख) अल्पप्राणीकरण (Deaspiration)—जैसे √भिद्>विन्दु । इस नियम से अस्थास्थ वर्णों का अल्पप्राण होता है—भभूव>वभूव; हहार>जहार ।^२

यही नहीं, यास्क एवं नियमों की ओर भी सङ्केत करते हैं। निर्वचनों के ध्वन्यात्मक-सिद्धान्त का दिचार हम लगार कर ही चुके हैं। इसलिए उनकी आवृत्ति यथें है। यदि सभी निर्वचनों वा अध्ययन आधुनिक व्यापारिक विज्ञान की दृष्टि से किया जाय तो एक अच्छा अनुसंधान हो सकता है।

(२) रूपविज्ञान (Morphology)—वाक्य शब्दों से बनते हैं। इसलिए शब्दों की रचना का भाषाविज्ञान में बड़ा महत्त्व है। शब्दों के निर्माण के बाद भी उनमें सम्बन्ध तत्त्व (morpheme) की आवश्यकता होती है। यही संबन्ध वाक्य के सभी शब्दों को जोड़ता है और अंगतत्त्वों का (scission)^३ परस्पर-सम्बन्ध बतलाता है। सदोष में हम यो कहें कि सम्बन्ध-तत्त्व से ही शब्दों को वाक्य में स्थान बिलता है और इसके कारण ही वे केवल का परिवर्तन करते हैं। शब्दों के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना ही रूपविज्ञान का कार्य है।

चूंकि भाषा में सबसे पहले शब्द ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं इसलिए अत्यन्त प्राचीन-काल से ही मनुष्य इस पर ध्यान देता रहा है। अपाकरणशास्त्र की तो वही जड़ है। यास्क भी अपने समय के विकसित रूपविज्ञान का परिचय देते हैं। यास्क ने चार पद-भेद माने हैं जिनका वर्गन लगार हो चुका है। पदों के इन भेदों में ही वे सभी शब्दों की अन्तर्भूत पर लेते हैं। उपर्युक्त और निपातों की तो अल्पस्थापा होने के कारण उन्होंने गणना भी करा दी है। तथापि वित्तमयशोतुक कितने ही शब्द छूट गये हैं जैसे हैं, अपे इत्यादि। रूप परिवर्तन के लिए यास्क का शब्द है 'व्यय'।

१. तुहनीय—एकाचो वदी मप् द्युषन्तर्य रूपोऽपां सू० ८११३७)

२. तुलनीय—शादा वद् शर्ति (८१४१३), इला ज्ञातोऽन्ते (८१३१९), तथा अल्पप्राणीकरण का ग्रैसमेन वा सिद्धान्त जिसमें एक भानु में केवल एक ही महाप्राणी सत्ता रखी रखी है। दोस्रो—मण्डदेव शारौ—भाषाविज्ञान वा किसी अन्य पुस्तक में भी।

३. समर्पण-तत्त्व की ओर अपीनारप के लिए देखें—ओलानगाप तिवारी के 'भाषाविज्ञान' में रूपविचार।

रूपपरितंत्र होने वाले शब्दों को ये 'स्पष्टव्यय' कहते हैं तथा इससे इतर शब्द अव्यय हैं। उपर्युक्त और निपात तो अन्तिम भेद (व्यय) में ही आते हैं किन्तु भाषा में प्रशानन्त्यान रखने वाले शब्द हैं—संज्ञा (नाम) और क्रिया (आद्यात)। इनका रूपपरितंत्र सम्बन्धतत्त्व के ही आधार पर होता है।

संज्ञा-शब्दों के प्रति सम्बन्ध-तत्त्व का प्रधान कार्य है—कारबो, वचनों और लिङ्गों को प्रकट करना। अर्थात् संज्ञा की विभक्तियों का निर्णय करना। क्रियाओं के प्रति इसका प्रधान कार्य काल, वचन और पुरुष का द्योतन-मात्र है। यास्क सम्बन्धतत्त्व के इन सभी कार्यों से भली-भाँति परिचित हैं क्योंकि कोई स्थलों पर उन्होंने विभक्तियों के नाम दिये हैं जैसे—'निक्रित्याः' शब्द में 'आः' होने के कारण वे इसे पञ्चमी गा पठती विभक्ति में होने का भ्रम मानते हैं। क्योंकि दोनों विभक्तियों में 'आ' प्रत्यय लगता है। पुनः, चतुर्थी में 'ऐ' प्रत्यय का भी उल्लेख करते हैं। वचनों का भी नाम वे जहाँ-जहाँ देते हैं जैसे—(२१२४) अपि द्विवत्, अपि बहुवर्त अपात् विश्वामित्र ने अदियों की हतुति द्विवचन और बहुवचन में की।

क्रियाओं के सम्बन्ध-तत्त्व की स्पष्ट वर्चा नहीं है वेवल पुरुषों का उल्लेख उन्होंने किया है। सप्तम-अद्याय में ऋबाओं के भेद करते समय तीनों पुरुषों का क्रमग (प्रथम, मध्यम, उत्तम) उल्लेख किया है। काल के विषय में तो वे मौन हैं किन्तु उनके प्रयोग बतलाते हैं कि क्रिया के इस तत्त्व से भी वे अवश्य परिचित थे। यद्यपि वैदिक-युग में बालों और लकारों के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं या तथावि पाणिनि के कुछ ही पूर्व होने के बारण यास्क से इतनी अपेक्षा रखी ही जानी है। यास्क के समय व्याकरण-यात्रा का इनना अधिक विकास हो चुका या कि इन सभी विषयों में यास्क के ज्ञान पर संदेह नहीं किया जा सकता।

शब्द की रचना के विषय में तो यास्क अपने शेष के एक ही हैं। ये स्पष्टतया मानते हैं कि शब्दों की रचना दो तरह से होनी है—एक तो धानु से निकले शब्द और दूसरे इन वने हुए शब्दों से बने शब्द। पहले को यास्क ने व्याकरणों के साप-ही-साप 'इन्' नाम दिया है और दूसरा प्रकार 'तद्दिन' है। ऐसे तद्दिनशब्दों के निवेदन में वे अधिक सावधान हैं तथा

१. 'दूरो निक्रित्या इदमात्मनम्—व्याप्त्यवैदेशा वा पञ्चवैदेशा या वा रातान्त्रम्।
२. 'दूरो निक्रित्या या चश्च—'चतुर्थपैदेशा ऐकातान्त्र (निं० १।१७)।

इनके लिए नियम देते हैं कि पहले तदितांश विकाल ले तब शब्द का कुदंश निकाल कर निर्वचन करें। 'इडध' में तदितांश है 'य' जिसका अर्थ होगा—योग्य होना, समरप्त होना (दण्ड के योग्य होना, दण्ड से सम्पन्न होना) । उसके निकालने पर 'इडध' बनता है जो दृढ़ (पारण करना) से बनता है । ऐसे ही बार्टिगें, कहां आदि शब्द हैं । इस प्रकार शब्द के निर्माण में कूदन्त (Primary) और तदित (Secondary) अनुत्तिमानकर उन्होंने भारत-यूरोपीय माध्यांशों में सबसे पहले शब्दविज्ञान का विचार प्रस्तुत किया है ।

इतना ही नहीं, शब्दों के मेल से बनने वाले समाचों पर भी यास्क की दृष्टि रहती है जिनके विषय में वे कहते हैं कि ये भी पहले अलग-अलग कर लिये जायें तब समाप्तस्थ—एदो का निर्वचन दिया जाय । इसके उदाहरण दिखाने के लिए उन्होंने राजपुराण, कल्याणवर्णहर आदि शब्दों की अनुत्पत्ति दी है । माध्या की ग्राम्यिक अवस्था में समाचों को सत्ता सूच्य-सी रहती है । इतना अत्यधिक प्रयोग अविज्ञान और इसलिए माध्या की ग्रोडि का दोहरा है जैसा कि काइम्बरी, वायवदत्ता आदि संस्कृत के विचले धारा ने हम पाए हैं ।^१

(३) अर्थविज्ञान (Semantics or Semasiology)—ज्ञानि यदि शब्द का आवरण करने वाला वर्ण है और रूप उसका शरीर, तो अर्थ उसके प्राण हैं निसके दिन। कोई भी शब्द निर्वोद्ध या विरथक होता है । मत्तवि निर्वचन को उपर्युक्त तीनों विज्ञानों की गहायता लेनी पड़ती है तथापि अर्थ-विज्ञान की ही आवार-विज्ञा पर निरुक्त टिका हुआ है । शब्दों का अर्थ निकालने के लिए ही को निरुक्त का इतना बड़ा प्रदूष है, इसलिए कोई सन्देह नहीं कि यूरोप में भले ही इसका ज्ञान थोड़े हुआ,^२ किन्तु भारत में अर्थत्व का अध्ययन यास्क से ही आरम्भ हो जाता है । याद में

१. 'जश तदितसमानेषु एकपर्वतु च अनेकपर्वतु च एवं मूर्त्यं अस्तमपर प्रविमन्य निवृयात् । दण्डाः पुरुषः । दण्डमर्हनि वा, दण्डेन सम्बन्धे इति वा । दण्डो ददतेः भारवासिकमैगः (निः २१२)

२. रूपविज्ञान से परिचय है; तिष्ठ देटो—Tatraporewala, *El. of the Sc. of Lang.*, pp. 178-191, अथवा *How to Parse* नामक प्रन्थ ।

३. मार्केल शौल का 'दसे द सिमेन्टिक्' (*Essai de Sémantique*, 1898) इस विषय का प्रथम ग्रन्थ है ।

वैयाकरणों, नेयायिकों और भीमासुकी में तो दार्शनिक हठिकोण से इस पर विचार आरम्भ कर दिया और उसे प्रौढ़ पर पहुँचा दिया ।^१

शब्दों के अर्थ का अध्ययन करते हुए हमे दो धोर्जे आकृष्ट करनी हैं— किसी शब्द से विसी निश्चित अर्थ का ही बोध होना और अर्थ का परिवर्तन। इन दोनों का ही विचार यास्क ने किया है। इसमें पहला प्रश्न है कि कोई शब्द विसी निश्चित अर्थ का ही खोतक नहीं है? क्या कारण है कि पहाड़ को 'पर्वत' कहते हैं? यास्क के सभी निर्वचन ही इस प्रश्न के उत्तर में लगते हुए हैं। शब्दों का सम्बन्ध किया से है, किया का ही अर्थ शब्द भी धारण बाट लेते हैं। ऐसे ही इस सिद्धान्त के प्रतिपादन और व्यवहार में अपने हठ के कारण यास्क एই जगह चुटियों से भरे हैं तथापि यह करना ही कोई कम महत्व नहीं रखती कि क्रिया और सत्ता का पारस्परिक सम्बन्ध अर्थ में होता है। आग को 'जग्नि' इत्तिहास कहते हैं कि यह अपनी है, यज्ञ में इसकी आवश्यकता आने ही होती है। इसी प्रकार सबों का निर्वचन किया गया है। कहीं-कहीं शब्दों के नाम पढ़ने में लक्षण भी सहायक होती है भले ही उसके भूल में भी किया ही काम करती है। बल्किं नी (जैसे उपमा, रूपक) सहायता करते हैं जिन्हें अर्थ-परिवर्तन के क्रम में हम देखेंगे।

शब्दों का अर्थ-परिवर्तन भी एक सुसिंहत सद्य है। कभी-कभी तो बालकम से एक शब्द अपना अर्थ छोड़ देता है और इसका ही अर्थ पारण कर लेता है जैसे—‘गूँग’ वा बैदिक-भाषा में अर्थ है पशुमास, जिन्तु सस्तन में ‘हरिण’। कभी-कभी एक ही समय में शब्द अपने अर्थ के अलावे दूसरे अर्थ भी धारण करते हैं जैसे—‘अर्थ’=अभिग्राह, प्रयोजन, घन आदि, ‘कर’=किरण, हाथ, सूँह आदि। इस अवस्था में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। दोनों दशाओं में अर्थ का परिवर्तन धूँढ़ कारणों से होता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि एक ही वस्तु वा बोध का रूप कराने के लिए वही शब्द होते हैं जो वस्तु के विभिन्न गुणों के आधार पर बने होते हैं जैसे—हिमाशु, चन्द, इन्दु, चार्दमा, कुमुदबन्धु आदि। आशुनिक भाषायामती की भौति यास्क को पता है कि कोई भी पर्यायवाची शब्द वस्तु के विवरणों नहीं होता, यह विभिन्न गुणों के आधार पर ही बना है जैसे—‘पुण्य’ वा एक नाम ‘गो’

^१ इन मर्गों से अर्द्धविद्यान वा परिचय पाने के लिए—(८) । C. Chakravarthy, *Linguistic Speculations of the Hindus* और (८) २.० क्षितिकृष्ण द्विदेशी, ‘अर्थ विद्यान और अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन’ देखें।

है जो उसमें रहने वाले प्राणियों की शर्ति का बोध करता है, तो 'पृथिवी' से उसका विस्तार मालूम होता है। इस प्रवार यह सिद्ध होता है कि एक ही वस्तु का द्योतन करते के लिए कितने भी नाम व्यों न हो, सूझदृष्टि से देखने पर सबों में अर्थ का अन्तर मिल ही जायगा।^१

भाषा-विज्ञान ने जो अर्थ-परिवर्तन की तीन दिशायें निर्धारित की हैं, यास्क उनके विषय में कुछ नहीं कहते किन्तु, अर्थ परिवर्तन के बारणों पर तो स्थान-स्थान पर प्रकाश ढालते हैं। उनके विचार से उपमा (सादृश्य), रूपक और ताद्वित प्रयोग ही अर्थ परिवर्तन के मुख्य कारण हैं। एक सादृश्य लें—'कदया' घोड़े की रसमो है जो उसके कक्ष (कौश) से बंधी रहती है। इसी घोड़े की बौख के सादृश्य से मनुष्य की बौख भी 'कक्ष' बहलाती है।^२ फिर देखें, पशु के चार पाद (पैर) होते हैं उनके सादृश्य से ही पाद का अर्थ 'चौथाई हिस्सा' भी हो गया।^३ कितनी मुन्द्र व्याख्या है!

ताद्वित प्रयोग के लिये 'गो' के विभिन्न साम्बद्ध अर्थों उदाहरण होंगे। 'गो' का अर्थ है पृथ्वी और उसी प्रकार इसका अर्थ गाय भी होता है। गाय से सम्बद्ध अर्थों का यदि मह बोध करावे तो उसे ताद्वित प्रयोग कहेंगे।^४ गो के अर्थ हो जायें—गोटुघ, सोम चुलाने के लिए गाथमें, गो की तीन, कफ आदि। गो की तीन का प्रयोग घनुप में होने के कारण घनुप भी 'गो' कहा जाता है। यही नहीं, अर्थादित (Transference of Meaning) का प्रभाव भी देखने में आता है जब 'गो' से मूर्य, चन्द्रमा और सभी प्रकार की किरणों का बोध होने लगता है।

, देखिये—Dr. Bala Krishna Ghosh, *Linguistic Introduction to Sanskrit*, pp. 23-25

२. कमी-कमी अर्थ में स्पेशन (Specialisation) होता है जैसे—'रुग्म' (= 'पत्तु' वैदिक भाषा में, = 'हरिण' सस्तृत में), 'मुर्व' (= 'पश्ची' अवेस्ता में, = 'मुर्गा' हिन्दी)। कमी-कमी अर्थ में विस्तार (Generalisation) होता है जैसे—'परथ' (= आने वाला परसों—सस्तृत में; बोना और आनेवाला दोनों परसों—हिन्दी में)। अभी-अभी अर्थ का पुरा परिवर्तन (Transference) हो जाता है—माय (= प्राण-वासी > मृत्यु), देवाना प्रिय (= देवानाओं का प्रिय > मृत्यु)।

३. उत्सामान्या मनुष्यवश्य : वायुमूलसामान्यादधस्य (निः २१३)।

४. पञ्चाशदवर्ण व्रमणपाद (निः २१७)।

५. मुलना वर्ते—Synecdoche, Metonymy नामक अलझार (Figures of Speech)

सप्तम-अध्याय में जातवेदसू और वेश्वानर के वास्तविक अर्थ के अन्वेषण में यास्क बहुत यड़ी विवेचना करने लगते हैं तथा आधुनिक अनुसंधान के नियमों का प्रयोग करते हुए पार्थिव-अग्नि को ही इनका वास्तविक अर्थ मिहू करते हैं। समूचे निरूप का मन्थन करने पर अर्थ-विज्ञान सम्बन्धी बहुत से उद्य द्वारा समझ उपस्थित होते हैं जिनकी विवेचना के लिए पर्याप्त स्थान वो अपेक्षा है। तथापि यह कहा जा सकता है कि यास्क के काल में अर्थ-विज्ञान का इतना उत्कर्ष हमें आश्चर्य में ढाल देता है। न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों में भौतिक-जगत् से उठकर इस पर दार्शनिक-विचार प्रमुख किया जाने लगा था।

(४) वाक्य-विज्ञान (Syntax)—वाक्य भाषा की इकाई है व्यो-कि भाषा के उद्य (विचारों का आदान-प्रदान) की पूति करनेवाले वाक्य ही होते हैं। किन्तु किसी वाक्य में कर्ता, कर्म, कियादि का स्थान कही रहता है तथा उनमें बल किस प्रकार पड़ता है—इन सबों का समुचित अध्ययन अभी तक नहीं किया गया है। प्रत्येक भाषा के वाक्यों की अपनी रचना होती है, अपना क्रम होता है जो कालशम से बदलता रहता है। पालि की वाक्य रचना सस्त्वन से मिलती है, लैटिन वाक्य-रचना की गति भी अप्रेजी में आने पर उसमें लैटिनियन (Latinism) मालूम होने लगता है। आधुनिक हिन्दी व्यासाहित्य की वाक्य-रचना बुद्ध और ही है जिसमें क्रियाये प्राय बीच में आ रही हैं।

वाक्य-विज्ञान की हृष्टि से यास्क का अध्ययन करना बहुत मनोरक्तजक है व्योकि वैदिक-मन्त्रों की व्याख्या में ये अपनी विशेषतायें प्रकट वरते हैं। विशेषताया निम्नलिखित घ्यान में देखे योग्य हैं—

(क) वैदिक-मन्त्रों की व्याख्या में शब्दों के अम में यास्क सामान्यतया परिवर्तन नहीं करते, कोई शब्द कही भी या सबता है यहीं तक कि विशेष्य और विशेषण के बीच में क्रिया भी छोड़ देते हैं। परन्तु यहीं उन्हें स्वतन्त्र-स्व से लिखने का अवकाश मिलता है वे सस्त्वत वाक्य-विज्ञान की ही रीति अपनाते हैं किन्तु क्रियाये प्राय अन्त में नहीं रहती जैसे—‘तमूचुः प्राणः ; स रन्तुः देवापिविशिष्यता राज्येन’ (२।१०) ।

(ख) वैदिक-मन्त्रों में उपसर्ग और क्रिया की पुष्टता सर्वेविदित है किन्तु यास्क के काल में इनका साहचर्य आवश्यक प्रतीत होता है। यही कारण है कि मन्त्रों की व्याख्या में वे मन्त्रस्व उपसर्गों और क्रिया को एक साथ पर देते हैं जैसे नि० १।१७ में मन्त्र के ‘प्रति..... दुहीयतु’ को ‘प्रतिदुग्धाम्’ में बदल देते हैं।

(ग) वैदिक-भाषा में जहाँ निरर्थक (?) निपात पद-पूरण और वाच्य-पूरण के रूप में हुआ करते हैं, वहाँ यास्क के युग में इनकी निरर्थकता सिद्ध कर दी जाती है। स्वयं यास्क मन्त्र-व्याख्या के समय ऐसे निपातों को छोड़ देते हैं। अपनी भाषा में यास्क इनका प्रयोग न करके केवल सार्थक और बल प्रशान करने वाले निपातों (जैसे—एव, अपि) का ही प्रयोग करते हैं।

(घ) 'इनि' का प्रयोग ये सरकृत के बनुसार उद्दरण के बाद करते हैं।

(इ) यास्क के वाच्य अर्थात् ही सरल होते हैं। सयुक्त और समृष्ट वाक्यों का प्रयोग ये बहुत ही कम करते हैं।

निर्वचन-जात्र (Epymology) भी भाषा-विज्ञान का अनिवार्य अग्नि है यद्यपि इसकी पृष्ठक् कोई सत्ता नहीं। इनिविज्ञान, रूपविज्ञान और अर्थ-विज्ञान के सम्मिलित प्रयोग से ही व्युत्ततियाँ होती हैं। हम अलग अध्याय में निर्वचनों का विचार दिस्तार-पूर्वक कर चुके हैं अतएव यहाँ पुनः आवृत्ति करना पिछे पेयणमात्र होगा।

भाषा के इन तत्त्वों की तुलना करने पर उनके विकास का पता लगता है। यास्क भाषा के विकास से परिचित हैं वर्णोंकि वे वैदिक और सहस्रत दोनों भाषाओं के शब्दों को समान मानते हैं (अर्थात्: शब्दसामान्यान् ११६)। यास्क जानते हैं कि सहस्र-भाषा में शब्दों के अर्थ में विकास हो गया है, जो वैदिक-काल में नहीं था। ३०० लक्षणसहृप कहते हैं कि निषेष्टु के व्याख्याना और प्रायः ६०० वैदिक-मन्त्रों के टीकाकार होकर यास्क वैदिक और सौकिक-भाषाओं के घनिष्ठ सम्बन्ध को ममज्ञने में कभी असफल नहीं हुए होंगे।^१ वैदिक-भाषा की संज्ञायें लोकिव-भाषा की क्रियाओं से बनती हैं—इस विरोधी वाच्य का अभिप्राय यह है कि वैदिक-काल में व शब्द संज्ञारूप में प्रयुक्त होते थे जब हि सहस्र-युप में संज्ञारूप में न रहकर क्रियारूप में बदल गये। उसी प्रकार हितने शब्द क्रियारूप में थे, संज्ञारूप में था गये—क्रिया का अर्थ नहीं हो गया। भाषा के परिवर्तन और विकास का अधिक स्पष्ट उदाहरण मिलना उम्म युग से असम्भव ही है।^२

१. Dr. L. Sarup, *The Nighantu and the Nirukta*, p. 223.

२. देखिये—Dr. P. D. Gore द्वारा पुस्तक 'भाषाविद्यान' (*Introduction to Comparative Philology*) में Charge of Language 'Language is always in a state of flux.'

अष्टम-परिच्छेद

निर्वचन-शास्त्र का इतिहास

[भारत और यूनान—वैदिक-संहिता में निर्वचन—ग्राहण-ग्रन्थ—निरुक्तकारों के सम्प्रदाय—ग्राहक—अन्य आचार्य—पाणिनि—उणादि-सूत्र—निर्वचन की प्रणाली—यूनान—प्लेटो—सामृद्धियवाद—थैक्स—आधुनिक्युग—विज्ञान का अध्ययन—१६वीं शती का निर्वचन—२० वीं शती—स्कोट।]

प्रो० मंदसमूलर कहते हैं—“समूचे समार के इतिहास मे केवल शो ही राष्ट्र है जिन्होने स्वतन्त्र-रूप से लिया। एक दूसरे से सहायता लिये, तरक्षासन और व्याकरण—इत दो विज्ञानो पर विचार किया; ये दोनो हैं—यूनानी और हिन्दू।”^१ वे फिर कहते हैं—“जब कि यूनान मे उसके एक बड़े दार्शनिक के विचार (जैसा कि केटिलस् मे अभियक्ष है) निर्वचन-शास्त्र की वाल्यावस्था प्राप्त करते हैं, भारत के ग्राहणो ने निर्वचन-शास्त्र के कुछ महत्व-पूर्ण प्रश्नों का असाधारण अस्पत्त गम्भीरतापूर्वक कर लिया था।”^२ इनका अभिप्राप्य यह है कि यूनान और भारत दोनों स्थानों मे निर्वचन पर स्वतन्त्र विचार किये गये थे एवं तु भारतवर्द्ध की प्रीदता कुछ और ही थी, बहु यूनान मे नहीं। भारत अपने ग्राहीतत्त्व साहित्य में ही निर्वचन का सेवत करता है और उसी समय यहाँमें को उत्तरति पातु से भानी जाने लगी है। प्रस्तुत-अध्याप मे हम भारत और यूनान के स्वतन्त्र अध्ययन को खबों बताएं।

(१) भारत—यहाँ भाषा के सद्वन्ध मे विनान भी प्रथम-पारा अहंग्रेद में हमे मिलती है क्योंकि व्याकरण, भाषा, सरस्वती आदि के विषय मे उसमे पर्याप्त सेवत किये गये हैं, विनानी ऋचाओ मे साक्षात् के रूप में निर्वचन दिये भी गये हैं,^३ सथा ग्रन्थवेद को तैतिरीय-शास्त्र मे शब्द का द्विवाकरण हम देख ही चुके हैं। तथापि निर्वचन-शास्त्र का पूर्ण-विकास देखने के लिए तो हमे ग्राहण-ग्रन्थों दो ही गुरुशित करना पड़ेगा। ग्राहणों

१. Max Muller, *History of Ancient Sanskrit Literature*, p. 153.

२. नृ०, p. 163.

३. देखें—Dr. Falah Sirha, *Vedic Etymologies*.

का लक्षण ही है—‘हेतुनिर्वचन निन्दा०’ अर्थात् निर्वचन करना भी द्वाहृणो के लक्षण हैं। आश्चर्यं तो यह है कि द्वाहृणो के निर्वचन ध्वनि, रूप, अर्थ आदि का पूरा विचार रखते हैं, उनमें श्रुटि प्रायः नहीं है। यास्क ने भी कुछ शब्दों के प्रमाण के लिए द्वाहृणो के बाब्य उद्घृत किये हैं। यह स्मरणीय है कि द्वाहृणो के निर्वचनों को उद्घृत करने के बाद यास्क ‘इति विज्ञायते’ अवश्य लिखते हैं। ‘शब्दरी’ शब्द को व्युत्पत्ति के लिए द्वाहृणो में कहा है—‘तद् याभिः वृथम् अशकद् हन्तु तत् शब्दरीणा शब्दरीत्वम् इति विज्ञायते’ (नि० १८) अर्थात् ‘शब्दरी’ शब्द व्यक्त से बना है और इसका अर्थ है ‘जिसकी सहायता (उच्चारण) से मृत मारा जा सका’। फिर ‘अक्षि’ की व्युत्पत्ति अञ्ज = ‘प्रकाश करना’ से मानी गई है—‘तस्मादेते (= आखें) व्यक्ततरे इव भवते. इति ह विज्ञायते’ (१९) अर्थात् आखें समूचे शरीर को अवेद्धा अधिक व्यक्त होती है। ‘वृत्त’ (एक राक्षस मेघ) की व्युत्पत्ति वृ (ढैकना) से या वृत् (होना) से बतलाने वाले भी बाब्य हैं—‘पदवृणोत् तद् वृथम्य वृत्त्वमिति विज्ञायते, वृद्वर्तत तद् वृथम्य वृत्त्वमिति विज्ञायते’ (नि० २१७) ।

द्वाहृण-प्रथो के निर्णय काल के बाद ऐसे ही निष्ठकारों के सम्प्रदाय छल पड़ते हैं जिनमें औपमन्यव, नादायण, और्गवाम आदि के नाम बड़े सम्मान से यास्क भी लेते हैं। इन आचार्यों ने भी प्रथ-रचना अवश्य ही की होगी जिनके अभाव में इस समय कुछ भी निर्णय करना कठिन है कि इनके निर्वचन कैसे थे। यास्क के द्वारा उद्गृह इनके भर्तों से तो ज्ञात होता है कि ये भी यास्क से कम नहीं थे। निष्ठक के आधार पर इनका अच्छा अध्ययन हो सकता है।^३ द्वाहृण प्रथो का निर्णय काल हमें न्यूनतम् ११०० ई० पू० मानना ही पड़ेगा जिसके बाद से इन आचार्यों की परिपाटी यास्क तक चलती है। ४०० वर्षों की इस अवधि में जो कुछ अनुसन्धान या स्वतन्त्र चिन्तन हुआ उन सबों का संपर्योग यास्क ने कर लिया है।

इन छिटपूट आचार्यों के बाद भारतीय व्युत्पत्ति-शास्त्र के इतिहास में एक ऐसे ऊलन्त नक्षत्र का उदय होता है जिन्होंने न केवल पढ़ाए के, अपितु बाद के भी अन्य आचार्यों से बढ़कर काम किया और जो अपने सर्वाङ्गपूर्ण निष्ठक की रचना करके सर्वाधारी काल के कोष से भी सुरक्षित रह सके। उस युग के अन्य ग्रन्थ अपनी गोणता के बारे में प्राप्त हैं जब कि यास्क

^२ देखें, मेरा निवन्ध—*Predecessors of Yāska in Etymology.*

के निश्चक की कई प्रतिलिपियाँ मिली। 'लोक-स्वीकृति' से बढ़कर और वही समालोचना क्या हो सकती है? यास्क के काल के विषय में विद्वानों में बहुत मन्त्रभेद है क्यों कि इनका काल अधिकाशतः पाणिनि के कालनिष्ठं पर ही आधारित है। गोल्डस्टूकर का सिद्धान्त कि यास्क से पाणिनि प्रत्यन्तर है अब पूरा खण्डित हो चुका है, पाणिनि से पहले यास्क थे इसमें कोई सशय नहीं है।

अस्तु, मैवसमूलर,^१ वेवर,^२ कीथै आदि विद्वान् पाणिनि का काल ३५० ई० पू० मानते हैं जब कि भाषाकारकर, विन्तरनित्तर^३ आदि अन्य भारतीय विद्वानों के साथ इन्हे ५०० ई० पू० मानते हैं। हा० वेलवल्कर^४ इन सबों की परीक्षा करके ७०० ई० पू० तक पहुँचते हैं। दूसरी ओर मुधि-फिर मीमांसक तथा सत्यवत्-जैसे कुछ विद्वान् तो २७०० ई० पू० और २४०० ई० पू० तक पहुँचते हैं। सचमुच भारतीय-साहित्य के इतिहास में कालनिष्ठं करना बड़ा कठिन है। यूरोपीय-विद्वानों की ताकिक-वुद्धि भी असफल हो जाती है। आज पाणिनि का सर्वमान्य काल है ५०० ई० पू०। दौली और भाषा की हटि से यास्क को पाणिनि के बोडा पहले प्रायः ७०० ई० पू० में विद्यमान मानना समीचीन है।

यास्क और पाणिनि के बीच में फिर कुछ व्याहरण आते हैं जो व्युत्पत्ति का सारांश करते हैं किन्तु काल उन्हें नगण्य समझ कर भूल जाता है। पाणिनि के भाविमवि से निश्चन्दन-सास्त्र में एक नया जीयन आ जाता है और दूसरों का साम्मोग्न अध्ययन आरम्भ हो जाता है। जिन यातों में यास्क हमें भ्रमात्मक ज्ञान देते हैं पाणिनि उन्हें स्पष्ट कर देते हैं। इनके पातुओं और प्रत्ययों में शब्द-नियमण की अनोखी शक्ति है जिसके आधार पर प्रथलित दृष्टियों की व्युत्पत्ति की जाती है। पाणिनि की व्युत्पत्तियों में घनि, रूप और अर्थ का अद्युत्त सामर्ज्य है जिसे भाषाविज्ञान सर्वेषां स्वीकार करता है। दूसरों और अन्यजनों के पारस्परिक सम्बन्ध में पाणिनि पूर्ण परिचित है और दियोपतया इनकी अण्टप्यायी के अध्ययन से ही यूरोप में भाषाविज्ञान के

१. History of Ancient Sanskrit Literature.

२. History of Indian Literature.

३. History of Sanskrit Literature.

४. Geschichte der Indischen Litteratur, Vol III.

५. Systems of Sanskrit Grammar.

सेव मे ज्ञानि पहुँची। यहाँ तक कि भाषाविज्ञान ने पाणिनि के कुछ शब्दों को (जैसे गुण, वृद्धि, सम्बन्धसारण) ज्यो के त्यो स्वीकार कर लिये हैं।

उणादि-सूत्र भी पाणिनि से ही सम्बद्ध हैं यद्यपि ये दूसरों के लिखे हुए हैं जिनमे पाणिनि के छोड़े हुए शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है। उणादि की प्रभिता ही ऐसी है जो शब्दों को धातुब भानवी है। इस प्रक्रिया से हम सभी शब्दों की व्युत्पत्ति कर सकते हैं चाहे वह उणादि-सूत्रों के अधिकार मे नहीं आया हुआ शब्द भी वर्णों न-हो॥। इसके लिए नियम है—

सज्जासु धातुरुपाणि प्रत्ययाश्चैततः परे ।

कार्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिगु ॥

अर्थात् शब्दों मे पहले प्रकृति की कल्पना करें, फिर प्रत्यय की। वार्यों को देख कर प्रकृति और प्रत्यय मे अनुबन्ध लगा दें। यही उणादि का नियम है। इस प्रकार इस वद्धति ने निर्बचन-शास्त्र को एक नया रास्ता दिखलाया जिससे न केवल सस्कृत के, अवितु अन्य भाषाओं के शब्दों को भी सहृदय के अनुसार अनुन्यन किया जाने लगा। इससे निर्बचन-शास्त्र की वैज्ञानिकता खीण होने लगी।^३

पाणिनि को दरियाई इन्होंने वैज्ञानिक यी कि इसके बाब जुछ भी जोड़ना अर्थ था। कल यह हुआ कि पाणिनि की टीका-टिप्पणी मे ही शब्द के विद्वानों ने अम व्यय किया। दूसरे सम्बद्धाय शालों ने चैत्रा भी की है तो पिष्ट पैषण के लिए ही। भारतीय इतिहास मे निर्बचन शास्त्र का स्वर्णयुग इस प्रकार समाप्त हो गया और नवीन-जागृति (Renaissance) तक के लिए सारा काम बन्द हो गया।

(३) यूरोप—यूनान के दार्शनिकों ने भाषा के सम्बन्ध मे पर्यात विचार किया था। इन्तु उनके सिद्धान्त भारत की तरह उन्नत नहीं थे। सबसे पहले प्रामाणिक डग से भुकरान (४६९ ई० पू०—३९९ ई० पू०)

१. उणादि सूत्रों के दैरिक्ष्य के विषय मे एक प्रस्तुत चलना है। किसी पण्डित ने फारसी के भिया, मुउक और मोठना शब्दों को भी उणादि से सिद्ध कर दिया। न/मा (नापना) मे उणादि के विशित दियों, हुकुम और होलना प्रत्यय जोड़ दिये गये। 'ड' इसलिए लगाया गया है कि मा धातु के 'आ' (हि) का लोप, टिकू-प्रत्यय होनेसे, हो बाब (डिक्सामर्थादभरत्यपि टे लोप,)। उक्ति यो है—

उणादि से खो प्रत्यय लिये, दियों, हुकुम, होठना।

मा धातु से सिद्ध किया, नियों, मुउक, मोठना॥

ने शब्द और उसके अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का एता लगाया है। उनका कथन है कि वस्तु और शब्द में स्वाभाविक नहीं, किन्तु एक माना हुआ सम्बन्ध है। इसके बाद उनके चित्त्य प्लेटो (४२९ ई० पूर्व—३४७ ई० पू०) ने अपने क्रेटिलस् (Cratylus) में तात्कालिक भाषा-सम्बन्धी मान्यताओं का प्रदर्शन किया है। उस समय सादृश्यवादियों और उनके विरोधियों में (Analogists and Anomalists) सचें चल रहा था।^१ सादृश्यवादी कहते थे कि भाषा स्वाभाविक है तथा मूलतः क्रमबद्ध है। इनके अनुसार शब्दों का मूल तथा उनका अर्थ शब्दों के रूप में ही है। इसी की सोज करने को वे व्युत्पत्ति (Etymology) कहते थे। उदाहरणतः उनके अनुसार 'मूर्गचम्ब' इसलिए कहा जाता है कि यह चमड़ा है और मूर्ग का है। यहीं तक तो वे ठीक ये परन्तु अ-योगिक शब्दों की व्युत्पत्ति करने में गलती कर चैठते थे। 'स्वर्म' की व्युत्पत्ति वे करते थे 'चोओं की ऊपर की ओर देखना'।^२

प्लेटो ने क्रेटिलस् में इन मतों की हँसी उड़ाई है तथा व्युत्पत्ति का वास्तविक अर्थ दिया है कि जो शब्दों का अर्थ और भाव प्रवट कर दे। इससे अधिक वे व्युत्पत्ति से नुछ भी नहीं समझते। प्रभ्य के सदादो में उन्होंने अपने मत का समर्यान दिया है किन्तु ये भी व्युत्पत्ति की सौंदर्य दक्षा में ही है। अरस्ट्रौ (३८५ ई० पू०—३२२ ई० पू०) न भी प्लेटो के कार्यों को कुछ आगे की ओर बढ़ाया। परन्तु तात्कालिक यूनानी वट्टरता के कारण सफल न हो सके। कारण यही या वि यूनानी लोग भूल से हूमरी भाषाओं के शब्द भले ले ले परन्तु अध्ययन के बल भानी भाषा का ही करते थे त्रिपुष्टे शुद्ध व्युत्पत्ति देने में (विदेशी शब्दों की) बहिराई होती थी।

इसी की हूमरी शरी में थ्रेप्स (Thrax) नामक विद्वान् हुए जिन्होंने यूनानी भाषा का प्रथम व्याकरण लिया। यथापि वे यथाकरण में सधारि व्युत्पत्ति के भी प्रसार यत्र तत्र दिये हैं जो उत्तेजनीय नहीं। बाद में सेंटिन-व्याकरणों में भी इस पर जोर नहीं दिया गया। यथा तो यह है, यूरोप भर में ऐसेल अनुमान पर ही व्युत्पत्तियों दी जाने लगीं और यह दशा १८ वीं शती तक रही जब तक वि पुनर्जीवन का व्यापक आनंदोन्न महीं हो गया।

(४) आधुनिक-युग—अटारहवीं शती में यूरोप में भाषा के मामूल्य

१. देखें—Bloomfield, *Language*, p. 4

२. Encyclopædia Britannica, Vol. 8, pp. 790-1.

मे बहुत बड़ी कान्ति हुई। विभिन्न भाषा-भाषी अपने व्यापारिक सम्बन्धों को लेकर मिलने-जुलने लगे तथा एक दूसरे को भाषा समझने लगे। यहाँ तक कि पृथ्वी का प्रत्येक भाग छाना जाने लगा। इसी सिलसिले मे भारत-यूरोप का सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। पारस्परिक भाषाओं के आदान-प्रदान से शब्दों के अध्ययन मे सुविधा हुई और इसके लिए दूसरे भी वैज्ञानिक-साधन उपलब्ध हुए। इस प्रकार शब्दों के मूल पर विचार करने का समय मिला और व्युत्पत्ति शास्त्र ने एक नयी दिशा पकड़ी।

ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन से शब्दों मे परस्पर सम्बन्ध दिखाना सरल हो गया कि शब्दों का प्रयम रूप सोजा जाय। इस प्रकार शब्द के इतिहास का पता लगाना ही निर्वचन की इतिहासी समझी गयी।^१ इताली भाषा के 'दोना' (Donna = स्त्री) को लेटिन भाषा के 'दॉमिना' (Domina = भद्र महिला) से निष्पत्ति सिद्ध करना ही निर्वचन हो गया। निर्वचनात्मक अनुसंधान का अर्थ हो गया—ध्वनि के सिद्धान्तों के आधार पर शब्दों के रूपों की शुष्क-सूची तैयार करना। इसी युग की देन मे एलेग्ल, रैक्स, प्रिम, बॉर, रॉय आदि विटान् आते हैं। रॉय ने भोटलिङ्ग की सहायता से सस्कृत-जर्मन महाकोश तैयार किया है जिसमे शब्दों की व्युत्पत्ति पर भी अच्छा प्रकाश हाला है। यह ग्रन्थ अबने विद्य का एक ही है तथा आज तक इसका प्रतिष्ठानी नहीं निकल सका भले ही इसे प्रकाशित हुए १०० चर्चे हुए।

धीसबी शर्ती के पदार्पण के साथ-साथ कई नये विज्ञानों की उत्पत्ति हुई तथा निर्वचन का अर्थ भी बदलने लगा। अब निर्वचन का पता लगाने का अभिप्राय हुआ—किसी शब्द से सम्बद्ध संस्कृति, भाष्यता, इतिहास, भूगोल आदि का पता लगाना जिन-जिन स्थितियों में शब्द का परिवर्तन हुआ। उपर्युक्त 'दॉमिना' से 'दोना' की उत्पत्ति यानने मे तुस्कानी-प्रदेश का अध्ययन करना पड़ेगा जो 'दोलने स्त्री नुओवो' (dolce stil nuovo) की काव्यशारा का जन्मस्थान है जिस धारा मे स्थिती को समस्त पार्थिव सौन्दर्य और देवत्व का प्रतीक समझा जाता था। इसके प्रभाव से वेसा परिवर्तन हुआ।^२ वर्तमान शर्ती की इस प्रवृत्ति ने ही भाषा के आधार पर प्रार्थित-हासिक अनुसंधान (Linguistic Palaeontology) का जन्म दिया।

^१ Collier's Encyclopaedia, Vol 7, p 463.

^२ वही।

निर्वचन-शास्त्र का इतिहास स्कीट (Skeat) के नामोल्लेख के बिना अधूरा हो रहेगा। इन्होंने अग्रेजी-भाषा के शब्दों का निर्वचनात्मक-कोश तैयार किया है जिसकी मूलिका में निर्वचन करने के दस सिद्धान्तों का वर्णन किया है जिनमें मुख्य ये हैं—(१) शब्दों का पहला रूप और प्रयोग का पता लगा लें, कालक्रम का ध्यान रहे। (२) मूण्डों और इतिहास पर भी दृष्टि रहे क्योंकि शब्द उपार भी लिये जाते हैं (३) घटना के नियमों को देखते रहे, विशेषतया आर्य-भाषाओं के व्यञ्जन-सम्बन्ध और स्वर को न भूलें। (४) शब्द के पूरे अर्थ की व्युत्पत्ति होनी चाहिये। (५) परस्पर असम्बद्ध भाषाओं में केवल रूप की समानता पर न बोडे। (६) जब दो भाषाओं में शब्द अत्यन्त समान हो तब समझें कि एक ने दूसरे से उधार लिया है।

इसके अलावे स्कीट ने स्वतन्त्र-रूप से भी अग्रेजी-निर्वचन-शास्त्र पर पुस्तक लिखी है। येद है कि भारतीय-भाषाओं में किसी पर भी ऐसा क्षम्यन प्रस्तुत नहीं हुआ। टन्नर का नेपाली कोश अपने ढांग का अनूठा ही है किन्तु उस एक प्रम्य के आभारी हम वहाँ तक रहेंगे? आवश्यकता इस बात की है कि सहृदय या हिन्दू का निर्वचनात्मक-कोश तैयार हो जिसमें शब्द के मूल-रूप के साथ-साथ परिवर्तन करनेवाली परिवर्तियों का उल्लेख हो। इस महान् कार्य से भारतीय भाषा-विज्ञान के एक अस्तृत अग भी पूर्ण हो जाएगी। अपने निर्वचन-परिवर्ति में हम कुछ ऐसा करेंगे।

नवम—परिच्छेद

निषण्डु और निरक्त के टीकाकार

[सहन्दस्वामी (५०० ई०) — देवराज (१३००) — इनकी विशेषतायें — दुर्गाचार्य — (१३००—१० ई०) — इनका वैद्युत्य — स्थान-काल-निरूपण — महेश्वर (१५०० ई०) — आधुनिक विद्वानों के कार्य — रॉय — सामर्थमी — सरूप — स्कोलट — राजशाहे — सिद्धेश्वर वर्मा — निरक्त के मुद्रित-संस्करण ।]

हम जानते हैं कि निषण्डु वैदिक-शब्दों का सहज है और निरक्त उसी पर भाष्य है । शब्दकोश व्याख्या की आवश्यकता तो होनी ही नहीं और उसके भाष्य की व्याख्या भी क्या होगी ? निरक्त स्वयं व्याख्या-रूप में है, तथापि भारतीय मस्तिष्क कभी भी किसी व्यंग को निर्वाचित नहीं देता सकता है चाहे वह प्रभ्य सरलतर वर्णों न हो । द्वितोपदेश की व्याख्यायें भी क्या नहीं हैं ? यही कारण है कि निषण्डु और निरक्त पर भी टीकायें ही मही, तथा एवित भाष्य लिखे गये । इनका सक्षित वर्णन किया जाता है ।

(क) सहन्दस्वामी (५०० ई०) — निरक्त की उपलब्ध-व्याख्याओं में इनकी व्याख्या सबसे प्राचीन है । इग्होने अत्यन्त सरल शब्दों में निरक्त के बारह घट्यायों की व्याख्या की है । इनकी व्याख्या दुर्गाचार्य की टीका के समान विस्तृत तथा निरक्त के प्रत्येक शब्द का उद्धरण देनेशाली नहीं है । निरक्त के प्राचीनतम अर्थ का ज्ञान पाने के लिए यह टीका सर्वोत्तम है । सहन्दस्वामी का काल छाँ लक्ष्मण संघ ने सप्रयाण सिद्ध किया है । सहन्दस्वामी स्वयं हरिस्वामी ने गुरु थे । हरिस्वामी ने शतपथ-वाद्या भी टीका लिखी है और ये मालवाधिपति के यहाँ घर्माध्यक्ष थे । ये लिखे हैं—

य. समाद् बृत्वा न्सत् सोमसंस्यास्तपर्युतिम् ।

व्याख्यां बृत्वा व्यापयन्मा हस्तदस्वाम्यतिं मे गुरु ॥

इससे पता चलता है कि सहन्द ने ज्ञानेद की व्याख्या भी लिखी थी । हरिस्वामी ने अत्यन्त समय एलिसंवारे में दिया है नियमा संदोधन परके छाँ

१. Dr. Gargachala Jha Commemoration Volume, pp. 399-401.

सह्य निष्कर्ष यही निकालने हैं कि • मालव-देश मे उस समय कोई विक्रम नहीं अपितु हरिस्वामी का अभीष्ट राजा यशोधर्मा था जिसका खिलालेख भी मिलता है । इन्होंने सिद्ध किया है कि हरिस्वामी ने अपनी टीका ५३८ ई० मे लिखी थी जिसके कुछ पहले—या तो पाँचवी शती के अन्त मे या छठी शती के आदि मे स्कन्दस्वामी रहे होंगे ।

(च) देवराज-यज्ञा (१३०० ई०)—निष्पट्टु को व्याख्याओ मे एक-मात्र इनकी व्याख्या ही उपलब्ध है । इन्होंने निष्पट्टु के पदो को व्याकरण की कसोटी पर बस कर रखा है जिसके लिए इन्होंने पाणिनि और भोज के व्याकरणो से सहायता ली है । उभी शब्दो को छिद्र कर दिया गया है । पदो को व्याख्या मे इन्होंने स्थान म्यान पर आचार्यो के नामो का उल्लेख किया है जिससे इनके काल निष्पट्ट मे बड़ी सहायता मिलती है । इन्होंने अपनी व्याख्या के आरम्भ मे एक छोटी सी भूमिका भी दी है जिसमे अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के प्रति कृतज्ञता जापित करते हुए उनके नाम भी लिये हैं । निष्पट्टु के पाठ के सशोधन पर भी इन्होंने काफी प्रयत्न किया है क्योंकि ये लिखते हैं कि वेद्यालय के पुत्र माधव के प्राच्यवेद-भाष्य^१ की विविध-प्रनुक्तपणियो से मिलाकर, बहुत सरह के कोशों को देखकर, निष्पट्टु का पाठ सशोधन किया है । यह इनकी बैज्ञानिकता का सूचक है ।

भूमिका मे एक स्थान पर ही इन्होंने निम्नलिखित-पूर्वाचार्यो का उल्लेख किया है—(१) स्कन्दस्वामी की निष्कृत-टीका (२) वेदभाष्य—स्कन्दस्वामी भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास, माधवदेव, उवटमट्टु, भास्कर मिथ, भरतस्वामी (३) पाणिनि-व्याकरण (४) उणादि-वृत्ति (५) निष्पट्टु-व्याख्यायें—शीरस्वामी, अनन्ताचार्य (६) भोजराज का व्याकरण (७) कमल-नयन वा निखिल-पद-सस्कार ।^२

इस मूली मे दुर्गाचार्य-जैसे विज्ञात टीकावार का नाम न होना सूचित करता है कि देवराज दुर्गाचार्य से पूर्ववर्ती हैं । ये भोज वा नाम कई बार लिते हैं तथा व्याकरण की एक 'देव'-नामक पुस्तक वा भी बहुधा उल्लेख करते हैं । इन्होंने किसी घातु-वृत्ति (सायण-माधव की नहीं) मे भी उद्दरण

१. दा० एकमग सह्य-सम्पादित (ज्ञानदीपिका) भाष्य, भा०-१-४, अन्य भाग भारत के विभाजन-काल मे नट हो जये ।

२. निष्पट्टुटीका (युद्धमण्डल अन्यमाण), १० ४ ।

जहाँ तहाँ दिये हैं। हरदत्त (११०० ई०)^१ की पदमञ्जरी (काशिका की व्याख्या) का उद्धरण इन्होंने 'एतम्' (अश्वनाम)-शब्द की व्याख्या में दिया है।^२ ये भरतस्वामी के वेदभाष्य का उल्लेख करते हैं और सायण ने अपने वेदभाष्य में यथ ही देवराज का उल्लेख किया है। सायण का समय चूंकि १४वीं शती है इसलिए इनके कुछ पहले प्राय. १३०० ई० में अवश्य बरंमान रहे होंगे।

(ग) दुर्गाचार्य (१३००-५०)—निष्ठ का तात्पर्य समझने में ये सबसे अधिक सहायक हैं। उसकी विस्तृत व्याख्या में इन्होंने अपने पाण्डित्य का पूरा प्रबन्ध दिखलाया है। स्थान-स्थान पर दार्शनिक-विवेचना में भी इनकी अद्भुत गति देखने में आती है। इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने निष्ठ के प्राय सभी शब्दों को अपनो व्याख्या में उद्भूत किया है इससे निष्ठ का पाठ ठीक करने में इन्हें बहुत बड़ी सहायता मिलती है। इनकी भाषा यद्यपि सामान्यतया बहुत सुरक्षा है किन्तु दार्शनिक-विवेचना के स्थान पर आदर्श दार्शनिक-भाषा का प्रयोग करना भी ये जानते हैं। इनकी वृत्ति अपने शेष में अद्वितीय है। उन वैदिक भग्नों को, जिन्हे निष्ठ में अशन उद्भूत किया गया है, ये अपनी टीका में पूर्णत उद्भूत करके समूचे की व्याख्या करते हैं। दुर्गाचार्य ने केवल १२ अध्यायों पर ही व्याख्या लिखी थी वर्तोंकि पुरानी पाण्डुलिपियों में इतना ही अश मिलता है। परिशिष्ट की व्याख्या हिस्सी ने बाद में जोड़ दी है।

दुर्गाचार्य की वृत्ति की पुष्पिका (Colophon) में लिखा मिलता है—“अद्विदर्थाया निष्ठवृत्तो जन्मूमाग्निश्चनिवासिनः आचार्यभगवद्दुर्गसिंहस्य हृतो”—जिससे सभी विद्वानों ने सिद्ध किया है कि काशीर के जम्मू प्रदेश के निवासी तथा सन्त्यासी थे। इनका शेष वापिष्ठ या तथा ये कापिष्ठल-सहिता के अध्येता थे वर्तोंकि निष्ठ (४।१४) में स्थित ऋग्वेद (३।१५।३।२३) की ऋचा की व्याख्या ये नहीं करते और कहते हैं—“यस्मिन्निगमे एष शब्दः (= 'लोधम्') सा वसिष्टद्वयिणी ऋक् । अहं च कापिष्ठलो वापिष्ठ । अनस्ता न निर्वैवीमि ।”^३ अर्थात् मिं कापिष्ठल वापिष्ठ हूँ, जिस ऋचा में 'लोध'-शब्द है वह वसिष्ठ की निष्ठा करने वाली है इसलिए उसकी व्याख्या नहीं करता

१. Delvalkar, Systems of Sanskrit Grammar

२. निष्ठटीका (यु० म० अ०), पृष्ठ-१६३, विश्वाखापादशब्दोऽ-

३. भद्रकम्पकर-सम्पादित निष्ठकृष्ण, प० १८२ ।

है। सायणाचार्य ने उपर्युक्त श्रृंगा की घ्यास्या में निम्नलिखित टिप्पणी दी है—“पुरा खलु विश्वामित्रदिव्यः सुदाः नाम राजपिरासीत् । स च केन-चित्तारणेन वसिष्ठद्वेष्योऽभूत् । विश्वामित्रस्तु दिव्यस्य रक्षार्थमाग्निशृंगिभि-वसिष्ठमशपत् । ता श्रृंगो वसिष्ठा न शृंगन्ति ।” अर्थात् पूर्वकाल में विश्वामित्र के शिष्य सुदास नाम के राजपि थे। किसी कारण से वसिष्ठ उनके द्वेषपात्र हो गये। विश्वामित्र ने शिष्य की रक्षा के लिए इन श्रृंगारों से वसिष्ठ को शाप दिया। इन श्रृंगारों को वसिष्ठ के गोत्र वाले नहीं सुनते।

इनकी श्रृंगवर्णवृत्ति की सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि १३८७ ई० की मिली है तथा यह बोड्ले (ऑफसफोर्ड) पुस्तकालय में सुरक्षित है। कीथ ने इस तिपि को सत्य माना है। यह पाण्डुलिपि भूगूणेत्र (बम्बई-राज्य)^१ में लिखी गयी थी। इस आधार पर डा० सरूप ने अनुमान किया है कि पाण्डुलिपि को जम्मू से बम्बई जाने में ५० दर्घ से अवश्य ही लगे होंगे, अतएव दुर्गाचार्य का समय १४वीं शतो का आरम्भ मानना चाहिए। या सो ये देवराज के समकालीन थे या कुछ बाद में हुए होंगे।^२

(च) महेश्वर (१५०० ई०)—इन्होंने भी निष्कृत पर टीका लिखी है जो लाण्डा, प्राप्त हुई है। स्कन्द और महेश्वर की टीकाओं को पाण्डुलिपियों से सुधार कर डा० सरूप ने दीन भागों में प्रकाशित कराया है। महेश्वर ने निष्कृत के टीकाकार के रूप में किसी बर्धरस्वामी का उल्लेख किया है जो स्कन्दस्वामी की छाड़कर कोई दूसरे नहीं। दुर्गाचार्य का उल्लेख में पूर्व-टीकाकार के रूप में फरते हैं। दुर्ग को पूर्वत्व-प्राप्ति के लिए १५० दर्घ का अवकाश देना पर्याप्त है। इस आधार पर इनका आविभाविकाल १५०० ई० के बासपास होना चाहिए।

इनके अलावे निष्पटु और निष्कृत के अन्य अनेक टीकाकारों के उल्लेख भर मिलते हैं, उनके कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। सम्भव है ससार के अज्ञात कोने में वे टीकायें मिल जायें जिनसे धोषकर्त्ता विद्वानों का उपकार हो।

(छ) आधुनिक-विद्वानों के कार्य (१८००-१९६०)—पूरोप में सस्कृत के प्रचार होने से तथा भाषा-विज्ञान का व्यापक अध्ययन किये जाने से निष्कृत की उपयोगिता समझी गयी। सबसे पहले रॉथ ने जर्मन-भाषा में

१. आधुनिक भर्तीच; पेरिष्टस् नामक रोमन-पुस्तक में इने बेरिगाजा (Bury-gaza) कहा है।

२. देखिये—Dr. L. Sarup, *The Nigh, and the Nir.*, pp. 25-32

निहक्त की भूमिका और अनुवाद प्रकाशित किया। भाषा-विज्ञान के तात्कालिक-अध्ययन का इस भूमिका में पूरा उपयोग किया गया है तथा अनुवाद अत्यधिक परिश्रम से किया होने से रौंय की योग्यता के अनुकूल है। रौंय की जर्मन-भूमिका का अंग्रेजी-अनुवाद प्रो० मैर्फ़ोशान ने किया जो बम्बई विश्वविद्यालय से १९१९ ई० में प्रकाशित हुआ था।^१ विगत-शती के अन्तिम चरणों में बंगाल के प्रसिद्ध वैदिक-विद्वान् पं० सत्यवत् सामश्रमी ने अत्यन्त परिश्रम करके निहक्त के सुन्दर संस्करण तिकाले थे। इनका 'निरुत्ता-लोचन' भी प्रतिभा का परिचायक है।

वर्तमान शती के निहक्त के अध्येताओं में छा० लक्ष्मण-सरूप का नाम अमर रहेगा। इन्होंने १९१६ ई० से १९२० ई० तक ऑफिसफोर्ड में रह कर प्रो० मैंकडोनल के अधीन निहक्त-विषयक गवेषणा की जिस पर इन्हे छा० फिल० की उपाधि मिली। यही नहो, उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश निहक्त में लगा दिया। सन् १९२० ई० में ऑफिसफोर्ड से ही उनकी निरक्त-भूमिका (An Introduction to Nirukta) तिकाली जिसमें निष्पत्ति और निहक्त के कर्तृहृत पर प्रकाश ढालते हुए उन्होंने यास्क का काल और भाषाविज्ञान में उनका स्थान निर्धारित किया था। १९२१ में लग्दन स निहक्त का अंग्रेजी-अनुवाद इन्होंने विशिष्ट टिप्पणियों के साथ प्रकाशित कराया। यद्यपि इस अनुवाद में वितर्न ही विषादासपद-स्थल हैं किन्तु यह अपने छन का अनूठा ही है। पुनः १९२७ ई० में पञ्जाब विश्वविद्यालय से उन्होंने अनेक हस्तलिखित-ग्रन्थों के आधार पर निष्पत्ति और निहक्त का पाठ ठीककर प्रकाशित कराया। यह संस्करण इनके अन्त्यूत-परिश्रम का परिचायक है। दो बयों के बाद ही निहक्त की सूचियों और परिशिष्ट प्रकाशित हुए। इसके बाद तीन भागों में इन्होंने पञ्जाब-विश्वविद्यालय से ही इकन्दस्वामी और महेश्वर की टीकायें प्रकाशित कराईं (१९२८, ३१, ३४)। अपने छिट-पुट लेखों के द्वारा भी इन्होंने निहक्त की काफी सेवा की है।^२

उपर जर्मनी में स्कोल्ड ने निहक्त का अध्ययन आरम्भ किया तथा अपना प्रबन्ध (Thesis) लुण्ड (Lund) से १९२६ ई० में प्रकाशित कराया। इसमें इन्होंने निहक्त के पाठ संखोचन पर सुझाव, कुछ ऐतिहासिक

१. R. N. Daudkar, *Vedic Bibliography* p, 60.

२. Dr. L. Sarup Commemoration Volume. (Sarupa Bharati)

प्रश्न, निरुक्त के वैदिक उद्धरण आदि की विवेचना के बाद यास्क के निर्वचनों की वर्णनुक्रम से सूची बना दी है।

पूना के प्रो० राजवाडे ने भी निरुक्त पर अच्छा काम किया है। सन् १९३५ ई० म सम्पूर्ण निरुक्त का मराठी-अनुवाद प्रकाशित करने के बाद निरुक्त का प्रथम भाग (तथाकथित) सन् १९४० ई० में पूना से प्रकाशित कराया। इसमें निरुक्त की सामान्य भूमिका, निष्ठु तथा निरुक्त (१४अध्याय) का मूल, अग्रजी में तीन अध्यायों पर विस्तृत आलोचनात्मक टीका पचीस सूचियाँ आदि हैं। वस्तुत एक ही पुस्तक में इतनी वस्तुयें वही नहीं मिल सकती इसलिए प्रो० राजवाड का संस्करण अनुसंधान करने वाले विद्वानों के लिए बहुत उपयोगी है।

होशियारपुर स ढा० सिद्धेश्वर चर्मा का ग्रन्थ यास्क वे निवचन^१ (Etymologies of Yaska) प्रकाशित हुआ है जिसमें विश्लेषणात्मक विधि स यास्क वे निवचनों को परीक्षा की गई है। भाषा विज्ञान की हृष्टि से यह ग्रन्थ लिखा गया है तथा यास्क का महत्व बहुत ऊँचा कर देता है। विद्वानों में इस ग्रन्थ का मूल्य बहुत अधिक है। इधर हाल में धीरिष्ठुर्वद भट्टाचार्य का भी एक ग्रन्थ निरुक्त पर निकला है।^२

निरुक्त के विभिन्न संस्करणों में दुर्गचार्य की टीकायें प्रकाशित हुई हैं जिनमें वेस्कूटेश्वर प्रस और यम्बई सस्तृत प्राइत पुस्तकमाला के संस्करण अन्तर्भूत हैं। दुर्गचार्य की टीका वे आधार पर ही प० मुकुद भा वक्षी ने भी सस्तृत टीका लिखी है जो निषयसागर प्रस स प्रकाशित है। हिंदी में दुर्गचार्य के आधार पर प० सीताराम शास्त्री ने अपना विद्वान भाष्य छपाया है। बिहिरचार्द पुस्तकरण ने भी निरुक्त की अच्छी टीका की है। इस प्रकार भारतीय प्रकाशणों और विद्वानों ने इमां उत्तम प्रशासनों और रखनाओं द्वारा निरुक्त के दात्र में प्रशसनीय काय किया है।

^१ Yaska's Nirukta and the Science of Etymology (An Historical and Critical Survey) by Bishnupada Bhattacharya

दशम—परिच्छेद

प्रस्तुत-प्रयास

[अंग्रेजी और संस्कृत टोकार्ड—हिन्दी-भाष्य—उसको अनु-पयोगिता—संक्षिप्त संस्करण को आवश्यकता—अनुवाद-कार्य—कठि-नाइयाँ—मूलपाठ—धन्यवाद-क्षण—क्षमान्याचना ।]

अभी तक निश्चित के बीचों संस्करण विभिन्न स्थानों से निकल चुके हैं किन्तु वे सभी सोर्गों के लिए समान-रूप से लाभदायक नहीं। दुर्गचार्य और मुकुन्द ज्ञा की टोकार्ड (जो इस समय सुलभ हैं) सस्तत में होने के कारण उनका उपयोग केवल सस्ततज्ञ लोग ही कर सकते हैं। डॉ० लक्ष्मणसहृप का अनुवाद और मूल-संस्करण अवश्य उपयोगी है किन्तु आज उल्लंघन हो गया है। फिर केवल अंग्रेजी जानने वालों के लिए ही वह उपयोगी है। प्रो० राजबाडे की अंग्रेजी-टीका इतनी विस्तृत है कि उनमें से कथ्य निकलना धैर्य का काम होगा, बस्तुतः उसमें निष्कर्ष कम निशाला गया है, विवेचना अधिक की गई है। अनुसन्धान-प्रिय व्यक्तियों के लिए तो ये प्रथम अत्यन्त उपयुक्त हैं किन्तु सामान्य पाठकों के लिए नहीं।

हिन्दी में शास्त्रार्थ शास्त्री का भाष्य निकला है जो अपनी विशालता के साथ-साथ विषय-बस्तु की दृष्टि से भी काफी सुमढ़ है। यह विशालता प्रो० राजबाडे के निश्चित जैसी नहीं। राजबाडे ने तो अपनी आलो-चनात्मक-दृष्टि का पूर्ण-परिनग दिया है विस्ते उनकी पत्ति-पत्ति में अनु-संधान चलता रहता है—पूरी टीका में ये स्वर्ण खड़े हैं मानो पढ़ाते जा रहे हों। दूसरी ओर शास्त्री जी ने दुर्गचार्य का अक्षरस अनुयामन तो किया है ही, भारतीय पण्डितों में सहज प्राप्य विषयान्तर में जाने की प्रवृत्ति भी इनमें तूब है; बालोचनात्मक दृष्टिकोण तो इनसे तू भी नहीं गया है। कठिपथ रुदियी लटकती ही है, भाषा की शुद्धि पर भी ध्यग्न नहीं दिया गया है। एम. ए. में पड़ने के समय तथा कुछ छात्रों को पढ़ाने के समय मेंने इसका भी विधिवत् अध्ययन किया था, किन्तु जब बहुत-सी व्यर्थ की बातें आने लगी तो परेशान हो उठा। प्रस्तुत कार्य-सम्पादन का विचार उसी समय मूलरूप में पढ़ गया था। यह टीका बहुत पाण्डित्यपूर्ण है किन्तु उचित समय का इसमें अभाव है।

आज निरुक्त का पर्याप्त अध्ययन हो रहा है। सामान्य पाठकों में भी यह प्रवृत्ति देखने में आ रही है कि जरा देखें तो, निरुक्त में क्या है? क्षेत्र लोग इसे भाषा-विज्ञान का प्रथम ग्रन्थ मानते हैं? हिन्दी-भाषा में कोई ऐसा सहजरण नहीं जो पाठकों को इस जिज्ञासा को शान्त करे। कई विश्वविद्यालयों में भी यह पाठ्य ग्रन्थ है और अनुवाद या व्याख्या के प्रश्न आते हैं। आज के वैज्ञानिक-पुग में लोगों को इतना समय कहाँ कि धैर्यपूर्वक एक विस्तृत टीका पढ़ें और उस महीने के बाद एक पत्रिका का निष्कर्ष निकाल सकें। यद्यपि यह कहना ठीक है कि "सत्य छोटा ही होता है परन्तु इसे पान को विधि वडी लम्बी होनी है"^१ किर भी स्वतन्त्र-भाषा में विषय को समझा देना आज की माँग है। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने प्रस्तुत कार्य में हाथ लगाया।

दिसम्बर, १९५८ में मैंने निरुक्त का अनुवाद आरम्भ किया तथा दूसरे ही महीने में प्रदम, द्वितीय और सतम अध्याय का अनुवाद पूरा हो गया। पुछ दिनों तक वह यो ही पड़ा रहा। समय निकाल कर उसे परिचूलन द्वितीय साधा-पदल अनुवाद को ही मूल वैदिक-मन्त्रों से साध प्रकाशित करने का इच्छा की। अब मैंने मई महीने (१९५९) में चौलम्बा सहूत सीरीज आफियम के अध्यक्ष थे। इष्टदाता जो गुप्त से भेंट की जिहोने परामर्श दिया था इसमें मूल भी दिया जाय तो अच्छा रह। पटने आवार विविध वार्यों में व्यस्त हो जाने में यह काम मर्हों बन रहा। दुर्गावृत्ता के अवकाश में समय निकालावार मैंने मूल, अनुवाद (परिचार के साथ) और स्थान-व्यापार पर विशिष्ट व्याख्यातम टिप्पणियाँ देहर पाकुलियि लेयार कर दी।

अनुवादक का काम बहा बहिन है, जिसे भुक्तभोणी ही समझ सकता है। वैदान्तों का शान्तिक अनुवाद करना तो और भी हुदार है। उसपर भी निरुक्त में पाठ्य-भेद के कारण तथा वाक्यों के व्यूष्ण होने के कारण व्याख्याओं में ही विभेद है, अनुवादक को पढ़ पढ़ पर टबहर लाना पड़ता है। प्रस्तुत अनुवाद में अन्यायिक बोल्डों का प्रयोग इसे मल्टी-मानि रिड बरगा। इसमें पारिभाषिक शब्द ज्यों के द्वारा रखने की व्याख्यामूलक चट्टा की गयी है, वही रही छाँटे बोल्डों में उनके अप भी दिये गये हैं। विवादास्तर इयल पर टिप्पणियाँ हैं नहीं सो बेबत अनुवाद ही दिया गया है। मरा नाम भी उन्हीं नीकाशारों की घोषी में रखना चाहिये जो दुर्घट स्थानों की टीका में 'स्पष्टमेन्' कह पर

^१ Truth is always very little but the process to attain it is ever long enough.

पार कर जाते हैं और नभी लोगों के समझने लायक स्थान में अपने पाण्डित्य का पुरा प्रकर्य दिखलाने लगते हैं।

अस्तु, अनुवाद को सामिक (Literal) बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। इसलिए जो वाते मूल में नहीं उन्हें देने के लिए (यदि अर्थ स्पष्ट नहीं हो रहा हो तभी) बड़े कोष्ठों का प्रयोग हुआ है, भाव समझने के लिए या शब्दों का अर्थ देने के लिए छोटे कोष्ठ ही प्रयुक्त हुए हैं। वैदिक मन्त्रों के अनुवाद में बड़ी साधानी से काम लिया गया है। पहले तो मैंने उनका पश्चानुवाद किया था जिन्हे परिचित में दिया गया है परन्तु बाद में छात्रों की उपयोगिना का ध्यान रखकर उच्चाओं का अन्वय करके मूल शब्द को कोष्ठ में रखते हुए हिन्दी अनुवाद अलग-अलग शब्दों वा दिया गया है। आशा है इससे विशेष मुविधा रहेगी। प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग भी हो गया और पूरे मन्त्र का सामिक-अनुवाद भी। कुछ स्थानी को छोड़कर मैंने दुर्गं की व्याख्या का ही अबलम्बन किया है। मन्त्रों के अनुवाद में कही-कही विदेशी विद्वानों का भी आशय लिया गया है जिसे उचित समझकर भारतीयता-प्रेरी पण्डित लोग कृपया मुझे लमा करेंगे।

निहत्त के दो प्रकार के विभाजन हैं—महाराष्ट्र सहकरण और गुजर-सहकरण। पहले में अध्याय को सीधे परिच्छेदों में ही बाँट दिया गया है किन्तु गुजर सहकरण में अध्याय पहले पाठों में बैठे हैं तब परिच्छेदों में। दोनों सहकरणों के परिच्छेद आगे-दीछे होते ही रहते हैं। मैंने गुजर पाठ से पाठ कम और महाराष्ट्र-पाठ से परिच्छेद-कम लिया है। आधुनिक उद्धरणों में महाराष्ट्र-पाठ का ही आशय लिया जाता है। प्रस्तुत-सहकरण में लिचडी के ढारा दोनों की उपयोगिना समझी जा सकती है। निहत्त का पाठ मैंने प्र० राज बाडे के अनुसार रखा है, पथासम्भव अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न विराम चिह्नों का भी प्रयोग किया गया है। मूल के संवियुक्त पदों को यथा-साध्य तोड़ने की चेष्टा रही है किन्तु इतना ही कि 'सहितैकपदे नित्या०' का उल्लंघन न हो।

ग्रन्थ रचना के मूल प्रेरक थी महराव बली एम० ए० को ध्यावाद देना मेरा प्रथम कर्तव्य है। इन्होंने अपनी एम० ए० परीका (सहृत) के लिए

१. पूरा द्वीप यो है—सहितैकपदे नित्या नित्या घातृपसर्गयो ।

नित्या समाप्ते बास्ये तु सा विनश्यन्ते इति ॥

मुझसे वेद और व्याकरण पढ़ते समय सदा प्रेरित किया है। इसके बाद अपनी शिष्या दीपाली मलिक (पश्चवर्ण सस्तुत, पटना विश्वविद्यालय) का भी मैं पूरा कृतज्ञ हूँ जिसने निरुक्त का—अपना पूरा पाठ्याश मुझसे पढ़ार मुझे अधिकाधिक अध्ययन करने का बवसर दिया। अनुवाद के बाद भी 'आपका निरुक्त क्य छप रहा है ?' इत्यादि वाक्यों से उसने बहुत उत्साहित किया है जिससे यह कायं इतना शोध हो सका। यद्यपि वह घनवाद की ही है परन्तु उसे पुन घन्यवाद देना मेरा अपना वक्तव्य है। अपने असूयको का भी मैं यम कृतज्ञ नहीं हूँ जिन्होंने निन्दा और कटु आलोचना द्वारा अपनी ही हानि की किन्तु मेरा उत्साह द्विगुणित कर दिया।

अपने पूज्य-गुह स्वर्णीय ढाँ तारापद चौधुरी, एम् ए., पी. एच डी. (लन्दन) का किन शब्दों में स्मरण कर्हे ? यदि वे इसे प्रकाशित देखते ! निरुक्त के पूर्वाचायं-तो ग्रन्थ के सर्वस्व है ही, सब कुछ तो उन्हीं का है, मैंने केवल सजा दिया है। नवन्नालम्बा-महाविहार के पुस्तकालय-कर्मचारियों का भी मैं आमारी हूँ जिन्होंने उपयुक्त पुस्तके देफर भूमिका और परिसिद्ध को संवारने में काफी सहयोग दिया है। अपने पूज्य माई प० मुरली मनोहर शर्मा का भी मैं उनकी विविध-सहायताभोके लिए शृंगत हूँ।

मनुष्य नुटियों का भावधार है। कितनी सावधानी रखने पर भी इस पुस्तक में भी हजारों नुटियों होती हैं। मैं सभी विद्याप्रेमियों से करबड़-प्रायंता करता हूँ कि वे मेरी इस तुच्छ कृति को एक बार आलोचनात्मक-इंटि से देख कर गलतियों की सूचना अवश्य दें। वस्तुतः, इसमें जो भी गुण है, पूर्वाचायों के हैं। हाँ, भूलें सब मेरी ही हैं। यदि मेरी इस प्रथम हृति से पाठ्यों में अधिक जानने की इच्छा जागृत हुई और कुछ भी सहायता मिली तो मैं अपना परिवर्तन सफल समझूँगा तथा शोध ही अन्य अध्यायों को खण्डा-प्रकाशित कराऊँगा।

अन्त में मैं कालिदास की कथनीय कविता से अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्षान्यतरद्वृजन्ते मूढ़ परप्रत्ययेयवुद्धि. ॥

॥ अशान्ति शान्तिः शान्ति. ॥

निघण्टु-पाठः

[निरुक्त के द्वितीय अध्याय के द्वितीय-पाठ से निघण्टु के शब्दों की व्याख्या हुई है, अतः पाठकों को सुविधा के लिए मूळ निघण्टु-पाठ दिया जा रहा है। बीच में इनसे निरुक्त के सम्बन्ध को समझाया जायगा। प्रत्येक नाम को व्युत्पत्ति देवराज यज्ञा ने की है।]

प्रथमोऽध्यायः^१

६३ गी । रमा । उमा । दया । ला । क्षमा । क्षीणो । क्षितिः । अवनि ।
उर्वी । पूर्वी । मही । रिप । अदितिः । इङ्गा । निकृति । भू । भूनि ।
पूरा । गातु । गोत्रा । इन्द्रेऽविदाति पृथिवीनामधेयानि ॥ १ ॥

हेन । चन्द्रम् । रुद्रम् । अप । हिरण्यम् । पेता । हृष्णम् । लोहम् ।
काञ्चनम् । काञ्चनम् । भर्तु । अदृतम् । मदतु । दत्रम् । जातरूपम् । इति पञ्चदश
हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

अम्बरम् । दिवत् । द्योम् । वहिः । धन्व । अग्निरितम् । आकाशम् ।
आप । गृष्णी । भूः । स्वयम्भू । मत्वा । पुरुरूपम् । सदर । समुद्र ।
अस्त्ररम् । इति पोद्धान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

स्व । पुष्टिः । नाक । गो० । विष्ट् । वधः । इति पद्माघारणानि ॥ ४ ॥

सेदय । किरणा । गाव । रशय । अभीशवः । लीवितय । ग्रस्तय ।
घनम् । उक्ता । वस्त्र । मरीचिया । मधुवा । सत्र अद्यय । माघ्या ।
सुपर्णी । इति पञ्चदश रशिनामानि ॥ ५ ॥

आता । आशा । उपरा । आङ्गा । काष्ठा । योग । ककुम । हरित ।
इत्यच्छी दिङ्गुनामानि ॥ ६ ॥

श्पावी । सपा । शर्वरी । अवतु । उर्म्मी । राम्या । यस्या । नस्या । दोपा ।
नहा । तम । रज । असिनी । यस्त्वनी । नमहत्वनी । धूताची । शिरिणा ।
मोक्षी । शोरी । क्षथ । एव । हिमा । वस्त्री । इति अयोविदाति रात्रि-
नामानि ॥ ७ ॥

विमावरी । मुनरी । आस्वनी । औदती । वित्रामया । अजुनी । याजिनी ।

१. प्रथमाध्यायान्तरिक्षनामानि पदानि तु निघण्टु दिग्मीद्याध्याय एव नामग्रह वर्ग-
कुटिरूप व्याख्यानानीति शुद्धीमित्रपेत्रम् ।

वाजिनीवती । सुमनावरी । अहना । चोतना । शब्द्या । अहरी । सूनना ।
सूनूनावती । सूनूतावरी । इनि प छंश उपोनामानि ॥ ८ ॥

वस्तो । च । भानु । वासरम । स्वसराणि । घस । घम । घृण ।
दिनम् । दिवा । दिवदिव । द्यविद्यवि । इति ६१दण अहर्नामानि ॥ ९ ॥

अद्रि । ग्रावा । गोत्र । दल । वशन । पुष्टप्रोजा । वलिशान । अमा ।
पवत । पिरि । द्रग । चर । वराह । दम्भर । रोहिण । रेवत । फलिग ।
उपर । उपल । चमस । अहि । अभ्रम् । बलाहक । मेष । दति । ओदन ।
बृप्तिष । दृश । असुर । कोण । इति त्रिपामेघनामानि ॥ १० ॥

इलोक । धारा । रुदा । गो । शीरी । गा धर्वी । गम्भीरा । गम्भीरा ।
मद्रा । मद्राजनी । धानी । वाणी । वाणीची । वाण । पवि । भारती ।
धमनि । न छो । मेलि । मेना । सूर्या । सरस्वती । निवित् । स्वाहा ।
वग्नु । उपविद । मायु । काकुन् । गिह्वा । घोप । हवर । द०० । स्वम ।
ऋक । होत्रा । गी । गाया । गण । धना । गना । विपा । तना । कशा ।
घिपणा । नौ । अक्षरम् । मही । अदिति । दाची । वाव । अनुष्टुप । धनु ।
बल्गु । गल्दा । सर । मुपर्णी । वकुरा । इति सप्तपञ्चाशत् वाचनामानि ॥ ११ ॥

अण । क्षोद । क्षय नभ । अम्भ । कदधम् । सलिलम् । वा ।
अनम् । अतम् । मषु । पुरीपम् । पिष्टलम् । क्षीरम । विषम । रेत । कठ ।
जम । वदूकम् । वुसम् । तुप्रया । वुवुरम् । गुक्षम् । घहगम् । सुरा । अर
रिदानि । अस्मवद् । जामि । आयुधानि । क्षप । अहि । अक्षरम् । खोत ।
तृहि । रस । सदकम् । पय । सर । भयम । सह । गव । यह । खोज ।
सुखम् । क्षत्रम् । आवय । ग्रभम् । यादु । मनम् । भूवनम् । भद्रिष्ट्यत् ।
आप । महत । व्योम । या । मह । रणीक्षम् । स्वूतीकम् । सतीनम् ।
गहनम् । गम्भीरम् । गम्भरम् । ईम । अभ्रम् । हृवि । सद्य । सदनम् ।
अहतम् । पोनि । अहतस्य योनि । न यम । नीरम । रवि । सत । पूणम् ।
सवम । अदितम । बहि । नाम । सपि । अग । पवित्रम् । अमतम । इद ।
हेम । स्व । सर्पि । अम्बरम् । अभ्रम । वपु । अम्बु । तोयम । तृप्यम ।
कृगीटम । शुक्रम । तेज । म्बधा । वारि । ज़रम । जलायम । इदम । इतेर
शनमुरुकनामानि ॥ १२ ॥

अवनय । यद्या । य । शीरा । शोया । एय । धुनय । रुजाना ।
चद्यमा । खादोअणी । रोधचर्ण । हरित । सरिट । अद्रुव । मभव ।
वध । हिरण्यवणी । रोहित । मशुन । अर्ण । सिंघव । कुह्या । यय ।

चर्धं । इरावत्य । पार्वत्य । स्वन्त्य । क्लंस्वत्य । पवस्वत्य । तरस्वत्य ।
सरस्वत्यः । हरस्वत्य । रोपस्वत्य । भास्वत्य । अजिरा । मातर । नदा ।
इनि सक्षिप्तात् नदीतमानि ॥ १३ ॥

अत्य । हृष । अर्च । वाजी । सुप्ति । बहू । दधिक्रा । दधिक्रावा ।
एतग्न । एतगः । पेद । दोगेह । और्च्चयवस । ताक्षण । आशु । द्रष्ट्वा ।
अरुप । माशवत्व । अश्वय । श्यनास । सुपर्णा । पवज्ञा । नर । ह्वापां-
णम् । हसाम । अश्वा । इति पदविश्वाति अश्वनामानि ॥ १४ ॥

हुरी इन्द्रस्य । रोहितोऽने । हरित आदित्यस्य । रासभावश्विनो ।
आजा पूष्य । पूष्यस्य मरुताम् । अश्वयो गाव उपताम् । श्यावा सुवितु ।
विश्वरूपा वृद्धस्ते । निषुत वायो । इनि दश आदित्योपयोजनानि ॥ १५ ॥

आजते । भ्रातते । भ्रातयति । दीदयति । शोचति । मादते । मन्दते ।
रोचते । योनते । दोतते । चूषते । दति एशादता ज्वलतिकमणि ॥ १६ ॥

जमदु । कहमलीकिनम् । जन्मतामवन् । यमलामवन् । अर्चि । शोचि ।
तद । सेज । हर । हृणि । शृङ्खाणि २ । इति एशादता ज्वलते माम-
पेषानि ॥ १७ ॥

पूर्णसह्या ४१४

द्वितीयोऽध्यायः^१

अप । अप्ने । दस । वेष । वेष । विष्ट्री । यतम् । कर्वरम् । वशनम् ।
शवम् । शतु । करणानि । वरासि । वरिक्षत् । करन्ती । चक्रन् । कर्त्तम् ।
कर्त्तो । कर्तवै । वृत्ती । धी । वची । वामी । शिमी । शक्ति । शिल्पम् ।
इति पद्विशति वर्मनामानि ॥ १ ॥

तुक् । तोकम् । तनय । तोवग । तवम् । वेष । अप्न । गय । जा ।
अपत्यम् । यहु । सूत् । नपात् । प्रजा । बीजम् । इति पञ्चदश अपत्य-
मानानि ॥ २ ॥

मनुष्या । नर । चदा । जन्मद । विदा । लितव । कुष्ठय । चर्णणय ।
महूप । हरय । मर्याँ । मर्याँ । मर्ता । ज्ञाता । तुरंशाः । द्रूप्यव । लायवः ।
यदवः । अनव । पूरव । जगत् । तस्युपः । पञ्चजनाः । विषस्वत्तः । पृथ्वाः ।
इति पञ्चविशति मनुष्यनामानि ॥ ३ ॥

आयती । चण्डाना । अभीश् । अप्नवाना । विनहृगृषी । गमस्ती ।
करही । बाहू । भुरिजी । क्षिप्तस्ती । शवदरी । चरित्रे । इति द्वादश बाहू
नामानि ॥ ४ ॥

अग्रुदः । अर्थय । लिपः । व्रिता । दर्पाः । रक्षनाः । धीतयः । अर्थर्थ ।
विष । कष्टया । अवनयः । हरितः । हवसारः । जायय । सनाभय । प्रोक्त्राणि ।
योजनानि । धुर । शास्त्राः । अभीक्षवः । दीधितयः । गमस्तय । इति
द्वाविशति अग्नुलिनामानि ॥ ५ ॥

वशिम । उश्मसि । वेति । वेननि । वेसति । वाञ्छति । वट्टि । वतोति ।
जुयते । हयति । आ चके । उशिक् । भन्यते । छन्तस्त् । चाकनत् । चकमानः ।
कनति । कानिष्टत् । इति बष्टादश पान्तिकर्मण ॥ ६ ॥

अन्ध । वाज । पय । श्रवः । पृक्षः । पितुः । युत । सिनम् । अव ।
क्षु । धाचिः । इरा । इळा । इपम् । उक् । रसः । स्वया । अर्क । दाय
नेम । ससम् । नमः । आयुः । मूनूता । यहु । वर्च । कीलालम् । मदः ।
इति अष्टाविशति अग्ननामानि ॥ ७ ॥

^१ द्वितीयाध्यायगतानि पदानि निश्चके शूरीयाध्यायस्य प्रथमद्वितीयपादयोरेव
बन्धितानि ।

या वयति । भर्वति । बस्ति । वेति । वेवेष्टि । अविष्टन् । वप्सति ।
भसयः । बद्याम् । ह्वरति । इति दश अतिकर्मणः ॥ ८ ॥

ओजः । पाजः । शबः । तवः । तरः । दवकः । शर्वः । वाधः । नृष्णम् ।
तविपी । शुष्मम् । शुष्णम् । दक्षः । चीलु । च्छोतनम् । शूपम् । सहः । यहः ।
ववः । वगः । वृजनम् । वृक् । मज्जना । पौत्यानि । घर्णसिः । द्रविणम् ।
स्पन्दासः । शम्वरम् । इति अष्टाविशतिरेव पननामानि ॥ ९ ॥

मधम् । रेक्षः । रिक्षम् । वेदः । वरिवः । एकान्तम् । रत्नम् । रयिः ।
कथम् । भगः । भीळदृम् । गपः । शुम्नम् । इन्द्रियम् । वसु । रायः । राषः ।
भोजनम् । तना । नृष्णम् । वन्धुः । मेथा । यशः । वहू । द्रविणम् । अवः ।
वचन् । वृत्तम् । इति अष्टाविशतिरेव पननामानि ॥ १० ॥

अष्ट्या । उम्राः । उम्रिया । अही । भही । अदितिः । इळा । जगती ।
शक्तरी । इति नव गोनामानि ॥ ११ ॥

रेळो । हेळो । जामते । भूषीवडे । भ्रीणाति । भ्रेषति । दोषति । षट्ठ-
यति । कम्पते । भोजते । इति दश कुम्भतिकर्मणः ॥ १२ ॥

हैळः । हरः । हणिः । रद्यजः । भामः । एहः । हूरः । तपुषी । जूणिः ।
भग्नुः । अविः । इठि एकादश कोपनामानि ॥ १३ ॥

वर्तते । अवते । लोठते । लोठते । स्यम्दते । फसति । सर्वति । स्यमति ।
स्वधति । असते । अवति । इचोतति । एवंसति । वेनति । वाटि । भुख्यति ।
शबति । कालयति । पेलयति । कण्टति । पिस्यति । विस्यति । मिस्यति ।
प्रवते । चलवते । क्षयवते । कषते । गवते । भवते । खोदति । भक्षति । सखति ।
स्पलति । सचति । क्रुच्छति । तुरोयति । चतति । अतति । गानि । इयक्षति ।
सादृति । रसरति । रंहति । यतते । अमति । अमति । रेति । लजति ।
भिषयति । धमति । मिनाति । ज्वराति । ज्वरोति । द्वररति । सिसति । वेविष्टि ।
योपिष्टि । रिणाति । रीपते । रेजति । दध्यनि । दम्बोति । पुष्यति । षन्वति ।
अश्यति । अर्येति । दीयते । तक्षति । दीयति । द्यूति । फणाति । हृनति ।
अर्देति । मर्दति । ससृते । भसते । हर्यति । इपति । इते । इद्धते । जयति ।
शशनति । गन्ति । आ गन्नीगन्ति । जङ्गन्ति । जिन्वति । जङ्सति । गमति ।
घति । घ्राति । घ्रपति । वहते । रण्यति । जेहते । एवः कति । लुम्पति ।
प्राति । वाति । याति । इपति । द्राति । द्रूढति । एजति । जमति । जवति ।
वचति । अनिनि । पदते । हन्ति । सेषति । अग्न् । अजग्न् । जिगाति ।
पतनि । इन्दनि । द्रमति । द्ववति । वेति । हृपन्दात् । एति । जगायात् ।
अमुदुः । इति द्राविणशते विकर्मणः ॥ १४ ॥

तु । मधु । द्ववत् । ओपम् । जीराः । जूजिः । शर्तः । शूघनासः । दीभम् ।
कृगु । तूयम् । तूजिः । अजिरम् । मुरण्युः । शु । आशु । प्राशुः । तूतुजिः ।
तूतुजानः । तुज्यमानासः । कज्ञाः । साचीवित् । द्युगत् । ताजत् । तरणिः ।
वातरहाः । इति पद्मविदातिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

तलित् । आसात् । अस्वरम् । सुवंये । अस्तमीके । आके । उपाके ।
अवकि । अन्तमाता॒म् । अवमे । उषमः । इति एकादश अतिवर्णनामानि ॥ १६ ॥

रणः । विदाक् । विद्यादः । नदनुः । भरे । आवन्दे । आहवे । आजो ।
फुत्तनाज्यम् । अश्रीवे । समीके । यमसत्यम् । नैमधिता । तद्गुः । समितिः ।
समनम् । मीढ़हे । पृतनाः । रपूधः । मृधः । पृत्यु । समत्यु । समये । सम-
रणे । समोहे । समिये । सम्य । सगे । संयुगे । सगये । सगमे । चूचत्यूये ।
पुस्ते । आपो । धूरसातो । वाजसातो । समनीवे । खले । खजे । पीस्ये ।
महापने । वाजे । अजम । सध । सपत् । सेवतः । इति पट्टचत्वारिंशति
सप्तामानामानि ॥ १७ ॥

इन्द्रनि । नक्षति । आदाणः । आनट् । आषु । आपानः । असात् । नदत् ।
आनगे । अश्वनुते । इति दश लाभिकर्मणि ॥

दम्नोति । इनयनि । एवरनि । धूर्वति । दृणक्ति । दूरचति । दृशनि ।
हृलति । इवयनि । नभने । अदंयनि । रृक्षाति । इनेहृष्टनि । यातयनि ।
स्फुरनि । स्फुरन्ति । निवप्यनु । अवनिरति । वियतः । मानिरत । तद्विः ।
आवश्वल । दृणाति । रण्णाति । शृणाति । दम्नाति । तृणोऽद्विः । ताद्विः ।
निमोशने । निवहृयनि । विनाति । मिनोति । घमनि । इति चयमित्रदान चय-
मर्मणः ॥ १९ ॥

दिष्टु । नेमिं । हेनिः । नय । यविः । गृहः । वृहः । वधः । वथः ।
अर्कः । कृहः । कृलिदः । तुज्ञः । निय । नेनिः । इवयनि । शापदः ।
परथः । इति अट्टादश अर्चनामानि ॥ २० ॥

हरयति । पायते । आयति । ग्रायति । इति चयारि तेऽवयंनामानि ॥ २१ ॥
राष्ट्री । अर्दः । नियुवान् । इति २ । इति चयारि ईश्वरनामानि ॥ २२ ॥

तृतीयोऽध्यायः

उह । तुवि । पुह । भूरि । शशवत् । विशम् । परीणसा । अ्यानशः ।
शतम् । सहस्रम् । सलिलम् । कुविन् । इति द्वादश बहुनामानि ॥ २ ॥

अहन् । हस्तः । निधृतः । मायुकः । प्रतिष्ठा । कृषु । वग्रम् । दभ्रम् ।
अभंकः । शुल्कः । अत्पा । इति एकादश । हस्तनामानि ॥ २ ॥

मदत् । ब्रह्मः । शृष्टः । बृहत् । उक्षितः । तवसः । तविपः । महिपः ।
जस्यः । भुक्षाः । उक्षा । विहायाः । यह्नः । पवक्षिप । विवक्षते । अम्बुणः ।
माहिनः । गमीरः । ककुदः । रमसः । शाघन् । विरप्ती । अद्भुतम् । वंहिष्ठः ।
वहिपन् । इति पञ्चविंशतिः पहन्नामानि ॥ ३ ॥

गपः । कृदः । गर्तः । हस्यम् । अस्तम् । परत्परम् । दुरोणे । नीलम् ।
दुपी । स्वसराणि । अमा । दमे । कृतिः । योनिः । सम । शरणम् । वस्त्रम् ।
छदिः । छदिः । छाया । शर्म । अउम । इति द्वाविंशतिः गृहनामानि ॥ ४ ॥

इरज्यति । विधेम । सप्यति । नमस्यति । दुवस्यति । नह्नोति ।
ऋणदि । नह्नचति । सत्रति । विवासुति । इति एव परिचरणकर्मणः ॥ ५ ॥

शिष्मश्चत्ता । शतरा । शातपत्ता । विलुगः । लौकुमरम् । दोदृष्टम् । मयः ।
सुगम्यम् । सुदिनम् । धूपम् । शुनेम् । शग्मम् । भेषजम् । जलापम् । स्थोनम् ।
सुमनम् । शेषम् । शिवम् । दाम् । कम् । इति विदातिः सुखनामानि ॥ ६ ॥

निगिक् । वक्रिः । वर्षः । वपुः । अपतिः । अप्ता । असुः । अन्तः । निष्ठम् ।
पैशः । कुशनम् । मदृ । अर्जुनम् । ताम्रम । अष्टम् । शिल्पम् । इति पोदश
हृष्टनामानि ॥ ७ ॥

अस्तेमा । अनेमा । अनेतः । अनवद्यः । अनभिशस्त्यः । उत्त्वयः । सुनीथः ।
पाकः । वामः । वयुनम् । इति दद्य प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

केतुः । केनः । जैतः । वित्तम् । कृः । असुः । धीः । शची । माया ।
वयुनम् । अभिस्था । इति एहादश प्रज्ञानामानि ॥ ९ ॥

वट् । यत् । सत्रा । अदा । इत्था । ऋतम् । इति पट् सत्यनामानि ॥ १० ॥

चिवयत् । चाकनत् । जात्वदम । चष्टे । विचष्टे । विचयंगिः । विश्वचयंगिः ।
अयुचाकयन् । इति अष्टो परयतिकर्मणः ॥ ११ ॥

१. तृतीयाध्यायग्रन्थानि पदानि निरुक्ते तृतीयाध्यायेऽत्यधियोन्वारदानानि ।

हितम् । नुक्तम् । सुक्तम् । आहितम् । आकीम् । नकिः । मकिः । नकीम् ।
आकृतम् । इति नव उत्तराणि पदानि सर्वेषदसमाम्नानाय ॥ १२ ॥

इदमिव । इद यथा । बग्निनं ये । चतुरश्चिददमानात् । ब्राह्मणा ग्रन्त-
चारिणः । वृक्षस्य नु ते पुरुष्ट वद्याः । जार आ भग्नम् । मेषो भूनोऽभि यन्नयः ।
तद्वृपः । तद्वृणः । तद्वृत् । तथा । इति उपमाः ॥ १३ ॥

अचति । गायति । रेतति । रत्नोभति । गूर्ध्यति । गृणाति । जरते ।
हृष्टने । नदनि । पृच्छति । रिहति । पमति । कृणयति । हृष्पृष्टति । पनस्यनि ।
पनायते । यत्कृष्टति । मन्दते । अन्दरेति । छन्दति । सदयते । शशमानः ।
रक्षजयति । रक्षयति । संसति । स्वौति । योति । रौति । नौति । भनति ।
पणायनि । पणने । सरति । पश्याः । महृष्टति । वाजयति । पूजयति ।
मन्यते । मदनि । रसति । स्वरति । वेनति । मन्द्रयते । जस्पति । इति चतु-
ष्चत्वारिदादचर्चतिष्ठमाणः ॥ १४ ॥

विषः । विषः । गृत्सः । घीरः । वैनः । वैष्णः । वृष्टः । ग्रहमुः । नवेदाः ।
पविः । मनीषी । मन्थाना । विषाता । विषः । मनश्चिद् । विषश्चिद् । विष-
श्चिदः । आवैनिषः । उत्तिज । कोल्लासः । अडातयः । भवयः । मनुषाः ।
पापतः । इति चतुर्विषादिः मैषाविनामानि ॥ १५ ॥

ऐमः । जरिता । कारः । नदः । स्तामुः । वीरिः । योः । मूर्धिः । नादः ।
एन्दः । इहुर् । रक्षः । हृष्पृष्टः । इति यद्योद्या त्वोत्कृतामानि ॥ १६ ॥

यज्ञः । वैनः । अध्वरः । मेषः । दिद्यः । कायेः । मदमयूः । होत्रा ।
ईटिः । देवताना । मतः । विष्णुः । इन्दुः । प्रजापतिः । यमः । इति पर्वदत्ता
पञ्चनामानि ॥ १७ ॥

मरणः । मुरवः । वायवः । वृत्तवहिपः । यत्तद्युक्तः । मदतः । सदायः ।
देवयवः । इति अष्टौ आतिष्ठूमामानि ॥ १८ ॥

ईषहे । यापि । मन्महे । ददि । यापि । पुषि । मिमिह्दि । मिमोहि ।
रितिह्डि । रिरोहि । वीरमन् । यम्भारः । यपि । इपृष्टयति । मदेपहि । मवा-
महे । मायते । इति मन्द्रय याप्यामर्माणः ॥ १९ ॥

दानि । दामनि । दामनि । रानि । गमनि । पुण्यति । गुणानि । शिशनि ।
तुड्डनि । महते । इति दण्ड दानर्वाणः ॥ २० ॥

परिषद । पवाव । अभ्यर्यं । आग्नियः । इति अग्नारः । अध्येयगामर्माण ॥ २१ ॥
स्वनिति । गन्तु । इति हो अपितुकमर्माणी ॥ २२ ॥

कूपः । कातुः । कर्तुः । दवः । काटः । स्नातः । अवतः । क्रिविः । सूरः ।
उत्सः । ऋश्यदात् । कारोतरात् । कुशयः । केवटः । इति चतुर्दश कूपनामानि ।
चृगुः । तक्वा । रिष्मा । रिषुः । रिष्वा । रिहायाः । तायुः । तस्करः ।
बनगुः । हुरश्चित् । मुगीवान् । भलिम्लुचः । अष्टंसः । बृकः । इति चतुर्दश
स्तेननामानि ॥ २४ ॥

निष्पम् । सस्वः । सगुवः । हिष्क् । प्रतीच्यम् । अपीच्यम् । इति निर्णी-
तान्त्रहितनामधेयानि ॥ २५ ॥

आके । पराके । पराचैः । आरे । परावतः । इनि पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

प्रत्नम् । प्रदिवः । प्रवयाः । सनेमि । पूर्णम् । अलाय । इनि पट् पुराण-
नामानि ॥ २७ ॥

नदम् । नुत्तम् । नूतनम् । नवनम् । इदा । इदानीम् । इति यडेव नद-
नामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्वे । अभीके । दभम् । अभंशम् । विरः । सठः । द्वः । नेमः । शृकाः ।
स्तूपिः । वज्रोमिः । उपजिह्विका । कर्दरम् । रुमः । विनाहम् ।
मेना । र्नाः । शेषः । वैतसः । अया । एना । चिष्ठतु । सचते । भ्यस्ते ।
रैजते । इति यड्विदितिः द्विषः उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

स्वये । पुरम्बी । विषये । रोदसी । ज्ञोषी । भम्भसी । नमसी । रजसी ।
सदमी । सदनी । षूतवती । वहुले । गभीरे । गम्भीरे । ओष्ट्यी । चम्बी ।
पाषवो । मही । डर्वी । पूर्वी । अदिती । अही । दूरे अन्ते । अपारे द । इति
चतुर्विदितिः द्वावापृदिव्योः नामधेयानि ॥ ३० ॥

पूर्णसंख्या—४१०

— — — — —

हिक्षु । तुक्षु । सुक्षु । आहिक्षु । आकीक्षु । नकि । मकि । नकीक्षु ।
आकृत्क्षु । इति नव उत्तराणि पदानि सर्वपदसमाप्नानाय ॥ १२ ॥

इदमिव । इद यथा । अग्निर्न ये । चतुरश्चिद्दद्मानात् । ग्राहणा ग्रत
चारिण । वृक्षस्य नु ते पुरुहूत यथा । जार आ भग्नम् । मेषो भूतोऽभि यानय ।
तद्रूप । तद्वृण । तद्वृत । तथा । इति उपमा ॥ १३ ॥

अचति । गायति । रैभति । स्तोषति । गूढंयति । गृणाति । जरते ।
हृष्टते । नदनि । पृच्छति । रिहति । यमति । कृजयति । कृपणयति । पनस्यति ।
पनायत । बल्ग्रयति । यादते । भद्रेति । छादति । छदयते । दासमान ।
रञ्जयति । रत्नयति । दासति । स्तोति । योति । रीति । नीति । भनति ।
पणायति । पणते । सपति । पृथग्नाः । महयति । वाजयति । पूजयति ।
मायते । भदनि । रसति । स्वरति । वैनति । मद्यते । जल्पति । इति चतु
स्वावारिशद्वतिक्षमाणि ॥ १४ ॥

विद्र । विद्र । गृत्स । पीर । वैन । वैष्ण । वृष्ट । वृष्टम् । नवेदा ।
पवि । मनीयो । मायाना । विपाता । विष । मनश्चिद् । विवशिद् । विष
न्यव । आवेनिन । उत्तिष्ठ । वौस्तास । अद्वातप । भवय । भनुषा ।
यापन । इनि चतुर्दिशनि वैषाविनामाणि ॥ १५ ॥

रैम । अरिना । काढ । नद । इनामु । वीर्णि । गी । सूरि । नार ।
उष्ट । इतुर । इट । कृपच्छु । इति त्रयोदश र्तोतुवामाणि ॥ १६ ॥

यन । वैन । अद्वर । मेष । विद्य । नार्य । मवमद् । होत्रा ।
इटि । ददनाना । मज । विञ्णु । इदु । प्रवापनि । घम । इति पञ्चदशा
यामानामाणि ॥ १७ ॥

भरता । कुरुव वापत । दृष्टवहिय । यक्षयुष । यरत । उदाष ।
देवयन । इति अटी अरिहत्यामाणि ॥ १८ ॥

ईमद् । यापि । मामद् । इटि । यग्नि । युधि । मिमिद्दि । निमीहि ।
रितिर्दि । रिरीहि । लीरग्नै । यातार । यग्नि । इग्नूप्यनि । मदेमहि । मना
महे । मायते । इनि ममन्ता यात्राहमाणि ॥ १९ ॥

दानि । दामनि । दामनि । दानि । रामनि । युग्मनि । गुणनि । तिग्नि ।
गुड्गनि । मह्ने । इनि दा दानकमाणि ॥ २० ॥

परिग्रद । पवम्य । अभ्यम्य । अग्निय । इति अग्नार । अद्वेषलाहमाणि ॥ २१ ॥
स्वदिति । ग्निय । इति हो रसपित्रिक्षमाणि ॥ २२ ॥

कूपः । कातुः । कर्तः । वद्रः । काटः । सातः । अवठः । क्रिविः । सूरः ।
उत्सः । क्षेत्रयदात् । कारोतरात् । कुशयः । केवटः । इति चतुर्दशं कूपनामानि ।
चृगुः । तव्या । रिमा । रिपुः । रिक्वा । रिहाया । तायुः । तस्करः ।
वनगुः । हूरश्चित् । मुषीवान् । मलिम्लुचः । अष्टर्णसः । वृकः । इति चतुर्दशं
स्तेननामानि ॥ २४ ॥

निष्ठम् । सस्वः । सनुतः । हिरुक् । प्रतीच्यम् । अपीच्यम् । इति निर्णी-
तान्तुहिननामधेयानि ॥ २५ ॥

आके । पराके । पराचैः । आरे । परावतः । इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

प्रत्नम् । प्रदिवः । प्रवयाः । सनेमि । पूर्व्यम् । अह्नाय । इति पद् पुराण-
नामानि ॥ २७ ॥

नवम् । मूल्तम् । नूननम् । नव्यम् । इदा । इदानीम् । इति पडेव नव-
नामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्ते । अभीके । दभ्रम् । अभेषम् । विरः । सठः । एवः । नेमः । शूलाः ।
स्तुमिः । वज्रीमिः । उपजिह्विका । ठंदरप् । इदरम् । रमः । पिनाशम् ।
मेना । एनाः । शैपः । वैतसः । अया । एना । उपकुतु । सच्चै । भ्यसने ।
रैजते । इति पद्मोविद्यतिः द्विः उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

स्वये । पुरम्भी । घिषणे । रोदसी । क्षोणी । भस्मसी । नमसी । रक्षसी ।
सदसी । सप्तनी । यूतवती । यहूले । गमीरे । गम्भीरे । जोणी । चम्बी ।
पाष्ठी । मही । उष्ठी । पूष्ठी । अदिती । जही । दूरे आरे । अपारे २ । इति
ष्टुविद्यतिः दावापुरुषिष्ठोः नामधेयानि ॥ ३० ॥

पूर्णसंस्था—४१०

चतुर्थोऽध्यायः

जहा । निधा । शिताम् । मेहना । दमूना: । मूषः । इविरेण । कुरुतने ।
जठरे । तितउ । शिप्रे । मध्या । मन्दू । ईमन्त्रासः । कायमानः । लोद्म् ।
शीरम् । विद्धे । दुपदे । तुखति । नसन्ते । नसन्त । आहनसः । अद्यसते ।
इधिमणः । वाहः । परितेष्या । सुविते । दयते । तूचित् । नूच । दावने ।
अकूपारस्य । शिशीते । सुतुकः । सुप्रायणः । अप्रायुवः । च्यवनः । रजः ।
हः । जुहुरे । व्यन्तः । आणः । याशी । विपुणः । जामिः । पिता । शयोः ।
अदितिः । एरिरे । जगुरि । जरते । मन्दिने । गौः । गातुः । दंसयः । तूताव ।
चयसे । वियुते । अधक् । अस्याः अस्य । इति द्विपटिः पदानि ॥ १ ॥

स्तिनेम् । वाहिष्ठ । दूतः । वादशानः । वायेम् । अघः । असशन्ती ।
षनुध्यति । तदरूप्यति । भन्दनाः । आहमः । नदः । सोमो अक्षाः । श्वावम् ।
कतिः । हासमाने । पद्भिः । सहम् । डिता । दाः । वराहः । ईवसराणि ।
शर्णः । अर्कः । पविः । वक्षः । धन्व । सिनम् । इत्या । सधा । चित् । आ ।
चुम्नम् । पवित्रम् । तोदः । ईवत्याः । गिपिविष्टः । गिर्णः । आधूणि । पृष्ठुज्ञयाः ।
अथयूम् । काणुका । अधिगुः । आङ्गृपः । आपान्तमन्तु । इमशा । उर्वशी ।
षयुतम् । वाजपस्त्यम् । वाजगन्धयम् । यद्यम् । गधिता । कौरयाण ।
तीरयाण । अह्याण । हस्याण । आरितः । स्नन्दी । निष्पयी । तूर्णशिम् ।
धुम्नम् । निष्पुम्नु । पदिम् । पादुः । वृक । जोपवाक्म् । कृति । शवद्धी ।
समस्य । कुटस्य । चर्णिः । दाम्बः । केषयः । तूतुमा कृपे । अत्रम् । आतुदम् ।
धीरिटे । अच्छ परि । ईम् । सीम् । एनम् । एनाम् । सृणिः । इति षतुरुत्त-
रम् अशीढिः पदानि ॥ २ ॥

आशुशुक्षणिः । आपाभ्य । कासिः । कुणारम् । अलातृणः । सललूकम् ।
कृत्पयम् । विश्वृहः । वीर्यम् । नषदाभम् । अस्तुषोषुः । निश्चम्भाः । वृद्धदुव्यम् ।
अद्वृदरः । अद्वृपे । पूजुवामः । असिन्यती । उपना । भास्त्रजीवः । रजानाः ।
जूणिः । ओमना । उपलप्रतिणी । उपसि । प्रकल्पित् । अभ्यर्थ्यज्ञवा । ईक्षे ।
सोणस्य । अस्मे । पाचः । सबीमनि । सप्रथाः । विद्यानि । आयन्तः । आशीः

१. चतुर्थोऽयगनानि श्रीगि सण्डानि निरुक्ते क्रमशः तुर्थप्रश्नमष्टाव्यादेतु
स्यार्थ्यानानि ।

अजीगः । अमूरः । दशमातः । देवो देवान्या कृपा । विजामातुः । ओमामः ।
 सोमानम् । अनवायम् । किमीदिने । अमवान् । अमोवा । दुर्वितम् । अष्टा ।
 अमत्ति । श्रुती । पुरणिः । रक्षत् । रिक्षादसः । सुरथः । सुविद्धः । आनुपक् ।
 सुर्वाणि । गिरंगसे । अमूर्ते सूते । अम्यक् । यादृश्मन् । जारयायि । अप्रिया ।
 चनः । पचता । शुरुप् । अमिनः । जज्ञतीः । अप्रतिष्ठुतः । शाशदानः । सृष्टः ।
 सुशिप्रः । फ्रें । रसु । द्विरह्यः । 'अक्र । उराणः । स्तियानाम् । स्तिषाः ।
 जवाह । जरुथम् । कुलिशः । तुञ्जः । वर्हणा । तरनुष्टिम् । इलीविशः ।
 श्रियेषाः । भूमिः । विधितः । तुरीयम् । रास्तिवः । अहज्जन्ति । अहजुनीती ।
 प्रतदृग् । हिनोत । चोष्कूयमान् । चोष्कूयते । सुप्रत् । दिविष्टिपु । दूतः ।
 जिन्वति । अमत्रः । अहसीयमः । अनर्जुरातिम् । अनर्वा । असामि । गन्दया ।
 जल्दवः । घकुरः । वेहनादान् । अभिधेतन । अंदुरः । चत । वातोप्यम् ।
 षाठन् । रथयंति । अमकाम् । आधवः । अनवश्ववः । सदान्वे । शिरिम्बिठ ।
 पराशरः । क्रिविदंती । करुद्धती । दनः । याराहः । इदयुः । 'दीवटेपु । कुम्द ।
 शैदम् । शिः । उत्तम् । अहसीतम् । इति नयद्विद्वच्छत्तानि पदानि ॥ ३ ॥

पूर्णस्थ्या—२७९

— — —

पञ्चमोऽध्यायः

अग्निं । जातवेदा । विश्वानरं । इति त्रीणि पदानि ॥ १ ॥ (निः० ७)

द्विषोदा । इधम् । तेनूनपात । नराद्यस । च्छ । वहि । द्वा ।
उपासानता । देव्या होतारा । तिस्रो देवी । त्वष्टा । वनस्पति । स्वाहाकृतय ।
इति त्रयोदा पदानि ॥ २ ॥ (निः० ८)

अश्व । शकुनि । मण्डूका । अक्षा । ग्रावाण । नाराशस । रथ ।
दुदभि । इयुषि । हस्तधन । अभ्राद्यव । घनु । ज्या । इयु । अश्वाजनी ।
उलूखलम् । घृष्म । इष्ण । पितु । नद । आप । औषधय । राति ।
अरण्यानी । अदा । पृथिवी । अस्वा । अग्नायी । उलूखलमुसले । हविषनि ।
चावापृथिवी । विपाटदुरुद्रो । आर्ची । शुनासीरी । देवी जोट्टी । देवी अर्जांडूरी ।
इति पठत्रिशत् पदानि ॥ ३ ॥ (निः० ९)

वायु । वृण । रुद्र । इद्र । पजय । बृहस्पति । ब्रह्मणस्पति ।
धन्त्रस्य पति । वास्तोष्ट्रति । वाचस्पति । अपा नपात । यम । मित्र ।
क । सरस्वान् । विश्वरूपी । ठाण्य । मृयु । दधिका । सविता । त्वष्टा ।
वात । अग्निं । वेन । असुनीति । ऋत । इदु । प्रजापति । अहि ।
अहितु एष । मुषण । पुरुषवा । इति द्वात्रिशत् पदानि ॥ ४ ॥ (निः० १०)

श्येत । सोम । चाद्रमा । मृत्यु । विश्वानर । घाता । विषाता ।
महत । रुद्रा । अद्यम । अङ्गिरस । पित॒र । अथवाण । भूग्रव । आद्या ।
अदिति । सरमा । सरस्वती । वाक । अनुमति । राक्षा । सिनीवाली । कुहू ।
यमी । उवशी । पृथिवी । इद्राणी । गोरी । गो । घनु । अद्या । पर्या ।
द्वस्ति । उपा । इळा । रोदसी । इति पठत्रिशत् पदानि ॥ ५ ॥ (निः० ११)

अस्विनी । उपा । सूर्या । वयाकपायी । सरण्यू । त्वष्टा । सविता ।
भग । सूर्य । पूरा । विष्णु । विश्वानर । वृण । केदी । केविन । वृयाकपि ।
यम । अज एकपात । पृथिवी । समुद्र । अष्वर्ण । ननु । दध्यहू । आदित्य ।
सप्तऋषय । देवा । विश्वेदेवा । साध्या । वस्व । वाजिन । देवपृथ्य२ ।
इति एवत्रिशत् पदानि ॥ ६ ॥ (निः० १२)

॥ भी ॥

हिन्दी-निरुक्त

प्रथम अध्याय

प्रथम-पाद

३ समान्नाय समान्नात् । स व्याख्यातव्य । तमिम समान्नाय निवण्टव इत्याचक्षने । निधण्टव कस्मात् ? निगमा इम भवन्ति—छन्दोभ्य समाहृत्य समाहृत्य समान्नाता । त निगत्व एव सन्तो निगमनात् निवण्टव उच्यन्ते इत्योपमन्त्यव । अपि वा, आहननादेव स्यु । समाहृता भवन्ति । यद्वा, समाहृता भवन्ति ॥

[शब्दा का] समान्नाय (सप्त ह सरलन) सकलिन हुआ जिसकी व्याख्या करनी चाहिये । इस सप्तह को [कुउ लोग] निधण्टु कहते हैं । 'निधण्टु' कैसे [कहलाया] ? ये [शब्द] वय बतलानेवाले (निगतु) हैं—वेदो से चूत चुनवर जमा किय गये हैं । य अप बतलानेवाले (निगतु) ही बनकर व्युत्तरति (निगमन) से 'निधण्टु' वहस्य—यह औपनायव का विचार है । अपवा, आ + √हृ (विमाजित करना) से बना है वयोऽि [सभी शब्द] समाहन (साथ साथ कह गये या विमाजित किये हुये) है । अपवा जमा किये जाने (सभी आ √हृ) के कारण [इह निधण्टु कहत हैं] ॥

विशेष—समान्नाय = निधण्टु के पौचा व्याख्याय जिनम वैदिक ग्रन्थ सरलिते हैं । किसी ग्रन्थ की व्युत्तरतिदेने के समय यास्त्र प्राय कहमात् का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ है विस धान्तु से और वर्णों ? 'निधण्टु' ग्रन्थ की व्युत्तरति तीन तरह से करते हैं—(१) नि √गम् > निगमयितृ (निगतु) > निगन्तु >

निष्ठु = अर्थं बतलानेवाला । (२) सम् आ॑ √हन् > समाहन्॒त्र > समाहन्॒तु >
निष्ठु = जमा किया हुआ । (३) सम् आ॑ √ह > समाहत्॒ > समाहत्॒ >
निष्ठु = चुना हुआ । दुर्गचार्य ने अपनी ध्यारुण में व्युत्पत्ति की इत तीन
अवस्थाओं को ऋमण प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति कहा है ।
प्रत्यक्षवृत्ति की अवस्था में धातु स्पष्ट रहता है जैसे—निगमित्; परोक्षवृत्ति
की अवस्था में वह सामान्य-प्रयोग से अलग हो जाता है जैसे—निगम्तु; अति-
परोक्षवृत्ति की अवस्था में धातु का पता ही नहीं लगता जैसे—निष्ठु ।
'चन्दोभ्यः' का प्रयोग बतलाता है कि निष्ठक में केवल धैदिक-शब्दों की
ध्यारुण हुई है ॥

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपा-
ताश्च, तानोमानि भवन्ति—तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षण प्रदिशन्ति—
भावप्रधानमाख्यातम्; सत्त्वप्रधानानि नामानि । तद्यत्र उभे, भाव-
प्रधाने भवते । पूर्वापरोभूत भावमाख्यातेनाचष्टे, द्रजति पचती-
त्युपक्रमप्रभूति अपवर्गपर्यन्तम् । मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः, द्रज्या
पक्षिरिति । अद. इति सत्त्वानामुपदेश । गौरश्च. पुरुषो हस्तीति,
भवतीति भावस्य, आस्ते शेते द्रजति तिष्ठति इति ॥ इन्द्रियनित्यं
चचनमौदुम्बरायण ॥ १ ॥

पद के जो धार भेद—नाम और आख्यात, उपसर्ग और निपात—हैं वे
इस प्रकार हैं—पहले नाम और आख्यात के लक्षण वहते हैं—जिनमें भाव
(किया) प्रधान हो वह आख्यात तथा जिनमें सत्त्व (सिद्ध किया) प्रधान
हो वे नाम हैं । जब [विसी वाच्य में] दोनों मिलते हैं, तब भाव की
प्रधानता मानी जाती है । पूर्वापर के ऋम से होनेवाले भाव को आख्यात
नाम से पुकारते हैं जैसे चलता है, एकाता है, जिनमें आरम्भ से लेकर अन्त
तक का [कथन] है । ठोस अर्थात् सिद्ध किया (सत्त्व) के रूप में परिणत
[भाव] को सत्त्व नाम से [पुकारते हैं] जैसे धन्या (गमन) पति
(पाक) । 'अद.' (वह) से वस्तुओं का (या सिद्ध किया का) सामान्य
गिरेंश होता है । [विदेषत ची] यो, अश्व, पुरुष, हस्ती भाव का [निर्देश]—
होता है; है, सोहा है, चलता है, बैठता है । भीदुम्बरायण के मत से शब्द
की सत्ता इन्द्रियों तक ही है ।

विशेष—यास्क शब्दों के चार ही भेद स्वीकार करते हैं। इन भेदों का उल्लेख पहले-पहल निष्ठा में हो दुआ है। पाणिनीय-व्याकरण ने भी इन्हे स्वीकार कर लिया है। ‘भाव’ का अर्थ है क्रिया, जैसे—पढ़ना; ‘सत्त्व’ का अर्थ है पूरी की गई क्रिया, पाठ। पाणिनि का सिद्धावस्थापन भाव ही सत्त्व है किन्तु वह ठोम रूप में परिणत हो जाय। यह स्मरणीय है कि दोनों ही व्यवस्थाओं में—चाहे आश्यात हो या नाम—आरम्भ से लेकर अन्त तक होनेवाली क्रिया की व्यवस्था होनी है जैसे ‘क्रत्वति’ (जाता है) में पैर बढ़ाना, हाथ फैलाना आदि से लेकर लक्ष्य तक पहुँचने तक का सप्रह होता है। किन्तु जब ये ही क्रियायें मूत्र रूप ग्रहण कर लेती हैं, सिद्ध हो जाती है, एकाकार हो जाती है तब नाम कहलाती है जैसे—पाठ, लेख, गमन आदि। साधारणतया इन्हें ही लोग भाव कहते हैं। वस्तुओं को सामान्य रूप से हप ‘वह’ कह देने हैं, किन्तु इनके विद्येय उदाहरण हैं—यो आदि। इसी तरह ‘भाव’ को भी सामान्य रूप से कह देते हैं कि—होता है। किन्तु विद्येय उदाहरण तो ‘आहौ, होते’ आदि हैं। अनित्य वाचक के लिये आगे देखें ॥ १ ॥

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते । अयुगपदुत्पन्नाना वा शब्दानामि-
तरेतरोपदेश । शास्त्रकृतो योगश्च । व्याप्तिमत्वात् शब्दस्य ।
अणीयस्त्वाच शब्देन सज्ञाकरण व्यवहारार्थं लोके । तेषां मनुष्य-
चद् देवताभिधानम् । पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ॥

इस प्रकार में चारों (पद-भेद) असिद्ध हो जाते हैं, एक साथ उत्पन्न न होनेवाले शब्दों का परस्पर सम्बन्ध [भी असिद्ध हो जाता है ।] व्याकरण में कहा गया प्रकृति और प्रत्यय का स्थोग [भी असिद्ध हो जाता है ।] किन्तु शब्द व्यापक होने के साथ-साथ सरलतर है इसलिए शब्द से ही [वस्तुओं का] नामकरण लोक में व्यवहार के लिये होता है। इनके अर्थ मनुष्यों के समान ही देवताओं के लिए नहीं हैं। पुरुषों के ज्ञान के अनित्य होने के कारण कर्म का फल बतलानेवाले मन्त्र वेद में हैं ॥

विशेष—ओटुम्बदरायण का मत है—शब्द अनित्य हैं वयोंकि ये इन्द्रियों से निष्पन्न होते हैं। चूंकि सभी दार्शनिक इन्द्रियों को अनित्य मानते हैं इसलिए उनपर आश्रित शब्द भी अनित्य ही होगे । तब तो उपर्युक्त चारों पद-भेद व्येकार ही हो जायेंगे, अनित्य शब्दों का भेद करना अर्थ है । फिर कई शब्दों का मैल नहीं हो सकता वयोंकि ये भिन्न-भिन्न समयों पर उत्पन्न होते हैं तथा

नष्ट हो जाते हैं। प्रहृति और प्रत्यय भी अनित्य है, इसलिए इनका व्याकरण में लिखा हुआ संयोग भी नहीं होगा। किन्तु शब्दों और वर्णों की पृथक् सत्ता वक्ता और ओता दोनों के मन में रहती है, शब्द के मुनने पर वही अर्थ जागृत हो जाता है, भले ही उस समय तक शब्द की सत्ता न रहे। यही सिद्धान्त 'स्फोट' कहलाता है जिसके अनुसार शब्द नित्य है (विशेष विवरण के लिए देखें—सर्वदर्शन-सग्रह में पाणिनि दर्शन)।—अर्थात् शब्द व्यापक है। शब्द के बल वस्तुओं के प्रतीक हैं जो लोकिक व्यवहार के लिए दिये गये हैं कि वस्तुओं का बोध हो सके। देवता की भाषा भी मनुष्यों के समान ही है। जिस वस्तु के लिए जो संकेत दिया जाता है वह मनुष्यों और देवताओं दोनों के लिए है। जब देवता मनुष्यों की भाषा समझते ही हैं तो उनकी स्तुति किसी शब्द से कर सकते हैं? नहीं, फल देनेवाले स्तोत्र या मन्त्र वेदों से ही हैं—उनसे ही स्तुति करने पर फल प्राप्त हो सकता है क्योंकि मानवीय ज्ञान नित्य नहीं है।

पङ् भावविकारा भवन्तोति वार्यायणि । जायतेऽस्ति विपरि-
णमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति । जायते इति पूर्वभावस्यादि-
माच्छ्टे । नापरभावमाच्छ्टे—न प्रतिपेघति । अस्तीत्युत्पन्नस्य
सत्त्वस्यावधारणम् । विपरिणमते इत्यप्रच्यवमानस्य तस्वाद्विकारम् ।
वर्धते इति स्वाज्ञाम्युच्यम् । सायौगिकाना वाऽर्थनाम् । वर्धते
विजयेनेति वा, शरीरेणेति वा । अपक्षीयते इति एतेनैव
व्यारथात् प्रतिलोमम् । विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाच्छ्टे । न
पूर्वभावमाच्छ्टे, न प्रतिपेघति ॥ २ ॥

वार्यायणि का मत है कि क्रिया के छ रूप हैं—जन्म लेना, होना,
बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना। (१) 'जन्म' से पूर्व क्रिया (जन्म)
का बोध होता है, आगेवाली क्रिया (=अस्ति) का नहीं, फिर [आगेवाली
क्रिया से] उसे कोई विरोध भी नहीं। (२) 'होना' से उत्पन्न वस्तु
की सत्ता मायूम होती है। (३) 'बदलना' से अपनी प्रहृति न छोड़नेवाली
वस्तु के परिवर्तन का बोध होना है। (४) 'बढ़ना' से अपने अगो (जैसे
हाथ, पैर) या सृषुक्त वर्षों (जैसे स्वर्ण, धान्य) की वृद्धि का बोध होता
है जैसे—विजय से बढ़ता है, चरीर से बढ़ता है। (५) 'घटना' की

व्याख्या तो इसी से हो गई, वह इसका उल्टा है। (६) 'नाम' से आगे आनेवाली (अन्तिम) क्रिया (नाम) के आरम्भ का बोध होता है, पूर्व क्रिया (घटना) का नहीं, किन्तु उस [पूर्व क्रिया] का विरोध भी नहीं होता ॥ २ ॥

विशेष—क्रियाओं की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं किन्तु उपर्युक्त छः अवस्थाओं में ही सबों का अन्तर्भुक्त हो जाता है। पूर्वमाव=दो क्रियाओं के सम्बन्ध दिखलाने पर जो क्रिया पहली हो, जैसे—जापते और अस्ति के सम्बन्ध के समय—'जायने' पूर्वमाव है और 'अस्ति' अपर-भाव। पुन अपश्य और विनाश के सम्बन्ध में 'अपश्य' पूर्वमाव है, 'विनाश' अपर भाव। पहली क्रिया पूर्वमाव और दूसरी अपर-भाव कही जानी है ॥ २ ॥

अतोऽन्ये भावविकारा एतेपामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह। ते यथावचनमन्यूहितव्या । न निर्वद्वा उपसर्ग अर्थात्प्रिराहु-रिति शाकटायन । नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति । उच्चावचा पदार्थ भवन्तीति गार्य । तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तन्नामाख्यातयोर्त्यविकरणम् । १

इनके अलावे क्रिया को जो भी अवस्थाएँ हैं वे इही के रूप हैं—ऐसा कहा गया है। ये वाक्य के अनुमार स्वेच्छा लिये जायें। शाकटायन का भत है कि [नाम-आख्यात में] अलग होने पर उपसर्ग अर्थ का निश्चय नहीं कर सकते। सेकिन नाम और आख्यात का [अर्थ] अर्थ से संयोग बहुत कठोर है। गार्य का भत है कि इन पदों (उपसर्गों) के बहुत तरह के अर्थ हैं। तद इनमें जो 'अर्थ का होना' कहा गया है वह नाम और आख्यात के अर्थों का परिवर्तन साप्त है।

विशेष—वचन=वाक्य। निश्चल में 'कर्म' का मतलब प्राय 'अर्थ' होता है। कर्मोपसयोग=नये अर्थ से सम्बन्ध; सज्ञा और क्रियाओं में उपसर्गों के योग से नये अर्थ का कागमन होता है, यह परिवर्तन शब्द में ही होता है उपसर्ग में नहीं। उपसर्ग यह खोतिन बरते हैं कि ऐसा परिवर्तन हुआ है—वे अर्थ के वाचक नहीं। कहा भी है—

उपसर्गं धात्र्यो वलादन्यत नीयते । २

प्रहाराहारसहारविहारपरिहारवत् ॥

उपसर्गों के दोनोंक्तव्य-पक्ष के बिवेचन के लिये, महामाख्य देखें—'उपसर्गों क्रियायोगे' सूत्र पर (मूर्मिका देखें)। आगे जो उपसर्गों के अर्थ 'कहे जायेंगे' उनका

मतलव यही है कि संज्ञा और क्रियाओं का वैसा ही अर्थ परिवर्तित होगा । गार्य का मत है कि पद होने के कारण उपसर्गों का अर्थ अवश्य है ॥

आ इत्यवर्गार्थः । प्र परा इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अभीत्याभिमुख्यम् । प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अतिसु इत्यभिपूजितार्थः । निर्दुर्लित्येतयोः प्रातिलोम्यम् । नि अव इति विनिग्रहार्थीयौ । उत् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम् । समित्येकीभावम् । वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अनु इति सावश्यापरभावम् । अपीति संसर्गम् । उप इत्युपजनम् । परीति सर्वतोभावम् । अधीत्युपरिभावम् । ऐश्वर्यं वा । एवमुच्चावचानर्थन् प्राहुः । ते उपेक्षितव्याः ॥ ३ ॥

अ—'इष्टर' के अर्थ में; प्र, परा—इसका उलटा ('उघर'); अभि—सामने; प्रति—इसका उलटा ('उलटे'); अति, सु—आदर के अर्थ में; तिरु, दुरु—इसका उलटा ('निरादर'); दि, अव—'नोचे' के अर्थ में, उत्—इसका उलटा ('ऊपर'); सम्—एक साथ; वि, अप—इसका उलटा ('अलग'); अनु 'समान' और 'वीछे होना', अपि—संसर्ग; उप—समीप; परि—खारो और; अधि—'ऊपर होना' या सबसे ऊचा । इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ बतलाते हैं । उनपर ध्यान देना चाहिये ॥ ३ ॥

विशेष—उपेक्षितव्याऽहमेष जाकर देखना चाहिये । आद मे इसका अर्थ तिरस्कार हो गया है । परम्पुरा निरुक्त मे यह पुराने अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । आखो के अस्यन्त निकट रहने से अनादर होता ही है, इस प्रकार यह अर्थ आया । (देखें—Poona Orientalist के जनवरी ४९ का अङ्क, सत्यशतमी का लेख—Semantics in Sanskrit.) ॥ ३ ॥

द्वितीय-पाद

अथ निषाता । उच्चावचेष्वर्येषु निपतन्ति । अन्युपमार्थः । अपि कर्मोपसग्रहार्थः । अपि पदपूरणा । तेयाभेते चत्वार उपमार्थं भवन्ति ।

अथ निषातों का [चर्णन होगा] । ये विभिन्न अर्थों मे आते हैं । कुछ तो उपमा के अर्थ मे हैं, कुछ स्योजक (Conjunction) के अर्थ मे और कुछ देवत पद पूरा करनेवाले हैं । इनमें ये चार (निषात) उपमा के अर्थ मे आते हैं ।

विशेष—निपातो (Particles) के तीन खंड हुए—(१) उपमार्थक (२) कर्मोपसंग्रहार्थक (३) पदपूरणार्थक । अभी चार उपमार्थक निपातो का उदाहरण दिया जा रहा है । यिछले दोनों का उदाहरण इसके बाद देंगे ।

इवेति भाषायां चान्वध्यार्थं च । 'अस्मिरिव' । 'इन्द्र इव' इति । नेति प्रतिपेधार्थीयो भाषायाम् । उभयमन्वध्यायम् । 'नेन्द्रं देवममंसत' इति प्रतिपेवार्थीय । पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिपेधति । 'दुर्मदासो न सुरायाम्' इत्युपमार्थीय । उपरिटादुपचारस्तस्य येन उपमिमीते ।

(१) इव—माणा (सकृत) और वेद दोनों में [यह उपमार्थक है] जैसे—अग्नि-सा (अ० १०।८४।२), इन्द्र-सा (अ० १०।१७।३।२) । (२) न—भाषा में निपेषार्थक, किन्तु वेद में दोनों (निपेष + उपमा) है—(अ) इन्द्र देव को नहीं माना (अ० १०।८६।१)—यही निपेषार्थक है; जब निपेष करता है तब इसका प्रयोग पहले होता है । (आ) शराव यिषे नतवालों के समान (अ० ८।२।१२)—यही उपमार्थक है; जिससे उपमा दी जाती है (वाचक) उसका प्रयोग बाद में होता है ।

विशेष—शब्दध्याय = स्वाध्याय की पुस्तक (वेद) में । जब 'न' का अर्थ उपमा होता है तब शब्द के बाद रखा जाता है जैसे—मृगो न, इन्द्रो न । किन्तु जब निपेष करता है तब शब्द के पहले रखा जाता है जैसे—न मृग., न जायते ।

चिदित्येषोऽनेककर्मा । 'आचार्यश्चिदिदं व्रूयात्' इति पूजायाम् । आचार्यं आचारं ग्राहयति । आचिनोति अर्थात् । आचिनोति वुद्धिमिति वा । 'दविचित्' इत्युपमार्थं । 'कुलमापश्चिदाहर' इत्यवकुत्सिते । कुलमापा. कुलेषु सीदन्ति ॥ 'नु' इत्येषोऽनेककर्मा । 'इदं नु करिष्यति' इति हेत्यपदेशे । 'कथ नु करिष्यति' इत्यनुपूर्ज्ञे । 'नन्वेतदकार्यत्' इति च । अयाप्युपमार्थं भवति । 'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत ! वया.' । वृक्षस्य इव ते पुरुहूत ! शाखा. । वया. शाखाः वेते. । वातायना. भवन्ति । शाखा खशया. । शक्नोतेवर्दि ॥

(३) **चित्**—इसके अनेक अर्थ है—'भान्य आचारं युह बोले'—यही सम्मान का अर्थ है । आचारं आचार (परम्परागत उपदेश) प्रदृश कराता है,

घर्यों का चयन करता है या बुद्धि का चयन करता है (क्रमशः बढ़ाता है)। 'दही-सा'—यही उपमार्थक है। 'बुलयियो (एक अन्न) को लाओ'—यही निन्दार्थक है। 'कुलमाप कुलो मे नष्ट होते हैं । (४) नु—इसके अनेक अर्थ हैं। 'वयोऽकि इसे करेगा'—यही वारण देने के लिए है। 'कैसे करेगा ?'-यहाँ दुबारा पूछने के अर्थ में है। 'चूंकि यह तो किया ही होगा !'—यह भी उसी अर्थ में। यह (नु) उपमा के अर्थ में भी होना है जैसे—'हे बहुत प्रकार से वृत्ताये गये (इन्द्र), तुम्हारी शाखायें वृक्ष सी हैं (अ० ६।२४।३) ।' वया √शाखायें, √वा (बहना) से। ये हवा के पर हैं। शाखा = आकाश (वा) मे शयन करने वाली, अथवा √शब्द से।

विशेष—यास्क निर्वचन के अस्त्रित प्रेमी हैं। निपानो के उदाहरण में आनेवाले शब्दों को भी नहीं छोड़ते। उनका निर्वचन (शुत्रतत्त्व से वय का पता लगाना etymology) करना ही चाहिए। आचार्य शब्द या तो √चट से या √चि से बना है। यास्क को विचार-शूलका पर भी व्याप्ति है—नु के उदाहरणवाली शूला मे 'वया' शब्द भाषा है, उसका प्रतिशब्द दिया 'शाखा'। अब शाखा का निर्वचन करना आवश्यक हो गया। 'शाखा' वर्ण-विपर्यय (Metathesis) का फल हो सकता है, वा (आकाश) मे शयन करने वाला—√शी। √शब्द से शब्द बनकर 'शाखा' हुआ हो। इस प्रकार के विवरणात्मक यास्क मे बहुत है जिन्हें व अपने निर्वचन-प्रेम का प्रदर्शन करने के लिए लाये हैं।

'अय यस्य आगमात् अर्थपूयवत्त्वम् अह विजायते, न तु
औदेशिकमिव, विग्रहेण पूयवत्त्वात्, स कर्मोपसग्रहः ।'

अर्थ समोजन (कर्मोपसग्रह conjunction) उसे कहते हैं, जिसके आगमन से वस्तुओं का अलग-अलग होना निश्चित रूप से मात्रम हो, किन्तु यह (पार्थक्य) सामान्य-गणना के समान [स्पष्ट नहीं रहता], बल्कि [समाप्त के पदों को] अलग-अलग करन पर ही पृष्ठक् मात्रम्। पढ़ता है।

विशेष—कर्मोपसग्रह निपानो का दूसरा भेद है—वा इत्यादि। दुर्गाचाय वा नवन है कि समाप्त के विघ्न-मिथ पदों मे जिससे पार्थक्य मात्रम हो, यह पार्थक्य स्पष्ट रूप से वहा नहीं गया हो किन्तु विग्रह करन पर अलग मात्रम हो—वही कर्मोपसग्रह है। आ० गुणे कहते हैं कि चूंकि निपानों के तीन ही भेद हैं इसलिए कर्मोपसग्रह में वे सभी निपान आ जाते हैं।

जो उपमाधंक या पदपूरण नहीं है। इसलिए वे 'अथंपृथ्वत्व' का अर्थ करते हैं—
तथ ह तथ ह के अर्थ (a variety of senses), किन्तु वस्तुओं की साधारण
गणना के समान नहीं। उनमें प्रत्येक का बलग बलग उत्सेल हुआ है। 'न तु०
पृथ्वत्वत्' की भवति दैठाना कठिन है। सम्भवत् यही अर्थ है कि किसी समास
में वस्तुओं का पार्थक्य औद्देशिक (उद्दिष्ट) रहता है वस्तुतः कहा नहीं जाता।
हो सकता है प्राचीन पाण्डुलिपि में यह अश मूल के बगल में किसी अध्यापक
द्वारा लिख दिया गया हो जिसे लेखक ने मूल ही समझकर जोड़ दिया हो—
यदोकि कर्मोपसरह की परिभाषा तो पहले वाक्य में ही पूरी हो जाती है।

'च' इति समुच्चयार्थं। उभाभ्या संप्रयुज्यते। 'अह च त्व
च वृत्रहन्' इति। एतस्मिन्देवाथे 'दिवेभ्यश्च पितृभ्ये आ' इति
आकार। 'वा' इति विचारणार्थं। 'हन्ताहं पृथिवीमिमा निद-
धानीह वेह वा' इति। अथापि समुच्चयार्थं भवति ॥ ४ ॥

(१) च—जोड़ने के अर्थ में दोनों शब्दों के बाद में प्रयुक्त होता है।
जैसे—हे दूत को मारनेवाले । तुम और मैं—(अ० ३।६।२।१।) । (२) आ-
इसी (जोड़ने के) अर्थ में जैसे—देवानाओं और पितृओं के लिए (अ० १।०।
१।६।१।) । (३) वा—सन्देह के अर्थ में जैसे—कहाँ रखूँ मही को मैं, यहाँ पर
या वहाँ इसे ? (अ० १।०।१।१।९।) । यह जोड़ने के अर्थ में भी होता है
जैसे—॥ ४ ॥

'वायुर्वा त्वा भनुर्वा त्वा' इति। 'अह' इति च, 'ह' इति च,—
विनिग्रहार्थीयौ, पूर्वेण सप्रयुज्येते। 'अयम् अह इद करोतु, अयमि-
दम्'। 'इद ह करिष्यति, इद न करिष्यति' इति। अथापि उकार.
एतस्मिन् एवार्थं उत्तरेण। 'मृषा इमे वदन्ति, सत्यम् उ ते
वदन्ति' इति। अथापि पदपूरण। 'इदमु', 'तदु' इति।

तुम्ह वायु या मनु—(मंत्रा० ता० १।१।१।१।) । (५६) एकावट के अर्थं
बाले 'अह' और 'ह' पहले [शब्द] के बाद प्रयुक्त होते हैं जैसे—एक इसे हो
करे, एक उस करे। इसे करेगा, उसे नहीं। (६) उ-इसी अर्थ में अन्तिम
[शब्द] के बाद प्रयुक्त होता है। जैसे—य मूरु बोलत हैं वे सच। यह पद-
पूरण भी है जैसे—यह, वह ।

'हि' इत्येवोऽनेककर्मा । 'इद हि करिष्यति' इति हेत्वपदेते । 'कथ हि करिष्यति' इति अनुपृष्ठे । 'कथ हि व्याकरिष्यति' इति अमूर्यायाम् । 'किल' इति विद्याप्रकर्ये । 'एव किल' इति । अयापि 'न' 'ननु' इत्येताभ्या सप्रयुज्यते अनुपृष्ठे । 'न किलैवम्', 'ननु किल एवम्' । 'मा' इति प्रतिपेदे । 'मा कार्पी' । 'मा हार्पी' इति च । 'सलु' इति च । "सलु कृत्वा" । 'सलु कृतम्' । अयापि पदपूरण । 'एव सलु तद्भूत' इति ।

(७) हि—इसके अनेक अर्थ हैं । कारण देने में, जैसे—क्योंकि इसे करेगा । दुवारा पूछते से जैसे—ईमें करेगा ? ईद्दा में, जैसे—ईमें करेगा ? (८) किल—निश्चय करने के लिय, जैस—ऐसा ही । यह 'न' और 'ननु' के बाद प्रयुक्त होने से प्रायः निश्चय हो जाता है । जैसे—इसा मही ? (९) मा—निष्पत ए लिए, जैसे—मन करो, मन हरो । (१०) सलु—इसी अर्थ में, जैस—म करन, नहीं किया । यह कभी कभी पदपूरण भी (निरपेक्ष, वैवल पद की पूति ए लिए) होता है जैसे—इह ऐसा हुआ ।

'शब्दै' इनि विचित्रिन्मार्यो भाषायाम् । 'शब्दै एवम्' इति अनुपृष्ठे । 'एव शब्दै इनि अव्ययपृष्ठे । 'नूनम्' इनि विचित्रिन्मार्यो भाषायाम् । उभयम् अन्यध्यायम् । विचित्रिन्मार्योपश्च पदपूरणम् ॥ अगम्य इन्द्राय हविनिराय मात्स्त्रूपः भग्नदिन्मानसान् । न इद्द एत्य परिदेवयानन्ते ॥ ५ ॥

कई जगह हैं। इसका शाविदक अर्थ होगा—देने की इच्छा की। परिदेवयचक्रे—
शिवायत की। तुल० गीता—उत्र का परिदेवना (रा२८) ॥ ५ ॥

तृतीय-पाद

न नूनमस्ति नो श्व., कस्तद्वेद यदद्भूतम् ।
अन्यस्य चित्तमभिसचरेष्यम्, उताधीतं विनश्यति ॥

(न) न तो (नूनम्) आज (अस्ति) है, (न) और न (श्वः)
कल ही होगा; (यद्) जो (अद्भूतम्) नहीं हुआ है, (तत्) उसे (कः)
कीन (वेद) जानता है? (अन्यस्य) दूसरे का (चित्तम्) मन (अभि-
सचरेष्यम्) अत्यन्त खलायमान है, जिससे (अधीतम्) सुनिश्चित वस्तु
(उत्) भी (विनश्यति) समाप्त हो जाती है=उसे भूल जाते हैं
(अ० ११७०।१) ।

चिशेप—इस अहवा में दो छन्दो का मेल है—प्रथम, द्वितीय और
अन्यरूप चरणों में अनुष्टुप् (= अक्षर), इन्तु तृतीय चरण में जगती (११ अक्षर)
है। प्रथम चरण के 'श्वः' को छन्द के लिए 'शुश्र.' पढ़ना होगा। 'नूनम्'
का सम्बन्ध आधुनिक विद्वान् 'तु' (Now) से मानते हैं, यद्यपि याहक 'नूनम्'
अद्यतनम् (आज) कहते हैं।

न नूनमस्ति अद्यतनम् । नो एव श्वस्तनम् । अद्य=अस्मिन्
द्यवि । 'तु' इत्यहो नामधेयम् । द्योतते इति सतः । श्व. उपा-
शांसनीय. काल. । ह्य. हीन. काल. । कस्तद्वेद यदद्भूतम्=क. तद्
वेद, यद् अभूतम्? इदमपि इतरत् 'अद्भूतम्' अभूतमिव । अन्यस्य
चित्तम् अभिसचरेष्यम्=अभिसचारि । अन्य.=नानेय. । चित्त
चेतते: । उताधीतं विनश्यति इति=अपि आध्यातं विनश्यति ।
आध्यातम्=अभिप्रेतम् ॥ अयापि पदपूरण. ॥ ६ ॥

न नूनमस्ति=(न) आज (है), न (आगामी) कल ही । अद्य=
इस दिन मे । 'तु' दिन का पर्याय है और √द्युत् (चमकना) से बना है ।
श्वः=आशा करने पर्याय भव्य (√श्व) । ह्यः=हीन (बीता हुआ)
समय । कः तद्वेद यदद्भूतम्=जो अभूत (वस्तु) है उसे कौन जाने ? यह

द्वासरा 'अङ्गूत' (विचित्र) भी अमूर्त (नहीं हुआ) के ही समान है। द्वासरे का मन अभिसचरण=चलायमान है। अ+य=न लाने योग्य (√नी)। 'चित्' √चित् (जानना) से। उत अधीत विनश्यति = ध्यान की गई (वस्तु) भी नष्ट हो जाती है। ध्यान की गई = इच्छा की गई। ['नूनम्' कभी-कभी] पदपूरण भी होता है जैसे—॥ ६ ॥

विशेष—उपर्युक्त इच्छा की व्याख्या यास्क ने की है जिसमें प्रधान लक्ष्य निवंचन (प्रकृति बतलाकर अर्थं निकालना) है। अङ्गूत—अ + √भू = नहीं हुआ है। इसके बाद अङ्गूत के तत्त्वालीन अर्थं पर भी विचार करते हैं— 'विचित्र' अर्थात् अङ्गूत भी अमूर्त (अपूर्व) ही है। किमी अपूर्व वस्तु को ही विचित्र कहते हैं। अर्थविज्ञान (Semantics) की दृष्टि से इन पक्षियों पर ध्यान दें। अभिसचरण—√चर + वैदिक प्रत्यय में य (पा० ३।४।४)। 'सचरणीय' समृद्ध रूप है।

नून सा ते प्रति वर जरिये, दुहोयदिन्द्र दक्षिणा मवोनी ।

शिक्षा स्तातुभ्यो माति धम्भगो ना, वृहद्वदेम विदये सुवीरा ॥

(इन्द्र) है इन्द्र ! (नूनम्) अभी (ते) तुम्हारा (सा) यह (मघोनी) उत्तम (दक्षिणा) पुरस्कार (जरिये) गायक को (वर) वरदान (प्रति दुहोयत्) प्रदान करे, दोहन करे। (स्तोतृभ्यः) स्तुति वरनेवालों के लिए (विद्य) लाभप्रद बनो, (भग) भग्य (नः) हमसे (मा अति घक्) दूर न हो; हम (सुवीरा) योर वृश्चो से युक्त होकर (विदये) यज्ञ में (दृढ़त्) महान् शान्द (वदेम) शोले ॥ (अ० २।१६।९) ।

विशेष—उपर्युक्त अनुवाद अमेन विद्वान् येस्तवर के अनुसार है, याद्य की व्याख्या इसके बाद मिलेगी। प्रति दुहोयत्-वैदिक भाषा में उपस्थग 'पातु' को छोड़कर कही भी रह सकता है √दुह-दूहना। यिना—'शिक्षा' का छन्द के लिए दोर्यं ।

सा ते प्रतिदुग्धा वर जरिये । वरो वरयितव्यो भवति ।
जरिता=गरिता । दक्षिणा । मवोनी=मववती । मघमिति धन-
नामधेयम् । महते. दानमर्मण । दक्षिणा दक्षते. समर्धयति कर्मण ।
व्यृद्ध समर्धयति इति । अपि वा प्रदक्षिणागमनात् दिशमभिप्रेत्य ।
दिव् त्स्तप्रकृति । दक्षिणो हस्तो दक्षते. उत्तमाहृकर्मण । दाशतेर्वा
स्पात् दानकर्मण । हस्तो हन्ते । प्राग्नु. हनने ॥

वह (दक्षिणा) तुम्हें — शायक को—वर दे (दोहन करे) । वर नुने के लायक होता है (√वृ) । जरिता = गानवाला । मघोनी = मध से युत् ; मध = घन जो दानार्थक् मह से बना है । दक्षिणा दक्ष से = पुमृद करना । जो नदिद्विन को समृद्ध करे । अथवा [वाये से] दाये जान के कारण दिशा को लक्ष्य करके बना हो । दिशा की उत्पत्ति ह्राय से ही हुई है । दक्षिण हस्त—उत्साहार्थक् दक्ष से या दानार्थक् दाश से बना है । हस्त वहने (मारना) से बना है क्योंकि मारने में तेज है ।

देहि स्तोत्रभ्य कामान् । मा अस्मान् अतिदही । मा अस्मान् अतिहाय दा । भगो नोऽस्तु । वृहद् वदेम स्वे वेदने । भगो भजते । वृहत् इति महतो नामधेयम् । परिवृढ भवति । वीर-वन्त । कल्याणवीरा वा । वीरो वीरयति अमिनान् । वेतेवी स्याद् गतिकर्मण । वीरयतेर्वा ॥

स्तुति करनेवालो को काम (इष्ट वस्तु) दो । हमे मत जलाओ । हम छोड़ते हुए [किसी दूसरे को] मत दो । हमारा कल्याण हो । हम अपने पर में जोरों से बोलें । भग् भज् (पूजन) से बना है । वृहत् = महान् , क्योंकि परिवृढ (मजबूत) है । [मुकीरा =] पुत्रवाले या कल्याणकारी पुत्र-वाले । वीर शत्रुओं को छिन्न प्रिन करता है (वि + ईर) या गत्यर्थक् वीर से, या वीरय् (वीरन्सा काम करना) से बना है ।

'सीम्' इति परिग्रहार्थीयो वा । पदपूरणो वा । 'प्र सीमा-दित्यो असृजत्' । प्रासृजत् इति वा । प्रासृजत् सर्वत इति वा । 'वि सीमत सुरुचो वेन आव' इति च । व्यावृणोत् सर्वत आदित्य । सुरुच आदित्यरश्मय सुरोचनात् । अपि वा, 'सीम' इत्येतत् अनर्थकम् उपवन्धम् आददीत पञ्चमीकर्मणम् । सीम्न = सीमत—सीमात—मर्यादात । सीमा=मर्यादा, विपीव्यति देश-विति ॥ 'त्व' इति विनियोगार्थीय सर्वनाम अनुदात्तम् । अर्वनाम इत्येके ॥ ७ ॥

(१३) सीम—सर्वत्र के बाय में या पदपूरण होता है जैसे—अदिति का पुत्र (वर्ण) तेजी से जाय (क० २२८०४) । तेजी से जाय (पुत्रपूरण होने पर) या—सर्वत्र तेजी से जाय (दोनों वर्ष सम्भव हैं) । चमकनेवाले आदित्य ने

सर्वं खोल दिया (मंत्र १३ स० २५७४५) = आदित्य ने सब खोल दिया । आदित्य की किरणें अधिक चमकने के कारण 'मुहूर' हैं । अथवा 'सीम' शब्द अनादान ग्रहण करनेवाले [तदः] प्रत्यय (उपशब्द) को दिना किसी विशेष अर्थ के (स्वार्थ में ही) लगाता है । सीमन्—पीम—सीमा—मर्मादा से । सीमा=मर्मादा, वयोर्ति दो देशों को अलग करती है, वि+√पितु । (१४) १३-इत्तावट के अर्थ में अनुदाता सर्वंताम है, तुछ लोग इसे 'आया' का पर्याय मानते हैं ॥ ७ ॥

विशेष—'च' से सिर 'सीम' तद तेरह एमोपसंग्रह है । खोदहवा सर्वंताम है ।

ऋचा त्य पोषमास्ते पुपुष्यान्, गायत्र त्वो गायति शकरीपु ।
अह्मा त्वो वदनि जातिविद्या यजस्य मात्रा वि मिमीत उ त्व ॥

(४) एक (पृथ्व्यान्) पोषण वरनेवाला पुरोहित (शक्राम) ऋचाओं की (पोषम्) इडि वरने में (भ्रात्से) लगा है । (५) एक दूसरा पुरोहित (ददरीपु) पदवरी नामक उग्दों में (गायत्रम्) गायत्री उग्द वो=गेव उग्द की (गायत्री) नामा है । (६) एक दूसरा पुरोहित (वद्या) वद्या है, जो (जातिविद्याम्) ग्रन्थ-ग्रन्थ पर गमाणान (वदनि) गमाणा है । (७) और (८) एक पुरोहित तो (यजस्य) यज वा (मात्राम्) परिमाण विमिकीत नामा है=गमाणन वरता है ॥ (अ० १०१३११११) ॥

विशेष—पृथ्व्यान्—√पृथ्+त्वद् (पृथ्वी प्रथय) = पोषण । चारों पाँवों में अमा होता (चारेद) उद्दाना (लाय) अहा (पथर्द) तथा अदर्य (पत्रु) वा उभयन है । इसमें यह न गमते हि इस ऋचा के गमय गमी वेद विद्यान में । यह वा प्रयोजन देखतर ही । इनका उत्तर दिया गया है । यद्यपि ए वदीशाम् उग्द है जिसे लोन पदीशामी गायत्री बनाहर उद्दाना नामा है ।

उत्ति ऋनिविकर्मना विनियोगम् जाचाटे । ऋचाम् एक-
पोषम् आम्ने पुपुष्यान्-होता । ऋन्=अर्चनी । गायत्रम् एकी
गायति ददरीपु-उद्दाना । गायत्र गायतो न्युनिकर्मन । शवर्मं-
शून शरनोति । 'नद् यानि पृथ्वमग्नाद हनु गर् प्रसुतरोणा
शत्रर्मित्यम्'—इनि विशेषते ।

इस प्रकार याजिकों के कार्यों का विभाजन कहा गया है। एक पोषण करनेवाला ऋचाओं को बृद्ध में लगा हुआ है—वह 'होता' है। ऋक् = पूजा का साधन (\checkmark अर्थ)। एक शब्दरियों (छ पाद वाली ऋचाओं) में मापनी छ द का यान करता है—वह 'उद्गाता' है। 'गायत्र' स्तुति अर्थवाले \checkmark गे से बना है। शब्दरी ऋचाएं \checkmark शक् से। 'जिनके द्वारा वृत्र राक्षस मारा जा सका यही शब्दरियों की विद्येषता है—यह गालूग होगा है।

विशेष—निहृत म व्राह्मण ग्रन्थों के बहुत से वाक्य उद्धृत हैं जो निर्वचन से सम्बन्ध रखते हैं। 'विजायते' के द्वारा जिनने उद्धरण है वे व्राह्मण ग्रन्थों के ही हैं। व्राह्मणों के ये ही निपाय हैं—

हेतुनिर्वचनं तिन्दा प्रशसा सुशयो विधि ।

परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणवल्पना ॥ (श० म० ॥)

व्रह्मा एको जाते जाते विद्या वदति । व्रह्मा सर्वविद्य । सर्व वेदितुम् अर्हति । व्रह्मा परिवृढ़ श्रुतत । व्रह्मा परिवृढ़ सर्वत । यज्ञस्य मात्रा विमितीते एक अध्वर्यु । अञ्चर्यु=अध्वरयु । अध्वर युनकि । अध्वरस्य नेता । अध्वर कामयते इति वा । अपि वा अधीयाने 'यु' उपबन्ध । अध्वर इति यज्ञनाम । ध्वरति हिसाकर्मा । तत्प्रतिपेध ॥

एक 'व्रह्मा' है जो प्रत्येक कठिन प्रसङ्ग का समाप्ति बहलाता है। व्रह्मा मर्वत है; सब कुछ जान सकता है। 'व्रह्मा' वैदों में पूरा कुशल है। व्रह्मा सब से बड़ा (परिवृढ़) है। एक 'अध्वर्यु' है जो यज्ञ का परिमाण नापता है (सम्पादन करता है)। अध्वर्यु=अध्वरयु (र के अ का लोप)=अध्वर को जोड़ने-वाला। अध्वर का नेता या अध्वर की कामना करनेवाला (बृद्ध प्रत्यय)। अप्यवा अध्ययन के अप मेरे 'यु' प्रत्यय लगा है। 'अध्वर' यज्ञ का पर्याय है। \checkmark ध्वर=हिसा करना, इसका निपेष (अहिसा) ॥

निपात इत्येके । तत्कथम् अनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् ? दृष्टव्यय तु भवति । 'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहु' इति द्वितीयायाम् । 'उतो त्वस्मै तन्वं विसखे' इति चतुर्थ्याम् । अथापि प्रथमावहुवचने ॥ ८ ॥

कुछ सोगों का अनुसार [त्व] निपात है। नहीं तो सदा-सद्व इस प्रकार अनुदात हो सकता है ? किर भी इस (त्व का) रूप-परिवर्तने देखा जाता है

जैसे—मित्रता के विषय में कुछ को स्थिर होकर (अर्थ) ज्ञान करनेवाला कहते हैं (ऋ० १०।७।१५)—यहाँ द्वितीया में। कुछ के लिये वह परीर फैलाती है (ऋ० १०।७।१४)—यहाँ चतुर्थी में। प्रथमा बहुवचन में भी होता है—॥ ८ ॥

विशेष—चूंकि रूप-परिवर्तन होनेवाली संज्ञाओं में अन्तिम स्वर उदात्त होता है परन्तु 'त्व' अनुदात्त है इसलिए यह अवश्य ही निपात (अवध्य) होगा, तथापि इसका रूप परिवर्तन देखा गया है। इसलिए यह कहना कठिन है कि यह सर्वनाम (अनुदात्त) है कि निपात। दोनों ऋचाओं की व्याख्या आगे देखें (नि० १।१९-२०) ॥ ८ ॥

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा वभूवु ।

आदृष्टास उपकक्षाम उ त्वे हृदा इव ज्ञात्वा उ त्वे ददृशे ॥

(अक्षण्वन्तः) और से युक्त और (कर्णवन्तः) कान से मुक्त (सखाय) मित्रगण (मनोजवेषु) बुद्धि के वेग में = ज्ञान में (असमाः) बराबर नहीं (बमूडु) हुए (उ त्वे) और कुछ तो (आदृष्टासः) मूँह सर्व जलवाले (हृदा इव) तालाब के समान, कुछ (उपकक्षामः) कौल तर्ह जलवाले [तालाब के समान] तथा (उ त्वे) कुछ लोग (स्नातवाः) स्नान करने योग्य [तालाब के समान] (ददृशे) दिलताई पढ़ें। (ऋ० १०।७।१७) ॥

विशेष—जिस प्रशार तालाबों की गहराई भिन्न-भिन्न होती है—इसी में भरमूँह पानी, इसी में कौलमर, इसी में बेदल स्नान बरने ही योग्य—उसी प्रशार विद्वानों की बुद्धि भी भिन्न-भिन्न है अर्थात् वे बुद्धि में विपर्य हैं। सत्ता का अर्थ यहाँ वर्ति है जो वही प्रशार वे हैं—उत्तम, मध्यम और न्यून ।

अदिमन्तः कर्णवन्तः मखाय । 'अस्ति' चतुर्ते । अनक्ते इति आग्रायण । 'तस्मादेने व्यक्ततरे इव भवत' इति ह विज्ञायते । 'कर्णः' कुन्तते । निकृत्तद्वारो भवति । ऋच्छत्ते इति आग्रायण । ऋच्छन्ति इव, मे उदगन्तामिति ह विज्ञायते ।

और से युक्त और बान से युक्त मित्रगण। 'बलि'-४८ (सामा) से बना है। आग्रायण कहने हैं जि-४८३ (प्रशान्ति बरना) से बना है। इसन्त्वे ये [अर्थात् समूचे शरीर की अदेश] अपित्र व्यक्त-नी होती है—यह

मालूम होता है। 'कर्ण' √इन (काटना) से बना है। इसका द्वार कटा हुआ होता है। आःग्रायण कहते हैं कि √श्वच्छ (जाना) से बना है, क्योंकि [शब्द कानों में] जाते हुए—में मालूम पढ़ते हैं या ये कान ही आकाश में जाते हैं—यह गालूम होता है॥

मनसां प्रजवेषु असमाः वभूवुः । आस्यदघ्नाः अपरे । उप-
कक्षदघ्नाः अपरे । आस्यम् अस्यतेः । आस्यन्दते एनत् अन्नम् इति
वा । दघ्नं दघ्यतेः स्वतिकर्मणः । दस्यतेः वा स्यात् । विदस्त्तरं
भवति । प्रस्तेया=हृदा इव एके प्रस्तेया ददृशिरे । ज्ञानाहीः ।
हृदो हृदातेः शब्दकर्मणः । हृदाने. वा स्यात् शीतोभावकर्मणः ॥

मन (बुद्धि) के वेण में समान नहीं हुए। दूसरे केवल मुँह (आःग्र)
मर (दघ्न) ही ये। कुछ लोग कौब भरते हैं। 'आःग्र' √अस् (फौटना)
से बना है। या अन्न इसमें बहना है (आ √स्यन्द)। 'दघ्न' √दध् से बना
है जिसका अर्थ है—बहना। या √दस् (लोग) से बना है क्योंकि विशेषणा
क्षीणतर (दस्ततर) होता है= (सीमित कर देना)। नहाने लायक=कुछ
लोग तालाब के समान नहाने लायक दिले। स्नान के योग्य। 'हृद' √हृदाद=
शब्द करना से या 'शीतल करना' अर्थ बाने √हृदाद में बना है॥

विशेष—आदघ्न = आस्यदघ्न । दघ्न = पात्र । स्नात्या = स्नान योग्य ।

अयापि समुच्चयार्थं भवति । 'पर्याया इव त्वदाश्विनम्' ।
आश्विनं च पर्यायाश्च इति ॥ अय ये प्रवृत्ते अर्थं अमिताक्षरेषु
ग्रन्थेषु वाक्यपूरणाः आगच्छन्ति, पदपूरणस्ते मिताक्षरेषु ।
अनर्थकाः । कम् ईम् इत् उ इति ॥ ९ ॥

[यह 'त्व'] जोटने के अर्थ में भी होता है जैसे—[एक मत्र में] वाश्विन
को पर्याय-ना गाते हैं (कोयी० द्वा० १४४४) । वाश्विन को और पर्यायों को ।
अर्थं बतलाने हुए असीमित अक्षरों के लघुओं में (गदा में) जो वाक्य की
पूनि बरते के लिये आते हैं वे सीमित अक्षरों वाले [पद में] पद की पूजि
करते हैं । ये निरर्थक होते हैं । जैसे—उम् ईम्, इत् और उ ॥ ९ ॥

विशेष—निरातो के दीसरे घोट—पदपूरण—के विषय में कहा जा रहा है ।
प्रथम् = शब्द । अमिताक्षर = गदा जिसमें वई अक्षर रहते हैं, कोई सीमा नहीं ।
मिताक्षर = निश्चित अक्षरों का पद ॥ ९ ॥

निष्टव्वनासश्चिदिवरो भूरितोका वृकादिव ।
विभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम् ॥

(नित्यवशास) दिना वस्त्र के (नर) मनुष्य (चित इत्) ही (भूरितोकाः) बहुत सम्भान वाले वनवर (वृकात् इव) मानो भेडियो से (विभ्यस्यन्त) दरते हुए (ववाशिरे) रोने-चिल्लाने लगे कि (शिशिरम्) शिशिर कहु (जीवनाय) जीवन दान वरे (कम्)—॥

विशेष—'कम्' पदपूरण है । गरीब आदमी जाहे मे कपडे न रहने पर रोते हैं मानो भेडियो से दरवर रो रहे हो ॥

शिशिर जीवनाय । शिशिर शृणाते शङ्खाते वा । 'एमेन सृजता सुते' । आसृजत एन सुते । 'तमिद्वधन्तु नो गिर' । त वधयन्तु नो गिर स्तुतय । गिरो गृणाते । 'अयमुते समतसि' । अय ते समतसि । इवोऽपि इव्यते । 'सुविदुरिव' । 'सुविज्ञायेते इव' । अथापि 'न' इति एप 'इत्' इत्येतेन सप्रयुज्यते परिभये ॥ १० ॥

शिशिर जीवन के लिये [हो] । 'गिरिर'—ज् या—शम् (मारमा) से । (आ ईम् एनम्०) निष्ठोडने पर इसे बहुने दो (क्ष० १११२) । उसी हमारी स्तुतियाँ बढायें (क्ष० १६११४) । गिरः—स्तुतियाँ । 'गिर'—ग् (स्तुति) से । यही [वह सोम] है जिस पर तुम विरते हो (क्ष० १३०१४) । 'इव' भी [पद पूरण के रूप में] देखा जाता है जैसे—उन्होने जाना (काठकस ८१३) । मातृम होते हैं (काठकस ६२) । इसके अलावे 'न' के साथ 'इत्' भय दिलाने में आता है ॥ १० ॥

हविर्भिरेके स्वरित् सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।
शचीर्मद्भूत उत् दक्षिणामनेज्जिज्ञायन्त्यो नरकं पताम् ॥

(एके) कुछ लोग (हविर्भि) हवि के द्वारा (इव) यही से (स्व) स्वग (सचन्त) पाते हैं । (एक) कुछ लोग तो (सवनेषु) सोम चुआने के समय म (सोमान्) सोमो दो (सुन्वन्त) चुआते चुआत [स्वगं पाते ह] । (उन) पिर (दक्षिणामि) दान स (शची) शक्तियो दो (मदन्तः) प्रसन्न वरा । [कहती हैं कि] (जिज्ञायन्त्य) पाप करते-करते (नरक) नरक म (न इत्) नहीं म (पताम्) गिर पहें ॥ (सिल २४।१) ।

विशेष—अमुरो की पत्नियों की यह उक्ति है। प्रो॰ राजवाहेका कहना है कि याहू ने देवल बनिम चरण ही उद्घृत किया होगा क्योंकि उतने अस की ही व्याख्या आपे करते हैं। ‘पताम’ में ‘उपसत्तादाशङ्कयोश्व (पा० मू० ३।४४)’ सूत्र के अनुसार आपात्ता के अर्थ में लेट् लकार हुआ है (देखें सिद्धान्त-चौमुखी, वैदिकी ग्रन्थिया का तृतीय अध्याय)।

नरक नि अरकम् । नोचै-गमनम् । न अस्त्मन् रमणं स्यानम्
अल्पम् अपि अस्ति इति वा । अयापि ‘न च’ इत्येपि ‘इत्’ इत्यैतेन
संप्रयुज्यते अनुपृष्ठे । ‘न चेत्सुरा पिवन्ति’ इति । सुरा सुनोते ।
एवम् उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति । ते उपेक्षितव्याः ॥ ११ ॥

नरक = नि अरक = नीचे जाना । अयाता त्रिस्त्रमे रसगीय-श्याम घोड़ा भी
नहीं। ‘न च’ के बाद ‘इत्’ मिलते के हुवारा पूछने के अर्थ में आता है जैसे—
यदि के सुरा न पीते हो तब ? ‘सुरा’ √ गु (चुपाता) स, इसी प्रकार भिन्न-
भिन्न अर्थों में आते हैं। इन पर ध्यान देना चाहिए ॥ ११ ॥

विशेष—यहाँ शास्त्रमें का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

चतुर्थ-पाद

इति इमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि नामाख्याते
चोपसर्गनिपाताश्च । तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनं
नैरुक्तममयश्च । न सर्वाणि इति गायं वैयाकरणाना चैके ॥

इस प्रकार मेरे बार पढ़में बनाये गये—नाम और आख्यान, उपर्यं
और निपात । शाकटायन और निश्चितारों का मन है कि उभी नाम आख्यात
से जापन है । गायं और कुछ वैयाकरणों का मन है कि सभी [नाम
आख्यान से उत्पन्न] नहीं है ॥

विशेष—वैयाकरण पालिनि भी स्त्रीरार बतते हैं कि उभी नाम (प्रानि-
पदिक) पातुओं से उत्पन्न नहीं । प्रानिपदिक वो विद्वि के निषेद्ये दो यूक्त
रहते हैं (१) पातु से न उत्पन्न होने वाले प्रानिपदिकों के निषेद—पर्यवदण्डानुर-
प्रायण-प्रानिपदिकम् (१।२।४५) तथा (२) पातु से उत्पन्न होने वाले कुछ
प्रानिपदिकों के निषेद—पृत्तिदिवसपातावद (१।२।४६) । भाग्यानन्द स्त्रीरार
हरण है कि उपर्यं वो उत्पत्ति पातु से उत्पन्न हुई है वृत्तु उभी पातु
कियाएक हो नहीं । निषेद्यात् वो भुत्तिक क्योंकी है ही ।

तद् यथ स्वरसंस्कारी समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याता……संविज्ञातानि तानि । यथा गौ अश्व. पुरुष. हस्तीति । अथ चेत्सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्यु., य. कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्व तत्सत्त्व तथा आचक्षीरन् । य. कश्च अध्वानम् अस्तु-वीत, अश्व. स वचनोय. स्यात् । यत् किञ्चित् तृन्धात् तृण तत् । अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्यु., यावद्धिः भावे. सप्रयुज्येत तावद्भूय. नामधेयप्रतिलभ्य. स्यात् । तत्र एव स्यूणा दरशया च आसञ्जनी च स्यात् ॥ १२ ॥

तो जहाँ स्वर (उद्यात्तादि) और बनावट अर्थ से युक्त होकर अपने अधीनस्थ अर्थसम्बन्धी (प्रादेशिक) विकार (गुण) से सम्बद्ध हो [वे नाम आख्यातज हैं, जहाँ वे सम्बद्ध नहीं वे नाम] रुद्ध हैं जैसे गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती । [गायं कहते हैं कि] (१) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो जो वीज भी वह नाम करनी, उसे बंसा ही कहते । जो कोई भी अध्य (नाम) का अशन (पार) करता उसे 'अश्व' कह देते ॥ जो कुछ भी टौड़ी जाती उसे 'तृण' कहते ॥ ॥ पुन (२) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो जिन-जिन क्रियाओं से कोई वस्तु सम्बद्ध होती उन-उन क्रियाओं के आगार पर उसका नामकरण होता । स्थानी (स्यूणा) वो दर दाया (छेद में सोनेवासी), या आसञ्जनी (शहतीर घारण करनेयाची) कहते ॥ ॥ १२ ॥

विशेष—प्रथम वाक्य में निश्चित रूप से कुछ शब्द छूट गए हैं जिनका अनुवाद काल्पनिक रूप से कोप्तो के दीच किया याया है । संविज्ञात = हठ जैसे गौ आदि, जिसमें धातु का पठा नहीं । ये शब्द आख्यातज नहीं हैं । बिन्तु वाक्य पा प्रथम खण्ड आख्यातज शब्दों का निर्देश करता है । अतएव 'स्याता' और 'संविज्ञातानि' के बीच कुछ शब्द लूटे हैं । दुर्गाचार्य ने अपनी व्याख्या में ऐसा ही किया है । कर्ता, कारक, पाचक आदि शब्दों में धातु रूप है, श्वर और बनावट सरल है, धातु का भी बही अर्थ है जो शब्द का—अतएव ये शब्द धातु से उत्पन्न हैं । बिन्तु मौ, पुरुष आदि शब्द ऐसे नहीं, वे रुद्ध हैं । प्रदेश = क्षेत्र, अर्थात् वाच्य का अपने क्षेत्र के ही = अपने अधीनस्थ धातु से राम्बन्ध, जैसे √ह और कारूरक का सम्बन्ध प्रादेशिक है क्योंकि दोनों समान अर्थ रखते हैं । कुछ लोगों के अनुमार 'प्रदेश' का अर्थ व्याकरण या लक्षणशास्त्र है । यह

अर्थ रखने पर (प्रादेशिक गुण = व्याकरण-सम्मत विचार) मी दुर्बावायं की व्याख्या ठीक हो है । प्र०० मैवयमूलर उक्त वाक्य को पूर्ण मानते हुए कहते हैं कि यास्क गो इत्यादि चदाहरण वास्यात्तज शब्दों के देते हैं परन्तु यह विचार गलत है । प्र०० रौप्य लिखते हैं—गार्यं तथा कुछ वैयाकरण केवल उन्हीं शब्दों को आव्यात्तज मानते हैं जो स्वर और चनावट से युक्त हैं तथा किसी व्याख्यात्मक घातु (प्रादेशिक गुण) से सम्बद्ध हैं, इसके विरुद्ध गो आदि शब्द यद्यच्छा रो उत्पन्न हैं । दा० गुणे रौप्य के इस विचार से सहमत हैं तथा शूटे हुये शब्दों के लिए एक प्रस्ताव रखते हैं—यास्क इसके बाद गार्यं के विचारों का पूर्ण उद्धरण देकर उसका व्यष्टित करेंगे । १४ वें परिच्छेद में उद्धरण देने समय 'स्याता' के बाद 'सर्वं तत् प्रादेशिकम्' पिलना है, मम्भव है कि यह खंड शूट गया हो । इसके बाद गार्यं अपने विरोधी का मत खण्डित करते हैं ॥१२॥

अयापि य एवा न्यायवान् कार्मनामिक संस्कारः, यथा
चापि प्रतीतार्थानि स्युः, तथा एनानि आचक्षीरन् । पुरुषं
पुरिशय, इति आचक्षीरन् । अत्रा इति अश्वम् । तदन्मिति
तृणम् । अयापि निष्पत्ते अभिव्याहारे विचारयन्ति—प्रथनात्
पृथिवी इति आहुः । क एनाम् अप्रथयिष्यत् ? किमाधार, चेति ?

पुनः (३) इनमे जो व्याकरण के नियमों से युक्त, किसी [समानार्थक] किया से उत्पन्न, नाम की चनावट (सत्रा शब्द की रखना) है तथा किनका अर्थ तुरत मात्रम हो जाय—उन्हें (नामों को) लोग उन (धातुओं) के अनुसार ही पुकारते । 'पुरुष' को लोग पुरि-शब्द कहते । 'अश्व' को अटा कहते । 'तृण' को तदेन कहते । । पुनः (४) किसी शब्द के व्यवहार में चल पड़ने पर लोग उसकी उत्पत्ति पर विचार करते हैं—√प्रथ (फैलाना) से पृथिवी चनी । तो इसे किमन फैलाया ? और कहाँ बैठकर ?

विशेष—व्याय = व्याकरण के नियम । 'कर्म (किया) से निहता नाम-कर्मनाम, उसमे उच्चन्न = कार्मनामिक संस्कार'—दुर्गं । उसी अर्थवाने यातु से बने शब्द की चनावट, जैसे, पुरुष—पुर् में शयन करनेवाला = पुर् + √शी से 'पुरुष' की चनावट । तब तो पुरिशय का भी अर्थ होता ! अश्व और अटा दोनों √अश् (लाना) से बने हैं । तदेन और तृण—√तृ॒ै, (सोडना) से । आचक्षीरन् = √चक्षिद् + दिविलिद् = कहते !

अथ अनन्वितेऽये, अप्रादेशिके विकारे, पदेभ्य. पदेतराद्वान् सच्चस्कार शाकटायन । एते. कारितं च यकारादि च अन्त-करणम् । अस्ते. शुद्ध च सकारादि च । अयापि सत्त्वपूर्वो भाव. इति आहु । अपरस्मात् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो न उपपद्यते इति । तत् एतत् न उपपद्यते ॥ १३ ॥

(५) अर्थ के असगत होने पर और बनावट व्याकरण-सम्मत (या अधीनस्थ धातु से सम्बद्ध) न होने पर, शाकटायन, कई [आरयात्-] शब्दों से किसी शब्द के मिन्न भिन्न खण्डों की बनावट करते हैं । ['सत्य' की बनावट में] √इ (जाना) के प्रेरणार्थक रूप (विज्ञत) यकार को अन्त में रखा । √अस् (होना) के मूल-रूप के सवार को आदि में रखा । (६) इसके अलावे, कहा गया है कि किया वे पहले ही नाम पड़ जाता है । इसलिए बाद में होनेवाली किया के आधार पर नामकरण नहीं होता । इस प्रकार √ह [सिद्धान्त कि 'किया से नाम पड़ता है'] उचित नहीं ॥ १४ ॥

विशेष—शाकटायन नामक, निरुक्त के प्रणेता जब देखते हैं कि शब्द और उसमें अंतमान धातु दोनों का अर्थ असगत है तब एक हा शब्द, मेर कई धातुओं की स्थिति समझते हैं जैसे 'सत्य' मेर √अस् और √ह । यास्क के व्याकरण सम्बद्धी पारिभाषिक शब्दों के लिय, देखिए, भूमिका ॥ १५ ॥

यथो हि नु वै एतत् । तद् यत्र स्वरस्स्कारी समर्थो-प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याता सर्वं प्रादेशिकम् इति । एव सति अनुपालभ्य एष भवति ।

यह जो कहा सो देखें—जहाँ स्वर और बनावट अर्थ से मुक्त होकर, अपने अधीनस्थ अर्थ सम्बद्धी (प्रादेशिक) विकार (गुण) से सम्बद्ध हो दे सारे शब्द आव्यात से निकले (प्रादेशिक) हैं । इस प्रकार तो यह [हमारे सिद्धान्त से] उल्टा नहीं ही हूबा ।

विशेष—यथो एतत्' का प्रयोग यास्क तत्र करते हैं जब पूर्वपक्ष का मत स्थापित करते हैं । इसका अर्थ होगा—'इम त्रम से जो कहा कि', इसके बाद ये पूर्वपक्ष का पूरा वाच्य रखते हैं । इसलिए १२ वें परिच्छेद में निश्चिन रूप से यही अन फोग जिसे लेखक अपनी असावधानी से छेड़ गया है । इस मत से यास्क का कोई विरोध नहीं, क्योंकि जहाँ वारक, पाचक-जैसे शब्दों की ही

व्युत्पत्ति पूर्वपंची के मन से मम्मव है, यास्क के मत से, ममी शब्द व्युत्पन्न है। कारक, पाघर-जैसे शब्दों को तो ये व्युत्पन्न मानने ही हैं। अत बेवल 'प्रदेश' (व्युत्पन्न होने वाले शब्दों का क्षेत्र) नेहर ही मनमेद है।

यथो एतत् । य क. च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन् इति । पश्याम् समानकमण्णा नामधेयप्रतिलभ्म् एकेपा, न एकेपाम् । यथा तज्जा परिक्राजक. जीवन. भूमिज इति । एतेन एव उत्तर. प्रत्युक् ॥

यह जो कहा कि 'जो धीज भी वह काम करदी उसे वैसा ही कहते' (परि० १२); [इस सिदान्त से] देखते हैं कि कुछ समानार्थक शब्दों का नामकरण होता है, कुछ का नहीं, जैसे—तज्जा (लकड़ी काटनेवाला—इडई), परिक्राजक (घूमनेवाला, सवासी), जीवन (जीनेवाला, इव का रस), भूमिज (भूमि से उत्पन्न, मण्डलपट) । इसी से दूसरे आक्षेप का समावेश होता ॥

विशेष—इन वाक्यों में यास्क गायं के आक्षेपी का उत्तर दे रहे हैं। 'तज्जा' का वास्तविक अर्थ हुआ 'लकड़ी 'काटनेवाला' पर लड़ अर्थ है—इडई । सभी लकड़ी काटनेवालों को 'तज्जा' नहीं कह सकते । उत्तर=प्रागे का आक्षेप—देखें परि० १२—जिन जिन कियाओ से कोई ॥

यथो एतत् । यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तया एनानि आचक्षीरन् इति । सन्त्यल्पप्रयोगा. कृतोऽपि ऐक्यदिका । यथा व्रतति., दमूना., जाट्य., आट्णार, जागरूक., दविहोमी इति ।

यह जो कहा कि 'जिनका अर्थ मुख्य मालूम हो जाय, उन (नामों को) लोग (धातुओं के) अनुकूल कहते' (परि० १३)—इस उद्देश के कृदर्शन से बते शब्द तो प्रयोग में कम आनेवाले हैं तथा ऐहयदिक-काण्ड में गिनाये गये हैं जैसे—व्रतति दमूना, जाट्य (जटावाला), आट्णार (घूमनेवाला), जागरूक (जागने वाला), दविहोमी (कलघी से होम करनेवाला) ।

विशेष—ऐ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें ऐहयदिक काण्ड में गिनाया गया है जहाँ प्राप सभी शब्द कठिन तथा अनियमित हैं। व्रतति—वरणाद्व सप्तनाच्च, सप्तनान्त (नि० ६२८) । दमूना—दममना वा, दानमना. वा, दारमना वा, अरि वा—दम इति गृहनाम, तमना स्यात् (नि० ४४) । दुग के अनुसार में मभी शब्द नियम के अनुकूल निर्देश हैं तथा स्फट अर्थ वाले हैं ।

यथो एतत् । निष्पन्ने अभिव्याहारे अभिविचारयन्ति इति । भवति हि निष्पन्ने अभिव्याहारे योगपरोऽपि । प्रथनात् पृथिवी-त्याहुं, क. एनाम् अप्रथयिष्यत् किमावारश्च इति । अथ वै दर्शनेन पृथुं, अप्रथिता चेत् अपि अन्यैः । अथापि एवं सर्वं एव दृष्टप्रवादाः उपालभ्यन्ते ।

यह कहा कि 'किसी शब्द के व्यवहार में चल पड़ने पर लोग उसकी अत्यधिक पर विचार करते हैं' यदोकि व्यवहार होने पर ही शब्द के निर्माण की जाँच होती है । √प्रथ् (फँलाना) से पृथिवी बनी तो इसे किसने फँलाया और कहा देठहर ? देखने में तो यह किसी हुई लगती है न ? भले ही किसी ने इसे नहीं फँकाया हो । इसके बलावे, सभी लोग तो देखकर (दृष्ट) नाम देनेवाले (प्रवाद) पाये जाते हैं ।

प्रिशेष—योगपरोऽपि = शब्दनिर्माण पर विचार । दृष्टप्रवाद = वस्तुओं को देखकर नाम देनेवाले लोग । अनुभव के बाद ही नाम दिये जाते हैं ।

यथो एतत् । पदेभ्य पदेतराधान् सचस्कार इति । यः अनन्विते अर्थं सचस्कार स तेन गर्ह्य । सा एपा पुरुषगर्ही ॥

यह कहा कि 'कहि [आरुषात्] शब्दों से किसी शब्द के भिन्न-भिन्न लक्षणों को बनावट करते हैं । जो वस्तुबद्ध अर्थ में बनावट करते हैं वे उस तरह की बनावट के द्वारा निभनीय हैं । यह [अत्यधिक चरनेवाले] पुरुष की निश्चा है ।'

यथो एतत् । अपरस्मात् भावात् पूर्वस्य प्रदेशं न उपपद्यते इति । पश्यामः पूर्वोत्पश्नाना सत्त्वानाम् अपरस्मात् भावात् नामधेय-प्रतिलम्भमेकेपान एकेपाम् । यथा विल्वाद् लम्बचूडक् इति । विल्व भरणात् वा भेदनात् वा ॥ १४ ॥

यह कहा कि 'बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर पूर्व में [होनेवाले शब्द का] मामवरण नहीं होता', यहाँ देखते हैं कि पूर्व में होनेवाली वस्तुओं का नामवरण बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर कुछ दशाओं में होता है, कुछ में नहीं । जैसे—विल्वाद्, लम्बचूडक् । 'विल्व' √म् (भरण) या √मिद् (कोइना) से बना है ॥ १४ ॥

विशेष—प्रदेश = नामकरण। विल्वाद = बेल का फल खानेवाला एक पक्षी। लम्बचूड़क—यद्यपि इस पक्षी की लम्बी चोटी बहुत बाद में होनी है फिर भी इसे लम्बचूड़क कहते हैं। यही शब्दों का आव्यातरणवाद समाप्त हो गया। पास्क का निष्ठर्य है कि सभी शब्द आव्यात से उत्तर्ण हैं (देखिय मूमिना) ॥ १४ ॥

पञ्चम-पाद

**अयापि इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्यप्रत्ययो न विद्यते । अर्यम् ।
अप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसस्कारोद्देशः । तदिदं विद्यास्थानम् ।
व्याकरणस्य कात्स्यंम् । स्वार्थसाधकं च । यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय,
अनर्थकं भवति इति कौत्सु । अनर्थका हि मन्त्रा । तदेतेन
उपेक्षितव्यम् ।**

इस (निष्ठक) के दिना मन्त्रों में अर्थ का बोध नहीं होता। अर्थ का ज्ञान नहीं रखनेवाला निश्चित-रूप से स्वर और बनावट का निर्णय नहीं कर सकता। यह (निष्ठक) एक विद्यास्थान है, व्याकरण का पूरक तथा अपने कार्य (वेद-उपास्यों) का भी साधक है। कौत्सु कहते हैं कि यदि [निष्ठक] मन्त्र का अर्थशोध कराने के लिए है तो वर्णय है क्योंकि मन्त्र स्वयं अर्थ से रहित है। इस [निष्ठक] के द्वारा इसी निर्णय देने वे ।

विशेष—‘व्यापि’ का प्रयोग बतलाना है कि निष्ठक का कोई अन्य प्रयोजन भी है—वह है ‘शब्दों का निर्वचन करना’ जिसका बर्णन होने जा रहा है। उद्देश = निर्णय । विद्यास्थान कुल खोदद है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मग्रन्थमित्यितः ।

बदा स्थानानि विद्याना घर्मेस्य च चतुर्दश ॥ (या० स्म० ११)
अर्थात् ४ वेद, ६ अज्ञ, पुराण, न्याय, मीमांसा और घर्मग्रन्थ । मीमांसा दर्शन के मन्त्राधिकरण (१२३१-१२३३) में पूर्वशः से सम्प्रवत्, कौत्सु या उनके मन्त्रादी ही बोलने हो। आगे हम उनके मन्त्रों की तुलना मूर्त्रों से करेंगे ।

**नियतवाचोयुक्तयः, नियतानुपूर्व्याः भवन्ति । अयापि वाहृ-
णेन रूपसम्पन्ना । विद्यीयन्ते । ‘उरु प्रथस्व’ इति प्रथयति ।
‘प्रोहाणि’ इति प्रोहति । अयापि अनुपपन्नार्था-भवन्ति । ‘ओपये
नायस्व एनम्’ । ‘स्वविते मा एनं हिसोः’ इत्याह हिसन् ॥**

(१) निश्चन शब्दों की योजना हुई है (—उनके स्थान पर दूसरे शब्द नहीं रख सकते) और (२) उनका कम भी निश्चन है । (३) इसके अलावे ब्राह्मणों के द्वारा उनके प्रयोजन (रूप) निश्चन किये जाते हैं । 'चारों ओर फैनाओ' (मे० स० १११९) तो फैलाता है (मे० स० ८१११) । 'ठेलौं' तो ढेन्ता है । (४) इसके अलावे उनके अर्थ असगत हैं—'हे ओषधि ! इस बचाओ' (मे० स० ३११२ । काठ० २६१३) । मारते हुए कहना है—'हे तुस्हाड़ी, इसे मारो मत' ॥

विशेष—जेमिनि अपन मीमांसा-दर्शन के भृत्याधिकरण में इन तकों को सूत्र वे रूप में उपलिखित करते हैं—(१) और (२) के लिए वे 'वाक्य-नियमात्' (१२१३२), (३) के लिये 'तदव्यंगास्त्रात्' (१२१३१), तथा (४) के लिये 'अचेतने अर्थदन्धनात्' (१२१३५) सूत्र देते हैं । विशेष विवरण के लिए इन पर शब्दरभाष्य या साध्यण को ऋग्वेदभाष्यमूलिका देखें ।

अथापि विप्रतिपिदार्थी भवन्ति । 'एक एव रुद्रोऽवतस्ये न द्वितीय.'×'असख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्' । 'अशनु-रिन्द्र जशिपे'×'शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः' इति । अथापि जानन्त सप्रेव्यति । अपये समिध्यमानायानुग्रूहि' इति । अथापि आहु । अदिति सर्वमिति—'अदितिर्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इति । तदुपरिष्टात् व्याख्यास्याम् । अथापि अविस्पृष्टार्थी । भवन्ति । अम्यक्, यादृशिमन्, जारयापि, काणुका इति ॥ १५ ॥

(५) इसके अलावे विरोधी अर्थवाले भी हैं—'एक ही रुद्र या दूयरा नहीं' और 'जो असख्य, हमारो रुद्र पृथ्वी पर हैं' (मे० स० २११९) । हे इन्द्र, तुम शशुदीन उत्तर्न हुए हो' (अ० १०११३१२) और 'इन्द्र ने संहडो शशुमेनार्थं एव साध जीन ली' (अ० १०१०३१) । (६) पुनः जानकार वो हो विधि बतलाने हैं—[वच्चर्युं सर्वेऽहोता को कहता है कि] 'अग्नि के लिए सामिधेनी श्वचार्ये पढ़ो (मे० स० १४१११) । (७) यह भी बहा है कि अदिति सब कुछ है—'अदिति स्वर्यं है, अदिति अन्तरिक्ष है' (अ० ११८११०) । इसकी व्याख्या बाद में करेगे (नि० ४१२३) । (८) पुनः ये (मन्त्र) अस्तात् अर्थवाले हैं जैस—अम्यक्, यादृशिमन्, जारयापि, काणुका ॥ १५ ॥

विशेष—इन तर्कों के लिये जैमिनि निम्नलिखित सूच देते हैं—(५) के लिये 'बर्यंविप्रतिपेषात्' (१।२।३६), (६) के लिये 'बुद्धशास्त्रात्' (१।२।३३), ('७) के लिये वही 'बर्यंविष्टः', (८) के लिये 'विवेषात्' (१।२।३८)। उत्तरपक्ष वब आरम्भ होगा जिसमें प्रत्येक तर्क काटा जायगा ॥ १५ ॥

अर्थवन्त शब्दसामान्यात् । 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्ध, यद्गूप-समृद्ध, यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजु वा अभिवदतीति च व्राह्मणम्' । 'क्रीडन्तौ पुत्रैनप्तुभिः' । यथो एतत् । 'नियतवाचो-युक्तयो, नियतानुपूर्वी भवन्ति' इति । लौकिकेषु अपि एतत् । 'यथा—इन्द्रांसी, पितापुत्रौ इति । यथो एतत् । 'व्राह्मणेन रूप-सम्पन्ना. विधीयन्ते' इति । उदितानुवाद स भवति । यथो एतत् । 'अनुपपन्नार्थी भवन्ति' इति । आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत ॥

[लौकिक और वैदिक दावयों में] शब्द की समानता होने के कारण वे (मन्त्र) अर्थयुक्त हैं । 'यज्ञ की पूर्णता यही है कि प्रयोजन बतलाये जाने पर पूर्ण होते हैं तथा किये जाने वाले कम का बर्णन श्वर् या यजु करते हैं'—ऐसा भी व्राह्मण में कहा है (मोपष शा० २।२।६ या २।२।२) । [विवाह का प्रयोजन बतलानेवाला मन्त्र है—] वेदों और पोनों के साथ तुम हीनों छेलते हुए…… (१०।८।६।४२) ।

(१-२) यह जो कहा कि 'निश्चिन शब्दों की योजना हुई और उनका श्रम भी निश्चित है' । ऐसा सो लोक में भी देखते हैं जैसे—इन्द्रांसी, पितापुत्रौ ।

(३) यह जो वहा कि 'व्राह्मणों के हारा उनके प्रयोजन (रूप) निश्चित होने हैं' । यह कहे हुए की आशृति है । [तुल० जै० गुणार्थेन पुन श्रुति १।२।४१, परिसङ्घ्या १।२।४२, वर्यंवादो वा १।२।४३] ।

(४) यह जो वहा कि 'उनके अर्थ अस्यत है' । इसमें वेद वे वाक्य से अहिंसा का ज्ञान हो सकता है [तुल० अभिधानेऽर्यंवाद १।२।४६] ॥

यथो एतत् । 'विप्रतिपिद्धार्थी भवन्ति' इति । लौकिकेषु अपि एतत् । यथा असपल्नोऽर्यं व्राह्मण । अनमित्रौ राजा इति । यथो एतत् । 'जानन्त सप्रेष्यति' इति । जानन्तम् अभिवादयते ।

जानते मधुपर्क प्राह । यथो एतत् । 'अदितिः सर्वमिति' । लौकिकेषु अपि एतत् । यथा—सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम् इति । यथो एतत् । 'अविस्पृणार्था भवन्ति' इति । नैप स्थाणो अपराध यदेनम् अन्धो न पश्यति । पुरुषापराधः स भवति । यथा जानपदीषु विद्यात् पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्य ग्रशस्यो भवति ॥ १६ ॥

(५) यह जो कहा कि 'विशेषी अर्थवाले हैं', ऐसा तो लौकिक वाक्यो में भी है जैसे—यह शाहूण शाशुहीन है, यह राजा शाशुहीन है । [तुल० जै० गुणादविप्रतियेषः स्यात् १।२।४३] ।

(६) यह कहा कि 'जानकार को ही विधि बताते हैं', यह जानकार का अभिवादन है । जाननेवाले के सामने ही (विवाह में) 'मधुपक' इही जाता है । [तु० सप्रैषकदंगो गहर्तुपलम्भ सहकारत्वात् १।२।५५] ।

(७) यह कहा कि 'अदिति सब बुच है', ऐसा लौकिक वाक्यों में भी है जैसे—पानी में सब रस ग्रास है ।

(८) यह कहा कि 'अस्पृष्ट अर्थवाले हैं' । यह सूखे शूभ्र का दोष नहीं कि उसे अन्धा नहीं देख पाता । यह उस व्यक्ति का ही दोष है । जैसे—मनुष्यों के साधारण कामों में (जानपदी) जान के कारण मनुष्यों में अन्तर होता है [जैसे ही वेद में भी अर्थज्ञान के विषय में मनुष्यों में भेद होता है सभी वेद नहीं समझ सकते] । परम्परा से जान पानेवाले लोगों में तो अधिक विद्यावाला ही ग्रशसनीय होता है । [तु० सत. परमविज्ञानम् १।२।४९] ॥ १६ ॥

विशेष—मधुपक = दही और मधु का घोल जिसे पुरोहित, शहूचारी, राजा, आचार्य, समुर या जामाता को देते हैं । मधुपक देनेवाले को 'मधुपक' शब्द का उच्चारण तीन बार करना पड़ता है (आश० गृह्ण० १।२।४७) । पारोवर्य = पर + अवर—आचार्य की परम्परा । दुर्गाचार्य कहते हैं कि कौत्स के सभी तरकों का उत्तर यास्त्र ने अच्छी तरह से दिया है । वे कहते हैं—

इति प्रभिन्नेषु परस्य हेतृषु स्वप्तसिद्धायुदिते च कारणे ।

अवस्थित्यभ्या मन्त्रगणस्य मार्थंता तदर्थंमेतत्प्रलु शास्त्रमर्थवत् ॥

पष्ठ-पाद

अथापि इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते । 'अवसाय पद्धते रुद्र मृळ' इति । पद्धत् अवसम् । गावः पश्यदनम् । अवतेः गत्यर्थस्य । असो नामकरणः । तस्मात् न अवगृह्णन्ति । 'अवसायाश्वान्' इति । स्यतिः उपसृष्टो विमोचने । तस्मात् अवगृह्णन्ति ॥

पुनः, इस (निश्चिक) के विना [सन्धिवद्ध] पदों का विभाग नहीं होता । 'हे रुद्र ! पेरवाले भोजन पर कृपा करो' (अ० १०१६९११) । पेरों से युक्त भोजन = गायें, जो रास्ते का भोजन हैं । यति-बर्यवाने, √ब्र॒ से 'अस्त्' प्रत्यय लगा जो सज्जा बनाता है । इसीलिए [पद-कार] इसका प्रहण नहीं करते । 'घोड़ों को खोलकर' (अ० ११०४११) । उपसर्ग के साथ (उपसृष्ट) √सो छोड़ने के अर्थ में होता है, इसलिए [पद-लिभाग को] प्रहण करते हैं ॥

विशेष—पहले उदाहरण में 'अवसाय' एक पद है, पद-पाठ करनेवाले यही पद-विभाग नहीं मानते क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति है √अव् + अत् । इन्हुं दूसरे उदाहरण में 'अव' और 'साय' वलग पद माने गये हैं । निश्चिक जानेवाला ही पदों का विभाग कर सकता है ।

'दूतो निश्चृत्या इदमा जगाम' इति । पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा पषुधर्यप्रेक्षा वा । आकारान्तम् । 'परो निश्चृत्या अ चद्व' इति । चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा । ऐकारान्तम् । पर. संनिकर्षः संहितः । पदप्रकृतिः संहिता । पदप्रकृतीनि सर्वचरणान् पापंदानि ॥

'निश्चन्ति से, या निश्चन्ति का दूत आया' (अ० १०१६६१३), संन्देश या पछी के अर्थ का निदेशक 'आ-' है (निश्चन्ति+आ), निश्चन्ति को कहो' (अ० १०१६४११) । चतुर्थी के अर्थ का निदेश है, इन्हें सभीप हो जाने को सहित कहते हैं या पदों के निश्चन्ति को कहने सहित है (ऋवप्राति० २११) । [वेद की] सभी निश्चन्ति के निश्चन्ति के अकृ मूल में पद ही है । [पद के विना अ० भी निश्चन्ति कहते हैं ॥]

जानते मधुपर्कं प्राह । यथो एतत् । 'अदितिः सर्वमिति' । लौकिकेषु अपि एतत् । यथा—सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम् इति । यथो एतत् । 'अविस्पृष्टार्थाः भवन्ति' इति । नैप स्थाणोः अपराधः यदेनम् अन्धो न पश्यति । पुरुषापराधः स भवति । यथा जानपदीषु विद्यात् पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥ १६ ॥

(५) यह जो कहा कि 'विरोधी अर्थवाले हैं', ऐसा तो लौकिक वाक्यों में भी है जैसे—यह शाहूण शाशुहीन है, यह राजा शाशुहीन है । [तुल० ज० गुणादविप्रतियेषः स्यात् १२१४३] ।

(६) यह कहा कि 'जानकार को ही विधि बताते हैं', यह जानकार का अभिवादन है । जानेवाले के सामने ही (विवाह में) 'मधुपक' नहीं जाता है । [तुल० सप्रैयकमणो गर्हानुपलभ्य सद्कारत्वात् १२१५५] ।

(७) यह कहा कि 'अदिति सब कुछ है', ऐसा लौकिक वाक्यों में भी है जैसे—पानी में सब रस प्राप्त है ।

(८) यह कहा कि 'अस्पृथर्थवाले हैं' । यह सूखे कृष्ण का दोष नहीं कि उसे अन्धा नहीं देख पाता । यह उस व्यक्ति का ही दोष है । जैसे—मनुष्यों के साधारण कामों में (जानपदी) ज्ञान के कारण मनुष्यों में अस्तर होता है [जैसे ही वेद में भी अर्थज्ञान के विषय में मनुष्यों में भेद होता है सभी वेद नहीं समझ सकते] । परम्परा से ज्ञान पानेवाले लोगों में भी अधिक विद्यायाता ही प्रशसनीय होता है । [तुल० सतः परमदिजानम् १२१४९] ॥ १६ ॥

विशेष—मधुपर्क = दही और मधु वा धोल जिसे पुरोहित, ब्रह्मचारी, राजा, आचार्य, समुर या जामाता को देते हैं । मधुपर्कं देनेवाले को 'मधुपर्कं' शब्द का उच्चारण तीन बार करना पड़ता है (आश० यूह० १२४३) । पारोवर्य = पर + अवर—आचार्य की परम्परा । दुर्योचार्य कहते हैं कि कौतूहल के सभी तर्कों का उत्तर याद्वा ने अच्छी तरह से दिया है । वे कहते हैं—

इति प्रभूनेषु परस्य हेतुषु स्थपत्यसिद्धायुदिते च वारणे ।
अवहिष्यन्ता मन्त्रगणस्य मायंता तदर्थमेतत्सलु शास्त्रमर्थंवत् ॥

पष्ठ-पाद

अथापि इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते । 'अवसाय पद्धते रुद्र मृळ' इति । पद्धत् अवसम् । गाव. पथ्यदनम् । अवतेः गत्यर्थस्य । असो नामकरण । तस्मात् न अवगृह्णन्ति । 'अवसायाश्वान्' इति । स्यति. उपसृष्टो विमोचने । तस्मात् अवगृह्णन्ति ॥

मुनः, इस (निष्कृत) के विना [सन्धिवद्ध] पदों का विभाग नहीं होता । 'हे एह ! पैरवाले भोजन पर कृपा करो' (ऋ० १०।१६।१।१) । पैरो से युक्त भोजन = गायें, जो रास्ते वा भोजन हैं । गति-जयवाले, √बद्ध से 'अस' प्रत्यय लगा जो सज्जा बनाता है । इसलिए [पद-कार] इसका प्रहण नहीं करते । 'धोड़ो को खोलकर' (ऋ० १।१०।४।१३) । उपसर्ग के साथ (उपसृष्ट) √सो छोड़ने के अथ में होता है, इसलिए [पद-निभाग को] प्रहण करते हैं ॥

विशेष— पहले उदाहरण में 'अवसाय' एवं पद है, पद पाठ करनेवाले यही पद विभाग नहीं मानते क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति है √बद्ध + अस । किन्तु दूसरे उदाहरण में 'बद्ध' और 'साय' अलग पद माने याएं हैं । निष्कृत जाननेवाला ही पदों का विभाग कर सकता है ।

'दूतो निश्चृंत्या इदमा जगाम' इति । पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा पठुर्थर्थप्रेक्षा वा । आ-कारान्तम् । 'परो निश्चृंत्या आ चक्ष्व' इति । चतुर्थर्थप्रेक्षा । ऐक्यरान्तम् । पर सनिकर्पं सहिता । पदप्रकृति. सहिता । पदप्रकृतीनि सर्वचरणाना पार्पदानि ॥

'निश्चृति से, या निश्चृति वा दूत आया' (ऋ० १०।१६।५।१) । पञ्चमी या पष्ठी के अर्थं का निर्देश 'आ' है (निश्चृति+आ) । 'पोछे—निश्चृति को दूहो' (ऋ० १०।१६।४।१) । चतुर्थी के अर्थं का निर्देश 'ऐ' है । अत्यन्त यमीर हो जान को सहिता कहते हैं या पदों के स्वामाविक रूप को सहिता कहते हैं (शब्दप्रानि० ३।१) । [वेद की] यमी दायाश्रो के प्रानितात्म ऐ अहं मूल में पद ही है । [पद के विना अहं की व्याख्या असम्भव है ।]

विशेष—चरण=वेद की शाखायें, उनके विभिन्न सत्त्वरण। पापंद=प्रानिशारद अवान् वैदिक पदगाठ का नियम बतलानेवाला प्रत्यय। 'सहिता' की पहली परिभाषा पाणिनि (१४१०९) म भी है जिसे उन्होंने अष्टप्रातिशास्य से लिया है ॥

अथापि याज्ञे देवतेन वहव. प्रदेशा भवन्ति । तद् एतेन उपेक्षितन्यम् । ते चेद् द्रूयु-‘लिङ्गज्ञा अन्तस्म.’ इति । ‘इन्द्र नत्वा शब्दसा देवता वायु पृणन्ति’ इति । वायुलिङ्गं च इन्द्रलिङ्गं च आप्येये मन्त्रे । ‘अस्मिरिव मन्यो त्विपित सहस्व’ इति । तथा अस्मि मान्यवे मन्त्रे । त्विपित ज्वलित । त्विपिरिति अपि अस्य ॥ दीप्तिनाम भवति । अथापि ज्ञानप्रशसा भवति अज्ञाननिन्दा च ॥ १७ ॥

इसके अलावे यज्ञकम म देवताओं के विषय म बहुत-सी विधियाँ (प्रदेश) होती हैं । उन्हें इस (निरुक्त) के द्वारा देखें । वे (निरुक्त के ज्ञाता) कहते हैं कि हम इस विषय म (देवताओं के) चिह्न पहचानते हैं । ‘तुम्हें बल के कारण देवता लोग इन्द्र सा या वायु सा पूजते हैं’ (कृ० ६।४७) । यहाँ अग्नि के मन्त्र मे वायु और इन्द्र के चिह्न हैं । हे मन्त्रु (क्रोध देव), प्रज्वलित होकर अग्नि सा विषय पाओ (कृ० १०।८।४२)—उसी प्रकार मन्त्र के मन्त्र मे अग्नि [का चिह्न है] । त्विपित=उचलित । त्विपि' भी इसी से होता है जो दीपि का पर्याय है ।

इसके अलावे ज्ञान की प्रशसा और अज्ञान की निन्दा होती है ॥ १७ ॥

स्थाणुरय भारहार किलाभूदधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम् ।

योऽर्थज्ञ इत्सकल भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविघूतपाप्मा ॥

(य) जो (वदम्) वेद को (अधीत्य) पढ़कर (अर्थम्) अर्थ (न विजानाति) नहीं जानता, (अय) वह (स्थाणु) सूखा चूक्ष (विल) वस (भारहार) भार ही ढोनेवाला (अभूत) हुआ । (य अर्थज्ञः) जो अथ जाननेवाला है (स्वलम्) समूचे (इत्) ही (भद्रम्) कल्याण को (अश्नुते) पाता है, वह (ज्ञानविघूतपाप्मा) ज्ञान से पापो को धोकर (नाशम्) स्वर्ग (एति) जाना है ॥

यद् गृहीतमविज्ञात निगदेनेव शब्द्यते ।

अनसाविव शुष्कैघो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

(पद) जिसे (गृहीतम्) पाया = रट लिया, पर (अविज्ञातम्) समझा नहीं, वह केवल (निगदेन) शब्द से (एव) ही (धन्वते) ध्वनित होता है । (तत्) वह (शुष्कं च) सूखी लकड़ी (अनामी इव) जैसे अग्निहीन रथान में (कहिंचित्) कभी (न) नहीं (ज्वलति) जलनी ।

विशेष—जिसे केवल रट लिया गया है उसका फल पाठ्मात्र में ही है याद में नहीं इसलिए धर्यज्ञान आवश्यक है ।

स्थाणु. तिष्ठुते । अर्थ. अर्ते । अरणस्य. वा ॥ १८ ॥

स्थाणु. स्था (बैठाना) से अर्थ. अह (जाना) से या. अ+स्था से बनना है । १८ ॥

उत त्व. पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व. शृण्वन्त शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्व विससे जायेव पत्य उशती सुवासा ॥

(उत) भोग (इव) कुछ तो (याचम्) याजो को (पश्यन्) देखते हुए भी (न) नहीं (ददर्श) देखते; (उत त्व) और कुछ (एनाम्) इसे (शृण्वन्) सुनते हुए भी (न शृणोति) नहीं सुनते । (उतो त्वस्मै) और कुछ को तो वह (तन्वम्) चरीर (विसस्मै) लोल देती है, दिखाती है, (उशती) वासना करने वाली (सुवासा) सुगंदर दरहे पहने हुए (जाया इव) वर्णी जैसे (पत्ये) पति को [चरीर दिखाती है ।] (क० १०७१४) ॥

विशेष—इस मन में वह दवरभज्जिष्ठा है—शृणोतिएनाम्, तुत्रस्मै, ततुन यहौ । तभी एन्द की रक्षा सम्भव है । विसस्मै. मृद-छोड़ देना, लोल देना ।

अपि एक पश्यन् नं पश्यति वाचम् । अपि च शृण्वन् न शृणोति एनाम् । इति अविद्वांसम् आह अद्वन्म् । अपि एकस्मै तन्वं विससे इति स्वम् आत्मानं विवृणुनो ज्ञानम् । प्रकाशनम् अर्यस्य आह अनया वाचा । उपमा उत्तमया वाचा । जाया इव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु । यथा म एनां पश्यति स शृणोति । इति अर्यंजप्रशंसा । तस्य उत्तरा भवसे निर्वचनाय ॥ १९ ॥

और कुछ वाली को देखते हुए भी नहीं देतते, और इसे सुनते हुए भी नहीं गुनते—इन आदेष में शूल के विषय में बहा है: और कुछ के लिये चरीर सोन देनी है अर्थात् ज्ञान असने बाप को प्रशायित कर देता है—इस वाच्य से अर्थ वा प्रशायन दर्शाया गया है । अतिम बायप से उपमा दरलाई गई है । जैसे दवाया करनी हुई सुवासा वनी ऋतुशाल में दर्ति को { परीर नोणों

। जैसे वह इसे (पत्नी को) देखता है और सुनता है । यह अर्थं जानने वाले की प्रशंसा है ॥ इसके बाद की ऋचा स्पष्टतर उदाहरण के लिए है ॥ ११ ॥

विशेष—यहाँ पर प्रत्येक पक्ति के लिए यास्क की टिप्पणी (Comments) ध्यान देने योग्य है ॥ १६ ॥

उत त्व सख्ये स्थिरपीतमाहुनैन हिन्दन्त्यपि वाजिनेपु ।

अथेन्वा चरति माययैप वाच शुश्रुवां अफलामपुष्पाम् ॥

(उत) और (त्व) कुछ नो (सख्ये) वाणी की मित्रता के निषय में (स्थिरपीतम्) सुनिश्चित ज्ञान वाला (आहु) कहते हैं, (एव) उसे (वाजिनेपु) बठिन शब्द के स्थानों म (अपि) भी (न) नहीं (हिन्दन्ति) हरा सकते । (एव) दूसरे ये लोग (अथेन्वा) जूठी गाय की (मायया) माया से (चरति) चलते हैं, ये (अफला) फलरहित (अपुष्पाम्) फूल-रहित (वाच) वाणी को (शुश्रुवान्) सुने हुए होते हैं । (ऋ० १०।७।१५) ॥

विशेष—सभी प्राचीन व्याख्याकारी के अनुसार इस ऋचा में आवा अर्थं ज्ञ की प्रशंसा करता है, आधा अर्थं न जाननेवाले की निन्दा करता है । परन्तु धीराजवाढ़े एक सुझाव देने हैं कि पूरी ऋचा में ज्ञूठे कवि का वर्णन है । सख्य = कवि का कर्म । स्थिरपित = जिसका ज्ञान स्थिर है, नई सृष्टि में असमर्थ । वाजिन = कवियों की समा । कुछ कवि अपने कर्म में स्थिर ज्ञान-वाले हैं, नई कविता की रचना नहीं कर सकते इसलिए सभाभ्रो में लोग उहे नहीं भेजते ॥

अपि एक वाक्सख्ये स्थिरपीतम् आहु । रममाण विपीतार्थम् । देवसख्ये रमणीये स्थाने इति वा । विजानार्थं य न आप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेपु वलवत्सु अपि । अथेन्वा हि एष चरति मायया वाक्प्रतिस्थपया । न अस्मै वाग्मान् दुर्घेव वाक् दोह्यान् देवमनुप्यस्थानेपु । यो वाचं श्रुतवान् भवति अफलाम् अपुष्पाम् इति । अफला अस्मै अपुष्पा वाक् भवति इति वा । किञ्चित्पुष्पफला इति वा । अर्थं वाच । पुष्पफलमाह । याजदेवते पुष्पफले । देवताध्यात्मे वा ॥

यन्म से मित्रता के विषय में (जैसे कविनादि) कुछ लोगों को मिथरपीत अर्थात् रमण करनेवाला या अर्थं जाननेवाला बहा गया है । अर्थवा देवता की मित्रता से बुक्त रमणीय स्थान (देवलोक) में । अर्थं जाननेवाले की

समानता [दूसरे लोग] वचन के द्वारा ज्ञेय कठिन—[हयले] म भी नहीं कर सकते । यह (दूसरा) ऐनु हीन होकर भाषा से वाणी के भ्रम मे चलता है । देवो और मनुष्यों के बीच दूहो जानवाली (दो जानवाली) कामनाओं को, वाणी, ऐस व्यक्ति को प्रदान नहीं करती । जो कठ और पूल से रहित वाणी को मुने हुए होता है, या वाणी उसके लिए फल और कूल से रहित हो जाती है । अपवा योड़ा फूल फलवाली हो जानी है । वाणी के वर्ण को पूल-फल कहा गया है । यज भोट देवता के ज्ञान क्यथ पूर्व और कन है अपवा देवताज्ञान और ज्ञान ही [पूल कल है] ॥

‘साक्षात्कृतधर्मणि ऋषयो वग्नुव् । ते अवरेभ्य असा-
क्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सप्रादु । उपदेशाय ग्लायन्त
अवरे विलमग्रहणाय इम ग्रन्थं ममाभ्रासिषु । वेद च वेदाङ्गानि
च । विलम = भिलम् । भासनमिति वा ॥

ऋषिगत वर्मं का साक्षात्कार किये हुए थे । उहात वर्मं का साक्षात्कार न किये हुए दूसरे लोगों को उपदेश द्वारा मन दिय । उरदेश [की रक्षा] म कट्ट पाठे हुए उन दूसरे लोगों ने वर्गीकरण के लिये यह ग्रन्थ, वेद और वेदांग बनाये । विलम = भिलम (भेदन) या भासन (चमकना) स ॥

विशेष—वा० वेलवलकर इन पत्तियों से व्याकरण धार्ता की हीन अवस्था ओ का निर्देश करते हैं । देखिये—Systems of Sanskrit Grammar पृष्ठ ६ (‘Three Periods of intellectual development’)

‘एतावन्त समानकर्मणो धारत्वं । धातु दवाते । ‘एता-
वन्ति अस्य सत्त्वस्य नामवेपानि’ । ‘एतावत्ताम् अर्यनिमाम् इदम्
अभिधानम्’ । नैषपृक्मिद देवतानाम । प्राधान्येन इदमिति ।
तत् अन्यदेवते मन्त्रे निपतति नैषपृक्त तत् । ‘अश्व न त्वा
वारवन्तम्’ । अश्वमिव त्वा वालवन्तम् । वाला । दशवारणार्थी
भवन्ति । दशो दशते ॥

‘इनने धातु समान वर्धन्वान् है’ । धातु च (धारण) से । इतने नाम इस वस्तु के हैं, ‘इननी वस्तुओं का यह नाम है’—यह देवता के नाम से सम्बद्ध नैषपृक्त है । यहाँ [देवता का नाम] प्रशनउपरा होता है । जब दूसरे देवता वाले मन्त्र में आता है वह भी नैषपृक्त ही है । ज्येष्ठे—[हे बगि !] तुम्हें वालवाल घोड़े के ममान (अठ० १२४।१) । धातु दश से वचानेवाले हैं । दश च (शास्त्रा) से ॥

विशेष—यद्यपि नेघण्डुक का सक्षम यास्क देते हैं परन्तु यह कहीं मिलता नहीं, कहीं तो देवता मुख्य रहते हैं, कहीं दूसरे के मन्त्र में स्थान पाते हैं? उपर्युक्त मन्त्र में अग्नि के मन्त्र में 'अश्व' आ गया है। अश्व के मुख्य गुण (केवल होना) अग्नि के गुण हो गये हैं ॥

'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' । मृगः इव भीमः कुचरः गिरिष्ठाः । मृगः मार्णः गतिकर्मणः । भीमः विभ्यति अस्मात् । भीष्मः अपि एतस्मादेव । कुचरः इति चरति कर्म कुत्सितम् । अथ चेत् देवताभिधानं, क अयं न चरति इति । गिरिष्ठाः गिरिस्थायो । गिरिः पर्वतः । समुद्रीणो भवति । पर्वतान् पर्वतः । पर्वतः पूर्णते: प्रीणते: वा । अर्वमारपर्वं देवान् अस्मिन् प्रीणन्ति इति । तत्प्रकृति इतरत् सन्विसामान्यात् । मेघस्थायी । मेवोऽपि गिरिः एतस्मात् एव ॥

'मृग-सा भयहर, कुचर और पहाड़ पर बैठनेवाला' (ऋ० १०।१८।१२) । 'मृग' गति अर्थवाले नार्जि से । 'भीम' = बिससे ढरे (भी), नीम भी इसी से । कुचर = बुरे ढंग से चलना । यदि देवता का अर्थ ले तो 'वही यह नहीं खड़ा'—[यह निर्देश होगा] । गिरिष्ठाः = गिरि पर बैठनेवाला । गिरि = पर्वत क्योंकि ऊँड़-हाड़ (समूद्र ग) होता है । पर्वत = पर्वं (सधि) से पुक़ । 'पर्वं' ग (मरना) या ग्री (प्रयत्न करना) से । अर्यमासपर्वं = जिसमें देवताओं को प्रसन्न करें । इसी के आधार पर अर्य (अर्य) सधोग की समानता के बारें होते हैं । [देवता-परा में]—मेघ पर बैठने वाला; मेघ भी इसी बारें से गिरि कहलाता है ।

तद् यानि नामानि प्रावान्यस्तुतीनां देवतानां तद् दैवतम् इति आचक्षते । तद् उपरिण्यत् व्यास्यास्यामः । नैघण्डुकानि नैगमानि इह इह ॥ २० ॥

जो नाम प्रथान् स्तुतिवान्के देवताओं के हैं, उसे देवत बहते हैं । उसी व्याख्या बाद में कहेंगे (नि० ७-१२ वर्षाय) । यहाँ पर नैघण्डुक और नैगम के नामों की [व्याख्या करेंगे] ॥ २० ॥

विशेष—अध्याय के मन्त्र में 'इह' शब्द जी दिखति हूई ॥ २० ॥

‘इति निष्कृते प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीय अध्याय

प्रथम-पाद

अथ निर्वचनम् । तदेषु पदेषु स्वरसंस्कारौ संमधौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्, तथा ताँनि निर्बूयात् । अथ अनन्विते अर्थ, अप्रादेशिके विकारे अर्थनित्य, परीक्षेत केनचित् वृत्तिसामान्येन । अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षंत्वर्णसामान्यात् निर्बूयात् । न तु एव न निर्बूयात् । न संस्कारम् आद्विषेत । विशयवत्य, हि वृत्तय, भवन्ति । यथार्थं विभक्ती, सन्मेयेत् ॥

बहु निर्वचन भारतम् होता है । तो जिन तम्हर्ते मे हवद और बनावट अर्थ के युक्त होकर, अपने अपीलस्प अर्थ यथाधी (प्रादेशिक) विचार से समझ हो, उत्ता निर्वचन उत्ते के अनुसार ही करें (१) । किन्तु [शब्द मे दिवलाई पड़नेवाले घातु का] अर्थ अंसगम हाँैं पर या [शब्द का अर्थ रखनेवाले घातु मे उत्ता दाढ़ की अपूर्णति करने के] विचार (आंतरिक अपितृत्व) के विवरण-सम्बन्ध म होने पर किसी लो (घातु का या सम्बद्ध का) की संमानता से अर्थ की हत्ता भाँव छैं (२) । इस प्रकार को समानता न मिलने पर किसी हवद या शब्दवर को समजना देखकर निर्वचन करें (३) । किन्तु ऐसा न हो कि निर्वचन ही न करें । व्यावरण की अपूर्णति का सहारा न के चर्योंति ऐसा (तेजा या त्रिया की वनावट) सन्देहात्मक होते हैं । [जट्टाओं की व्याख्या के समय] अथ के अनुसार विभक्तिया को बदल दें ॥

क्विरोप—निर्वचन=अपूर्णति द्वारा अर्थ बतलाना; “राम” शब्द की अपूर्णति है, $\sqrt{रम} + \sqrt{धम}$ (अ), किन्तु निर्वचन है “रमन्ते योगिनो यसिमन्”—इसम पातु के साथ अर्थ वा भी जान हो जाना है । यास्क निर्वचन करने के लिए तीन निर्धन बनलाने हैं (१) याग, यात्र यादि शब्दों का निर्वचन तो गायारण चीजि हो ही सम्भव है । (२) कमो-कमो जो पातु हवद मे दिवलाई पहना है उग्रा अर्थ शब्द मे नहीं, जैसे “हृष्ण” मे $\sqrt{हृ}+स्$ (अवरित अर्थ) । कमो-कमो ऐसा है जि क्रिया पातु मे उत्त शब्द वा अर्थ है उत्त पातु मे उत्त शब्द वी “पूर्णति वा” मे व्यावरण वाया पूर्णपाता है जैसे “पूर्ण” मे $\sqrt{हृ}+न$ (भ्रम-

देशिक विकार)—ऐसी दशाओं में हम दोनों के रूपों की तुलना करेंगे कि कहीं समानता है या नहीं जैसे—हत् से निषट् बना क्योंकि 'हत्' का कहीं कहीं 'ध्' भी होता है। (३) यदि ऐसा अवसर भी न मिले तो एकाध अक्षर (स्वर) या वर्ण (व्यञ्जन) की समानता देखकर भी निर्वचन करें। जैसे 'षृण्' का निर्वचन—शम् (मारना) से केवल 'श' की समानता पर। इन तीन नियमों का पालन यास्क सदा करते हैं। निर्वचन न करना अपनी मूखता प्रकट करना है—आखिर निरुक्त है किस लिए? वभी-कभी वेदिक मनो में ऐसी विभक्तियाँ मिलती हैं जिनका कार्य सकृत में दूसरी विभक्तियाँ करती हैं। उन्हें तदनुसार बदल देना चाहिए। यही यास्क भाषा के परिवर्तन का सबैत कर रहे हैं। इसी प्रकार 'स तस्मै कथयति' वा अनुवाद 'वह उससे कहता है' परते हैं। यास्क का यह अपूर्व अनुमेय (Observation) है। इसीक अनुसार वे 'हृष्टु' वे 'हृष्ट्यानि' कर देते हैं॥

प्रत्तम् अवत्तम् इति घात्वादी एव शिष्येते । अथापि अस्ते निवृत्तिस्थानेयु आदिलोपो भवति—स्त सन्तीति । अथापि अन्तलोपो भवति—गत्वा गतमिति । अथापि उपधालोपो भवति—जग्मतुः, जग्मु इति । अथापि उपधाविकारे भवति—राजा दण्डी इति । अथापि वर्णलोपो भवति—'तत्त्वा यामि' इति । अथापि द्विवर्णलोप—तृच्च इति । अथापि आदिविपर्यंयो भवति—ज्योति, घन, विन्दु, वाट्ध इति । अथापि आद्यन्तविपर्यंयो भवति—स्तोकरुः, रज्जुः, सिकता, तकुं इति । अथापि अन्तन्यापत्ति भवति ॥ १ ॥

'प्रत्त' और 'अवत्त' में पातु (√दा) वा पहला अक्षर (८) ही बचता है। गुण और छृड़ि से रहित न्यायों में (Weak terminations) अग् का पहला अक्षर युक्त हो जाता है—८नः, यन्ति। वहीं पर अनिम अक्षर वा लोप होता है—गत्वा, गतम् (√गम्)। कहीं उपरा वा लोप होता है—जग्मतु (गये) जग्मु (गये बहु०) (√गम् के 'त्र' वा लोप)। एठी उपरा में परिवर्तन होता है—(राज्ञ् में) राजा, (दण्डिन् में) दण्डी। कहीं वर्ग वा लोप भी होता है—तत्त्वा यामि (त्वाम् के 'म्' वा, या 'त्' वा लाप)। दो वर्षों वा भी लोप होता है—तृच्च (त्रूच् में र् और य् वा लोप)। आदि वर्ण वा भी परिवर्तन होता है—ज्योति (√यू०), घनः (√हृ००),

बिन्दु (√भिद्) चाड़य (√वट) । आदि और अन्त—शेष का भी परिवर्तन (Metathesis) हासा है—स्थान (√स्थूँ) रजु (√मृग्), उठना (√क्षुँ) तकुं (इत्) । वही अन्त का भी परिवर्तन होता है ॥ १ ॥

विशेष—प्रत = प्र + √दा+क = प्रददत = प्रदत = प्रत । देखिय पाणिनि ० 'दो ददो,' (७।४।४६) तथा 'अच उपसर्गात् त' (७।४।४७) । निवृति-स्थान = जहाँ गुण और वृद्धि न हो, पातु मूलवस्था म हो । आधुनिक भाषाविज्ञान म इस Weak Termination कहते हैं । उपर्या = अंतिम से पूर्वदण (Penultimate) जैस—गम् म 'अ' । उपर्याविकार—राजन म 'अ' वा 'अ' लोप हो जाता है—राजा । वर्णलोप—पुण् पहुते हैं कि 'दक्षामि' के 'च' का लोप हुआ, परन्तु 'च' प दो वच है । निष्ठाके एवं प्राचीन दीक्षाकार महस्तर वहते हैं कि 'दनित्वा' के 'नि' का लोप हुआ, 'पर्वत्' मही भी वही बात है । मैरा विचार है कि या हो 'तत् + त्वा' के एक त् का लोप हुआ (तत्त्वा) मध्यवा 'तत्त्वम्' के 'म्' का । वर्ण वा वर्ण कारव्यज्ञन लिया है, उहाँ भी निवाह हो जाता है । आद्य तदिपद्य—स्थूँ त् + च + उ + त् सूक् उ त् (विपद्य) त् + च—स्थुँ स्थूँ रस्तु रजु । ये सभी परिवर्तन Sporadic Changes के अ उर्गंत आते हैं (देखिये, मूलिका) ॥ १ ॥

ओव, भेद, नाव, गाव, वधू, मधु इति । अयापि वर्णोप्त-
जन—आस्यत्, द्वार, भस्त्रा इति ॥ तद् यत् स्वरात् अनन्तं-
रान्त स्थान्तर्यात् भवति, तद् द्विप्रकृतीना स्थानमिति प्रदि-
शनित । तत्र मिद्धायामनुपवयमानायाम् इतरया उपभिपादयिपेत् ।
तत्रापि एके अल्पनिष्पत्तय भवन्ति । तद् यथा एतत्—ऊति,
मृदु, मृथु, पूषत्, कुणारम् इति ॥

जंसे लोप (√षट्) लेप (√मिह्), नाप (√नह्) गाप.
(√गाद्) वपु (√वह्), मपु (√वद्) । वही वर्ण वा आगमन भी होता है—प्रास्पत (√अस् म य् का आगमन), द्वार (√१), भस्त्रा (भस्त्र) ।

जही स्वर म अव्यवहित अन्त स्थ वर्ण (य र ल व) पातु के भीउत रहे, वह हो प्रानिवाले ददार (गम्प्रसारण) वा स्थान है—ऐसी, वहते हैं । जर लिह पातु अमिट हो जावे तद् लिमी दूषरे (पातु) ने उसही घुसनि करे ।

वहाँ भी कुछ शब्द अत्यंपरिवर्तनवाले हैं जैसे, ऊरि (\checkmark अव्) मृडु (\checkmark घट), पृष्ठः (\checkmark प्रथ्), पृथत् (\checkmark प्रथ्), कुणारू (\checkmark ववण्) ॥

विशेष—द्विप्रकृति स्थान—सप्रसारण जिसमें 'य् य् र् ल्' का 'इ उ ऊ ल्' ही जाता है। जब धातु में स्वर के अनन्तर कोई अन्त स्थ वर्ण आये तो उसका दो प्रकार का रूप हो जाता है— \checkmark यज से यष्टा, यष्टुं तथा \checkmark इज् से इट्, इष्टि । \checkmark यज् में य् (अन्त स्थ) और अ (स्वर) के बीच में कोई व्यवधान नहीं। यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है वयोकि याच्, यम्, रम् आदि सप्रसारण की प्रक्रिया से रद्दित धातुओं में भी यह ही जायगा। उपरिपादयिते—सन् प्रत्यय व्यथं है परन्तु यह उस युग का व्यवहार रहा होगा ॥

अथापि भाषिकेभ्यः धातुभ्यः नैगमाः कृतः भाष्यन्ते ।
इमूलाः धोवसाधाः इति । अथापि नैगमेभ्यः भाषिका । उप्णिं
घृतमिति । अथापि प्रकृतय एव एकेषु भाष्यन्ते, विकृतम् एकेषु ।
शवति. गतिकर्मि कम्बोजेष्वैव भाष्यते । कम्बोजाः कम्बलभोजाः ।
कमनीयभोजा वा । कम्बलः कमनीयो भवति । विकारम् अस्य
आसेषु भाष्यन्ते । शव् इति । दाति. लवनायै प्राच्येषु । दात्रम्
उदीच्येषु । एवम् एकपदानि निर्व्यात् ।

कभी-कभी सत्तृत (भावा) के धातुओं से वैदिक हृष्टत बनते हैं जैसे—
इमूला (\checkmark दम्), धोवसाधा (\checkmark साध्) । कभी वैदिक (धातुओं) से
संस्कृत के हृष्टन बनते हैं जैसे—उण (\checkmark उप॒ न जसाना), षृन (\checkmark पृष्ठ
भासा, भमक) । इसके लक्षाते प्रहृति को एक स्थान से बोलो हैं, विहृति को
दूसरे स्थान में । गति अर्थवाला \checkmark शव् कम्बोज देश में बोला जाता है ।
कम्बोज = कम्बल का उपभोग करनेवाले, कमनीय द्रवयों वा उपभोग करने-
वाले । कम्बल कमनीय (सुग्दर) होता है । इससे बन शब्द को (विहृति)
भार्यदेश में बोलते हैं—शव (मृत देह) । उसी प्रकार \checkmark दा = काटना, प्राच्य-
देश में और 'दात्र' को हिन्दीच्य-देश में बोलते हैं । इन प्रारं एक पदवाले
शब्दों का निवेदन करें ॥

अथ तद्दितसमासेषु एकपर्वमु च अनेकपर्वमु च पूर्वं पूर्वम्,
अपरम् अपर प्रविभज्य निर्व्यात् । दण्डः पुरप; । दण्डमहंति
इति वा । दण्डेन मंपद्यते इति वा । दण्डो ददते. धारयतिकर्मण् ।

‘अक्रूरो ददते मणिम्’ इति अभिभाषन्ते । दमनात् इति औपम-
न्यवः । ‘दण्डमस्य आकर्पत्’ इति गहायाम् ॥

एक या अनेक सन्धि (पवं) वाले तदित या समाप्त मे पहले पूर्ववाले
(= तदित या समाप्त) का दण्ड करे, याद मे उनका निर्वचन करे । जैसे—
(तदित)—दण्डप् पुरुषः=दण्ड के योग्य् या दण्ड से युक्त । ‘दण्ड’ √दद =
घारण करना, से बना है । लोग बोलते भी हैं—अकूर मणि घारण करता है ।
‘औपमन्यव के मत से √दम् (दवाना) है । निन्दा मे कहते हैं—‘इसका
दण्ड छीन लो’ ॥

कक्षया रज्जुः अश्वस्य । वदां सेवते । कक्षो गाहते । कक्षः
इति नामकरण । स्यातेः वा । अनर्थक् अभ्यासः । विम् अस्मिन्
स्थानमिति । कपुतेः वा । तत्सामान्यात् भनुष्यकक्ष । वाहुमूल-
सामान्यात् अश्वस्य ॥ २ ॥

कक्षा=थोड़े की रसी, बर्फोंकि कौल मे लगी रहनी है । ‘कक्ष’ √गाह्
से बना, ‘कक्ष’ नाम बनानेवाला प्रत्यय है । जबवा √ह्या से बना है जिसमे
द्वित्व (अभ्यास) निरपेक्ष है (स्वासग-ह्याश-कक्षया) । या “इसमे क्या
कहना ?” से बना हो । या √वप् (सुन्नताना) से । इसी की समानता से
मनुष्य की कौल होती है । दाहुओं के मूल की समानता के कारण व्यावहार का
[भी कक्ष होता है—उसमे रहने वाली ‘कक्षया’] ॥ २ ॥

राज्. पुरुष. राजपुरुष । यजा राजतेः । पुरुषः पुरिपादः,
पुरिशय, पूरयते. वा । ‘पूरयति अन्तः’ इति अन्तरपुरुषमभि-
प्रेत्य । यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति
किञ्चित् । वृक्ष इव स्तव्यो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेद पूर्णं पुरुषेण
सर्वम् ॥ इत्यपि निगमो भवति ॥

राजा का पुरुष-राजपुरुष । राजा √राज् (शोभना) से, ‘पुरुष’ = पुर
(एरीं या तुदि) मे बैठनेवाला, पूर मे चकन करने वाला, या पूरुष् (पूरा
करना) से बना है । जब व्यक्ति को लक्ष करके कहा जाता है तब वहते हैं
‘जो भीतर को भर देता है’ । “जिससे ऊँचा या नीचा कुछ नहीं है, जिससे
छोटा या बड़ा कुछ नहीं है । एवं मे जो दृष्टि के समान स्पृह होकर खोला

उहरा है, उसी पुरुष के द्वारा यह समूचा (निश्च) मरा हुआ है।" (श्वेता० उप० ३१९)—यह उदाहरण भी है ॥

विश्वकद्राकर्प । वि इति, चकद्र इति श्वगतौ भाव्यते ।
द्राति इति गतिकुत्सना । कद्राति इति द्रातिकुत्सना । 'चकद्राति'
कद्रातीति सत अनर्थकोऽभ्यास । तदस्मिन् अस्तीति विश्वकद्र ।
[विश्वकद्रमाकर्पति इति विश्वकद्राकर्प ।] कल्याणवर्णरूप ।
कल्याणवर्णस्य इवास्य रूपम् । कल्याण कमनीय भवति । वर्णो
वृणोते । रूप रोचते ॥

'विश्वकद्राकर्प' [का निर्वचन]—वि, 'श्वद्र' का प्रयोग कुत्से की गति
के अर्थ में होता है । 'द्राति'=गति की निष्ठा, 'कद्राति'='द्राति' की निष्ठा ।
'कद्राति' से निरर्थक द्विश्व (अभ्यास) करके 'वकद्राति' बना । वह (अत्यन्त
कुत्सित गति) जिसमें है वह—विश्वकद्र । [उसे आकृष्ट करते वाला विश्वक-
द्राकर्प = नगररक्षक] । कल्याण वर्णरूप—वस्त्याशब्द के समान जिसका
रूप हो । कल्याण = कमनीय (सुन्दर) । 'वर्ण' √ दृ (चुनना) से और
'रूप' √ रच् (अच्छा लगना) से ॥

विशेष—पाठ्क ने एक आदर्श रूपा किंतु दिति और समास का किस प्रकार
निर्वचन करें । तदितान्त के नमूने हैं—दण्डय' और 'कथ्या' । समास के नमूनों
में 'राजपुरुष' दो पदों का, 'वस्त्याशब्दरूप' तीन पदोंका, विश्वकद्रःरूप' तदित
और समास दोनों का उदाहरण है । दुर्गचार्य के अनुसार वि और श्वद्र दोनों
कुत्से की गति बतलाते हैं किन्तु यास्क वा यह भत नहीं । 'वि' तदित का चिह्न
है, पहले होने के कारण 'वि' को पहल लिखा गया है, वस्तुत शब्द में तो
यह तब जुड़ा है जब 'तदस्मिन्' कहकर तदित निर्देश किया गया है । वैदिक
भाषा में वर्दि शब्दों के आदि में स(श)धार पा जो बाद में लुप्त हो गया, इसमें
उदाहरण कुछ शब्दों में मिलते हैं । 'श्वद्र' वैसा ही शब्द है, एवं श्वद्र (= घमकना,
तुल० हरि श्वन्द), स्पश् (= देखना, सुल० स्पश् चर, Eng Spy =
गुप्तचर)—बाद में ये श्वद्र, श्वद्र, पश्च हो गये । ये भी Sporadic
changes के उदाहरण हैं ।

एवं तदितसंमासान् निर्वूयात् । नैकपदानि निर्वूयात् । न अवै-

याकरणाय । न अनुपसन्नाय । अनिदिविदेष्वा । नित्य हि अविज्ञातु विज्ञाने असूया । उपसन्नाय तु निर्वृयात् । यो वा अलविज्ञातु स्यात् । मेधाविने, तपस्विने वा ॥ ३ ॥

इह प्रकार तदित और समास का निर्वचन करें । अकेले पदों का (विनाप्रकरण जाले हुए) निर्वचन करें । व्याकरण न जानेवाले के सामने शिष्यत्वकर न आनेवाले के सामने और इसे (विश्वक) न जानेवाले के सामने भी [निर्वचन] न करें वयोःकि बनानी पुण्य विज्ञान में सदा दोष खोजता है । शिष्य बनकर जानेवाले के सामने निर्वचन करें, या जो जानने में उमर हो, मेधावी हो, या सप्तस्थी हो ॥ ३ ॥

विद्या है वै द्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिट्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेष्यताय न मा द्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥
य आत्मण्यवितयेन कर्णविदुख कुर्वन्ममृत सप्रयच्छन् ।
त भन्येत पितर मातर च तस्मै न द्रुह्येत्कर्तमचनाह ॥
अध्यापिता ये गुरु नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोभीजनीयास्तथैव ताम्र भुनक्ति श्रुत तत् ॥
यमेव विद्या शुचिमप्रमत्त मेधाविन वह्यचर्योपपनम् ।
यस्ते न द्रुह्येत्कर्तमचनाह॑ तस्मै मा द्रूया निधिपाय व्रह्मन् ॥ इति ॥

ऐसे बार विद्या द्राह्मण से चोरो—‘मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि (पत) हूँ, दोष खोनेवाले टैट अक्ति या बस्यमी बो भुये न दो, जिससे मैं बलवती बनूँ । जो सत्य (अवित्य) के द्वारा, [दुख को] दुश नहीं समझते हुए समृत दान करते हुए, दोर्जे कान लोडते हैं, उन्हें माता पिता समझे, उनसे कभी देव न करे । जो दाह्याण पदाय जाने के बाद मन, वचन या इसमें से गुण का आदर नहीं करते, जिस प्रसार के लोग युद्ध के द्वारा मानवीय नहीं, मुना हुआ जान भी उन्हें नहीं मानता है (= जो जान नहीं पाते) । जिसे तुम पवित्र, प्रमाद न करनेवाला, मेधावी और ब्रह्मचर्य से युक्त समझो (विद्या), जो उभो तुमसे देव न करे, है बहान् । ऐसे निधि-पालक को ही मुझे दो ।’

निधि शेवधिरिति ॥ ४ ॥

निषि = सोविषि ॥ ४ ॥

विशेष—Bloomfield साहब अपने Vedic Concordance नामक प्रथम में प्रथम श्लोक का स्थान 'संहितोपनिषद् वाहृण' में बतलाते हैं। मनु ने इसी दी छाया ली है—

विचा वाहृणमेत्याहृ लोकविस्तरेऽस्मि रक्ष माम् ।

अमूर्यशाय मा मा दास्तया स्या वीर्यवस्या ॥ (मनु० २।११४)

पुनः य वाहृणोत्यवितर्चं द्रष्टव्या व्यवणामुभो ।

त मात्रा स पिता ज्ञेय त त द्रुह्णेत्र कदाचन ॥

ये श्लोक अन्तर परिवर्तने के साथ वसिष्ठपर्महम् ति (२।१४-१७) में भी हैं ॥४॥

द्वितीय-पाद

अयातोज्ञुञ्जमिष्याम । गौ इति पृथिव्या नामधेयम् ।
यत् द्वूरगता भवति । यत् च अस्या भृतानि गच्छन्ति । गते-
वा । ओकारो नामकरण । अथापि पशुनाम इह भवति ।
एतस्मादेव । अथापि अन्या तादितेन यृत्सन्वत् निगमा भवन्ति ।
'गोभि, श्रीणीत मत्सरम्' इति पदम् । मत्सरः सोमः । मन्दनेः
वृत्तिकर्मणः । गत्सरः इति लोभनाम । अभिमत्तः एनेन धनं
भवति । पय, पिवते, या, प्यायते, वा । धीर धरते:, परो-
या—ईरो नामकरणः । उद्दीरम् इति यथा ॥

बहु दृष्ट अस्य वर्णन दर्शने । (१) यी-पूर्विकों का पर्याप्त है बड़ों द्वारा तर तर गई (पंची, वृत्ति) है । अद्यता इसमें गढ़ी जीव जाने (इहते) है ।
या, वृत्ति (जाना) में 'ओ' नाम दर्शावेशाणा प्रत्यय लगा है । इसे अन्तर्वे-
षह (शोषाद) पानु का पर्याप्त है, वह भी इसी (जानु) में दर्शा है । केवल
.इसी (गो) के (=जानु के अन्दरकाने शीर्षदर्शने) तदिनार्थक प्रयोग में
होते हैं जैसे—'गो (-रुप) मे गोप वो दिना है' (मनु० ३।४५४) यह
इप वा अर्थ है । मन्दन = गोप वृत्ति दर्शनकाने वृत्ति मन्दन में दर्शा है । 'मन्दन' दोंप
वा पर्याप्त है । एवा (शोष) में जान जनने दर्शि मनवाने हुए रहते हैं (वृप०)
पंच-वृत्ति, वृत्ति-व्या (धीना) में । 'अंग' वृत्ति (दर्शन)

या च मूर् (लाना) से; 'दूर' भाग बनानेवाला प्रथम है, जिस प्रकार 'दूरीर'

(खस) बनता है ॥

विशेष—वस्तुतः निश्चल यही से आरम्भ होता है क्योंकि निषष्टु के दबद्दों की व्याहगा यही में आरम्भ होती है । याकृ निर्वचन की धून से इतने भतवाले हो जाते हैं कि विषय-वस्तु से बहुत दूर भटक जाते हैं । गौ का निर्वचन करते हुए—'मरसर' का दो तरह से निर्वचन, 'य' 'शीर'—जैसे शब्दों का निर्वचन भरना निष्चय ही विषयान्वय है । इन्तु यदि वे ऐसा नहीं करते तो उन्हें वर्ष शब्दों का ही निर्वचन हम जान पाते ॥

'अंशु दुहन्तो अध्यासते गवि' इत्यग्निषवणचर्मण । अंशुः शम्
काष्टमात्र भवति । अननाय दां भवतीति वा । चर्म चरतोः वा ।
उच्चुतं भवतीति वा । अथापि चर्म च इलेप्मा च । 'गोभिः
संनदो असि वीक्ष्यस्व'—इति रथस्तुतो । अथापि स्नाव च
इलेप्मां च । गोभिः संनदा पतति प्रसूता'—इति इपु स्तुतो ।
यथा अपि गौः उच्यते । गव्या चेत् ताद्वितम् । अय चेत् न
गव्या—गमयति इपू इति ॥ ५ ॥

'सोम को निषोड़ते हुए गौ (-चर्म) पर यठे' (अ० १०१४१)—
यही (सोम) चुक्षानेवाले घमडे का (अर्थ है) । अंशु-व्यास होते ही (अष्ट
शास्त्र) मूलव छोड़ते हैं (√मूर् + शम्), या जोवन के लिए मूलद है
(√अन् + शम्) : 'चर्म' √चर् (चलना) या उत्सूक्ष्म √चून् (काढना)
से बना । [गौ शब्द से] घमडे और कफ का भी [बोध होता है] । जैसे—
'गौ [मि घमडे और कफ] से दृढ़ हो गये हो, व्यग्रेष बनो' (अ० ६१४३१२६)—
यह रथ वा बग्नन है । [गौ शब्द से] ठाठ और कफ का भी [बोध होता है] जैसे—'गौ [के ठाठ और कफ] से दृढ़ होकर ढोइते ही उड़ता है'
(अ० ६१४१११)—वह चलन वा बग्नन है । यतु परी रस्मी भी गौ चहडे
है । यदि यह गौ के ठाठ से बनी है तो तदिग्नापेण समग्न [गौ—गौ के ठाठ
में बनी रस्मी] । यदि गौ के ठाठ से बनी (गव्या) नहीं तो [इय गौ'
ए । निषेच्छा होगा] तो बाखी को प्रेरित करे ॥ ५ ॥

'वृक्षे वृक्षे नियता भीमयदीस्ततो वय प्रपत्नन् पूर्वपाद ।'
(शो शो) यतुर यतुर य (नियता) वृक्षे हर्दि' (गौ) राखी

(मीमयत्) शब्द करती है (चत्) तब (पूरुषादः) मनुष्यों के भोजनस्वरूप
(वय) पक्षी (प्रस्ताव्) विरते हैं—(लेट् लकार्) (अ० १०।२७।२२) ॥

वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि । वृक्षो व्रश्ननात् । नियता मीम-
यत् गौः । शब्दं करोति । मीमयति. शब्दकर्मा । ततो वयः
प्रपतन्ति पुरुषान् अदनाय । विः इति शकुनिनाम् । वेतेः गति-
कर्मणः । अथापि इपुनाम् इह भवति । एतस्मादेव ॥

वृक्षे वृक्षे = हरेक पनुष में । 'वृक्ष' √वस्त् (छेदना) से । बैंधकर गौ
(धनुष की होरी) मीमयत् = शब्द करती है । √मि = भावाज करना । तब
पश्चिमण (वयः) मनुष्यों के साने के लिए विरते हैं । 'वि' पक्षी का पर्याय
है । √वी = जाना, से । यहाँ (गोशब्द) 'वाण' का पर्याय है । इसी धारु से
चना है ॥

आदित्योऽपि गौ उच्यते । 'उतादः परुषे गवि' । पर्वति ।
भास्वति इति औपमन्यव । अथापि अस्य एको रश्मिः चन्द्रमसं
प्रति दीप्त्यते । तद् एतेन उपेक्षितव्यम् । आदित्यतः अस्य दीप्तिः
भवतीति । 'सुपुम्णः सूर्यं रश्मिश्चन्द्रमा गन्धवः' इत्यपि निगमो
भवति । सोऽपि गौ उच्यते । 'अत्राह गोरमन्वत्' इति ।
तदुपरिष्ठात् व्याख्यास्याम् । सर्वेऽपि रश्मयः गाव उच्यन्ते ॥६॥

आदित्य भी 'गौ' कहलाता है जैसे—'वह उस चमकीले मण्डल में'
(अ० ६।५६।३) । [पहल] 'सुनिष्पुरुक्त' या 'औपमन्यव के' विचार से
'चमकीला' । उसकी एक छिरण चण्डमा की ओर चमकती है, उसे देखें ।
आदित्य से ही उसकी दीप्ति होती है । 'सुखद, सूर्यं किरण गन्धवं चन्द्रमा है'
(यजु० वा० स० १०।४०)—यह उदाहरण भी है । वह (चण्डमा) भी
गौ कहलाता है जैसे—'चन्द्रमा से समझा' (१।८।४।१५)—इसकी व्याख्या
वाद में करेंगे (निद० ४।२५) । सभी किरणें 'गौ' कहलाती हैं ॥ ६ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्चञ्जा अयासः ।

अत्राह तदुख्यायस्य वृण् परमं पदमव भाति भूरि ॥

(वा) तुम् दोनों के (ता = तानि) उन (वास्तूनि) परे पर (गमध्ये)

जाना (उभमसि) हम चाहते हैं, (यव) बहाँ (भूरिशुङ्गाः) बहुत कान्ति-
बाली रथा (अयासः) गतिशील (गावः) किरणे हैं। (अत्र अह) यर्हा
(उरगायस्य) विशाल मतिवाले (दृष्टेः) वृपम्=विष्णु का (रूप) वह
(परमं) सुन्दर (पदम्) स्थान (नृटि) अच्छी तरह, (अवभाति)
चमकता है ॥ (क्र० ११५४१६) ।

तानि वां वास्तुनि कामयामहे गमनाय । यव् गावः भूरि-
शुङ्गाः वहुशुङ्गाः । भूरि इति वहुनो नामधेयम् । प्रभवति इति
सतः । शुङ्गं अथतेः वा, शुणतेः वा, शङ्गतेः वा, शरणाय
उदगतमिति वा । शिरसो निर्गतम् इति वा । अयासः=अयनाः ।
तत्र तद् उरुगायस्य विष्णोः महागतेः परमं पदं परार्थस्यम् अव-
भाति भूरि । पादः पद्यतेः । तत्रिधानात् पदम् । पशुपादप्रकृतिः
प्रभागपादः । प्रभागपादसामान्यात् इतराणि पदानि । एवमन्ये-
पामपि सत्त्वानां सन्देहाः विद्यन्ते । तानि चेत् सनानकमर्णिणि
समाननिवंचनानि । यर्यार्यं निर्वक्तव्यानि ॥

हुम दोनों के उन निवास-स्थानों को जान की इच्छा [हम] करते हैं,
जहा। किरणे उत्पन्न कान्तियुक्त हैं। भूरि=वहुत, जो प्रभूत हो (√भू) ।
'शुग' √विं (उहरना) √शु (मारना) या √शम् (मारना) से बना है।
अथवा रारण (रक्षा) के लिए निकला हो (√शु + √गम्), या सिर से
निकला हो । अयासः = गतिशील (√इ) वही उरुगाय = विशाल मतिवाले,
विष्णु का, परमं सबसे ऊँचा, पद अच्छी तरह सबों पर चमकता है।
'पाद' √पद (जाना) से, उसीसे 'पद' भी बना है। पशु के पाद (पैर) के
आधार पर 'माग' { दुकडा } अर्थवाला 'पाद' होता है। 'माग' अर्थवाले पाद
से अन्य अर्थवाले 'पद' भी यनती हैं ।

इसी प्रवार दूसरी वस्तुओं के भी सन्देह हैं; यदि उनके अर्थं समान हैं तो
निवंचन भी समान होंगे। भिन्नार्थक होने पर निवंचन भी भिन्न होंगे। अर्थ
के अनुसार ही निवंचन करें ॥

इति इमानि एकविशतिः पूर्यवीनामधेयानि अनुक्रान्तानि ।
तत्र निर्झृति. निरमणात् । कृच्छ्रोः कृच्छ्रापत्तिः इतरा । सा
पूर्यित्वा सन्दिह्यते । तयोः विभागः । तस्या. एषा भवति ॥७॥

पृथिवी के ये इकोस नाम ऋषशः वर्णित हैं। (२) उनमें 'निक्रृति' निरुम (रमण करना) से बता है। यदि 'दुख (कृच्छ्रु) का आगमन (आपत्ति)' अर्थ हो तो इस से बता है। इस (अर्थ) का पृथिवी से सन्देह हो जाता है। इन दोनों (अर्थों) का विभाग करे, उग (निक्रृति) की यह (शूचा) है।

य इं चकार न सो अस्य वेद य इं ददर्श हिरुगिम्बु तंस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्वृहुप्रजा निक्रृतिमा विवेश ॥

(य) जो (ईम) इसे (चकार) उत्पन्न करता है, (स) वह (अस्य) इसे (न वेद) नहीं जानता; (यः) जो (ईम्) इसे (ददर्श) देखता है, (तस्मात्) उससे (हिरु) छिपा हुआ (इत्यु) ही है। (सः) वह (मातु) माता की, उत्तरण करने वाले की (योनी) योनि में (अत.) मौतर से (परिवीत) धिरा हुआ है, (वहुप्रजा) बहुत सन्तानों से युक्त होकर (निक्रृतिम) दुःख में (बा विवेश) प्रवेश करता है॥ (ऋ० १।६४।३२)।

विशेष—गैलडेनर का मत है कि इस शूचा में 'प्राणवायु' का वर्णन है, रौप्य तथा हॉग के अनुसार मेघ के गर्जन का वर्णन, दधूसन और हैनरी के अनुसार सूर्य पा वणम, और दुर्गचार्य बहु-सन्तान का वर्णन समझते हैं। याहूक मेघ का ही अर्थ लेते हैं।

वहुप्रजा कृच्छ्रम् आपद्यते इति परिद्वाजका । वर्णकर्म इति नैरुक्ता । य इं चकार इति । करोति-किरती सन्दिग्धौ वर्णकर्मणा । न सोऽस्य वेद मध्यम । स एवास्य वेद मध्यमो, यो ददर्श आदित्योपहितम् । स मातु योनौ । माता=अन्तरिक्षम् । निर्मायन्ते अस्मिन् भूतानि । योनि=अन्तरिक्षम् । महान् अवयव, परिवीत वायुना । अयमपीतरो योनि एतस्मादेव । परियुतो भवति । वहुप्रजा. भ्रमिमापद्यते वर्णकर्मणा ॥

बहुत सन्तानवाले दुख में गिरते हैं—यह परिद्वाजको (एक सम्प्रदाय) का क्यन है। निरुक्तकार कहते हैं कि वर्षा का अर्थ है। जो इसे (वर्षा को) करता है—वर्षा 'वे अर्थ में ['चकार' किया से] √इ (करना) है। √इ (विक्षेपना) का सन्देह हो जाता है। यह मध्यम [-मेघ] इसे नहीं जानता

है, जो सूर्य के द्वारा छिपाये गये को देखता है। वह माता की योनि है—
माता = अन्तरिक्ष, क्योंकि इसमें जीवों का मिमणि होता है। योनि = अन्तरिक्ष
क्योंकि [वह विश्व का] एक बड़ा अवयव (सण्, चु) है, वायु से घिरा
है। यह दूसरा योनि-शब्द भी इसी से बना है क्योंकि घिरा हुआ होता है।
चहुए, सन्तानों से युक्त (जलयिन्) वर्षा के अर्थ से भूमि पर निरते हैं ॥

शाकपूर्णि, संकल्पयत्त्वके सर्वा देवता जानामि इति । तस्मै
देवता उभयलिङ्गा प्रादुर्बमूव । ता न जज्ञे । ता प्रपञ्च ।
विविदिवाणि त्वा इति । सा अस्मै एतामृचम् आदिदेश । एषा
भद्रेवतेति ॥ ८ ॥

शाकपूर्णि ने पहले किया था मैं सभी [मन्त्र के] देवताओं की जानता हूँ ।
उनके लिए ही चिह्न जाके देवता उत्तम हुए। उनको बैन जान सके तो उनसे
भूछा—मैं आपको जानना आहुता हूँ। उन्होंने यह अच्छा बहुती कि इसका
देवता मैं हूँ ॥ ८ ॥

अयं स शिष्ठके येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मत्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वत्रिमीहृत ॥

(अयं स) वही (शिष्ठने) आवाज करता है (येन) जिसके द्वारा
(अभिज्ञान) हृते जाने पर (ध्वसनो) वर्षा करनेवाले मेष पर (अविद्या)
दैठी हृई (गो) अन्तरिक्ष की बालों (मायु) पोर शब्द (मिमाति) करती
है। (सा) उसने (चित्तिभि.) गर्जनहपि कर्म से (मत्ये हि) मनुष्य को
(चित्तकार) ज्ञान दिया, (विद्युत्) विजली (भवन्ती) होकर (वत्रिम्)
अपने रूप को (प्रति औहृत) स्वीक रिखा है ॥ (श० ११६४२९) ।

अयं स शब्दायते येन गो अभिप्रवृत्ता, मिमाति मायुम् =
शब्द करोति । मायुमिव आदित्यमिति चा । चाक् एषा माध्य-
मिका । ध्वसने मेषे अविश्रिता । सा चित्तिभि. = कर्मभिः
नोचै निकरोति मत्यम् । विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वत्रिम् । वत्रि.
इति रूपनाम । वृणोतीति सत । वर्णेण प्रच्छाद्य पूर्थिवी
पुनरादत्ते ॥ ९ ॥

वही आवाज करता है जिसके द्वारा ध्वनि प्रेरित है और मायु मिमाति =
आवाज करती है या मायु के समान = आदित्य । मह मायस्यानेऽग्निः ध्वनि है
जो ध्वसने अर्थात् मेष पर बहुत हृई है । यह चित्तिभि = कर्मो से, मनुष्य को

नीचे कर देती है; विजली बनकर दग्धि को खींच लेती है। वद्रि = रूप। √म् (हंकना) से। वर्षा से पृथ्वी को ढेंक कर पुनः (वर्षा को) लेती है ॥ ९ ॥

तृतीय-पाद

हिरण्यनामानि उत्तराणि पञ्चदश । 'हिरण्य' कस्मात् ? ह्लियते आयम्यमानमिति वा, ह्लियते जनात् जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवति इति वा, हर्यते: वा स्यात् प्रेष्टाकर्मणः ॥

इसके बाद के पंद्रह नाम हिरण्य के हैं। (३) 'हिरण्य' कहने ? गढ़े जाने पर ले जाते हैं (√ह + √यम्), या एक बादमी से दूसरे बादमी तक ले जाते हैं, या हित के लिए रमणकारी होता है (√धा + √रम्), या हृदय के लिए रमणकारी है, या 'हृच्छा' अर्थवाले √हयं से बना है ॥

अन्तरिक्षनामानि उत्तराणि पोडश । 'अन्तरिक्षं' कस्मात् ? अन्तरा धान्त भवति, अन्तरा इसे इति वा, शरीरेषु अन्तः अक्षय-मिति वा । तत्र समुद्र-इत्येतत् पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते समुद्रः कस्मात् ? समुद्रद्वन्ति अस्मात् आपः, समभिद्रवन्ति एनम् आपः, संमोदन्ते अस्मिन् भूतानि, समुद्रको भर्वाति, समुनत्तीति वा ॥

इसके बाद के तीनों नाम अन्तरिक्ष के हैं। (४) 'अन्तरिक्षं' कहने ? शीर में (अन्तरा) तथा पृथ्वी के पास (धा + अन्त) है, या दोनों (स्वर्गं और पृथिवी) के बीच में है, या शरीर के बीच में है और अक्षय है। इन (नामों) में रमुद्र भी है जिसका अम पाविद्र समुद्र (सागर) ने हो जाता है। (५) 'समुद्रं' कहने ? इससे जल निष्ठलता है (सम् उत् √द्), या जल इसी में जाता है (सम् अभिर्द्), या इसमें जीव मोद मानते हैं (√मुद्र), या जलयुक्त है, या भिणा दता है (√उद्द्) ।

तयोः विभागः । तत्र इतिहासमाचक्षते । देवापि: च आर्णिपेण शंतनुश्च कीरव्यी भ्रातरी वभूवनुः । स शंतनुः वनीयान् अभिपेचयां-चक्रे । देवापि: तपः प्रतिपेदे । तत्र शंतनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्षेण तमूच्चुः ब्राह्मणा—'अघर्मः त्वयाऽऽचरितः, ज्येऽुं भ्रातरम् अन्तरिक्षं अभिपेचितम् । तस्मात् ते देवो न वर्षति' इति ।

स शंतनुः देवार्पि शिशिका राज्येन । तमुवाच, देवापि:—‘पुरो-
हितः ते असानि, याजयानि च त्वा’ इति । तस्य एतत् वर्ण-
कामसूक्तम् । तस्य एषा भवति ॥ १० ॥

[समुद्र के] इन दोनों (बद्वौ) का विवरण करें । इसमें एक इतिहास से कहते हैं—कुषवंश में कृष्णेण के दो पुत्र देवार्पि और शंतनु हुए । छोटे भाई शंतनु ने अपना अभियेक करा लिया और देवार्पि तपस्या करने लगा । इससे शंतनु के राज्य में बारह वर्ष तक यानी नहीं चरसा । ब्राह्मणों ने उससे कहा—‘तुमने अथर्वं किया है, छोड़े भाई को छोड़ कर तुमने अभियेक करा लिया । इसीसे तुम्हारे पहाँ पानी नहीं चरसता ।’ शंतनु ने देवार्पि को राज्य लेने को कहा । देवार्पि ने उसका दिया—‘मैं तुम्हारा पुरोहित बहुंगा और तुम्हें यज्ञ कराऊंगा’ । उसी के विषय में वह वर्णकाम-गूरुत्व है । उनकी यह (आचा) है ॥

आर्विपेणो होत्रमूपिनिपोदन्देवापिदेवसुमर्ति चिकित्वान् ।

स उत्तरस्मादधरं समुद्रमणो दिव्या असूजद्वर्प्या अभिः ॥

(आर्विपेणः) कृष्णेण के पूत्र, (अर्पि) अर्पि (देवार्पि) देवार्पि, जो (देवसुमर्ति) देवताओं की भक्ति (चिकित्वान्) जानकैवाले थे, (होत्रम्) होता के स्थान पर (निषीदन्) बढ़े । (सः) उन्होंने (उत्तरस्मात्) ऊपर से (अधरं) नीचे की ओर (समुद्रम्) समुद्र को, कथार्दि (दिव्याः) स्वर्ग के ओर (वर्धा) वर्षा काले (वरः) जल को (असि असूजन्) छोड़ा ॥
(अ० १०।१८।५) ।

आर्विपेणः कृष्णेणस्य पुत्रः, इपितसेनत्य इति वा । सेना सेश्वरा, समानत्वात् वा । पुत्रः पुरु व्रायते, निपरणादा । ‘पुत्’ नरकम्, ततः व्रायते इति वा । होत्रम् अर्पिः निषीदन् । अर्पिः दशनात्, ‘स्तोमान् ददर्श’ इति औपमन्वयव । ‘तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वर्यं भु अभ्यानपांत्, तद् कृपीणाम् कृपित्वम्’ इति विज्ञायते । देवार्पि: देवानाम् आप्त्या, स्तुत्या च प्रदानेन च । देवसुमर्ति=देवानां कल्याणी मर्तिम् । चिकित्वान्=चेतानावान् । स उत्तरस्मादधरं समुद्रम् । उत्तरः उद्धततरो भवति । अधरः अवः । अरः । अवः=न धावति, इति ऊर्ध्वंगतिः प्रतिपिद्धा । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाम ॥ ११ ॥

आर्टिपेण = अहर्पितेण का पुत्र, या उपित्तसेन (सेना भेजनेवाले) का । सेना = स्वामी (इन) से युक्त या समान गति (इन) वाली । पुत्र सब जगह बचाने वाला (पुरुषः), या पिण्डदान करने से (निष्ठा॑ १३) । 'पुत्र' नरक है, उससे बचाने वाला । होता के स्थान पर अहवि वैठे । अहवि॑ वृहस्प॒ (देखना) से । श्रीपरमार्थव के भरत से 'स्तोमो वो देखने वाला' । 'अहवियों का अहवित्व इसी में है कि तपस्या करते समय इनके पास स्वयं उत्पन्न होने वाला ज्ञान (वेद) आया'—यह मानूम होता है (वै० आ० २१९) । देवापि—देवताओं को प्राप्त होने के कारण, स्वृति और दान के कारण । देवमुमति॑=देवताओं की वस्त्यागकारिणी बुद्धि को । चिकित्सान्॑=ज्ञान से युक्त । उसपर से नीचे की ओर समुद्र वो । उत्तर = उद्घततर (उद्घतर); अधर = नीचे (अध) जान वाला (अर) । अध = जो त दोड़े, इस प्रकार ऊपर की गति वा नियेष होता है । उसके बाद की अहचा स्पृहतर उदाहरण के लिए है ॥

यद्येवापि॑ शांतनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीघेत् ।

देवश्रुत वृष्टिवर्णि॑ रराणो वृहस्पतिर्वचिमस्मा अयच्छत् ॥

(यत्) जब (होत्राय) होता के स्थान के लिए (द्वा) चुने जाने पर (पुरोहित) पुरोहित (देवापि॑) देवापि॑ ने (शांतनवे) शांतनुपर (वृपयन्॑) वृपा करके (अदीघेत्) ध्यान निया, तब (रराण) रानी (वृहस्पति॑) शृहस्पति॑ ने (देवथ्रुत) देवताओं के मुनत योग्य और (वृष्टिवर्णि॑) वर्ण वी यात्रा करने वाले [देवापि॑ को देखकर] (अस्मे॑) उसे (यात्रम्) स्तुति॑ (अयच्छत्) प्रदान वी । (ऋ० १०।१८।७) ॥

शांतनु॑ । शं तनो॑ ! अस्तु इति वा, शामस्मै तन्वा॑ अस्तु इति वा॑ । पुरोहित॑ । पुरा॑ एन दवति॑ । होत्राय वृतः॑ । कृपाय॑ माण॑ । अन्वध्यायत्॑ । देवश्रुतम्—देवा एवं शृण्वन्ति॑ । वृष्टिवर्णि॑=वृष्टियाचिनम्॑ । रराण॑—राति॑ अभ्यस्तः॑ । वृहस्पति॑ वह्या॑ आसीत्॑ । सोऽस्मै वाचमयच्छत्॑ । 'वृहत्॑' उपन्यास्यातम्॑ ॥१२॥

शत्रु—हे दरीर, वस्त्याग हो, या उसके दरीर को वस्त्याग मिले । पुरोहित—जिसे आगे रखते हैं । होना वे कर्म के लिए चुने जाने पर, इस करते हुए, ध्यान॑ देने लगे । देवथ्रुतः॑=देवता इसे मुनते हैं, वृष्टिवर्णि॑=वर्ण माँगने वाले हो । रराणः—√ रा (देना) वा वस्त्याग (ढिल्य) हो गया है ।

बृहस्पति यद्या थे । उन्होंने उसे (देवापि को) सुवि प्रश्न भी । 'बृहत्' की व्याख्या ही चुकी है (निर० १०७) ॥ १२ ॥

विशेष—वैदिक भाषा का 'शतनु' सब्द महाभारत में 'शतनु' हो गया ज्योकि तब लोग 'शतनु' का वर्ण नहीं समझते लगे और 'शतनु' को बपेक्षाकृत शुद्ध सब्द समझा गया । इसे भाषा-विज्ञान में Folk etymology (लोक-निरूपण) कहते हैं । रराण = रा + कानन् (दानशील) ॥ १२ ॥

चतुर्थ-पाद

साधारणानि उत्तराणि पट् दिवश्च आदित्यस्य च । यानि
स्वस्य प्राधान्येन, उपरिष्टात् तानि व्यास्यास्यामः । आदित्यः
कस्मात् ॥ आदते रसान्, आदते भासं ज्योतिपाम्, आदीसो
भासा इति वा । अदितेः पुत्रं इति वा । अल्पप्रयोगं तु अस्य
एतद् आचार्यान्यान्नामे । सूक्तभाक्—‘सूर्यमादितेयम्’ ॥

इसके बाद के छः नाम दिव् और आदित्य के लिए समान हैं, किन्तु जो
प्रथम रूप से इन (आदित्य) के हैं उनकी व्याख्या बाद में करेंगे (निर०
१२।१२-१८) । (६) 'आदित्य' कौसे ? रसो को लाता है (आ॒दा), ज्योतिः—
पुजो का प्रकाश लाता है, या प्रकाश से जादीत है । या अदिति का पुत्र है ।
जहाँमें के पूरे संग्रह (ज्ञानदेव) में इसका प्रयोग बहुत करा दी है । केवल एक
सूक्त में—‘सूर्ये को जो अदिति का पुत्र है’ (नह० १०।८८।११) ॥

एवमन्यासाम् अपि देवतानाम् आदित्यप्रवादाः सुतयो
भवन्ति । तद् यथा एतत्—मित्रस्य, वरुणस्य, अर्यमाः, दक्षस्य,
भगव्य, अंशस्य इति । अथापि मित्रावरुणयोः—‘आदित्या
दानुनस्पती’ । दानपती । अथापि मित्रस्य एकस्य ।

‘प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्तु आदित्य दिक्षति
ब्रतेन ।’ इत्यपि निगमो भवति । अथापि वरुणस्य एकस्य—
‘अथा वयमादित्य ब्रते तव’ । ब्रतमिति कर्मनाम । निवृत्तिकर्म
वारयति इति सतः । इदमपि इतरत् प्रतमेतस्मादेव । वृषोति इति
सतः । अन्धमपि ब्रतमुच्यते—यद् भावृणोति यस्तेरम् ॥ १३ ॥

इसी प्रकार दूसरे देवताओं की भी स्तुतियाँ आदित्य के नाम से होती हैं जैसे—मिथ, वहण, अर्यमा, दक्ष, मग और बश की। मित्रावहण की भी होती है जैसे—‘दोनो आदित्य दान के अधिकारी हैं’ (अ० २।४।१६)—दोनो दान के रवानी (हैं)। अकेले मित्र की भी [स्तुति होती है]—‘हे मित्र, वह मनुष्य अपशुक्त हो जाय, हे आदित्य ! जो तुम्हे व्रत के द्वारा पूर्ण करे ।’ (अ० ३।५।१२)—यह उदाहरण है। अकेले वहण की भी—‘हे आदित्य तुम्हारे व्रत मे अब हम...’ (अ० १।२।४।१५)। व्रत = कर्म, निविद्ध कर्म से वारण करनेवाला। यह दूसरा व्रत भी इसीसे होता है—√वृ (ढैकना) से। अन्न भी व्रत कहलाता है क्योंकि शरीर को ढैके रखता है ॥ १३ ॥

स्वर्ग-आदित्यो भवति । सु अरणः । सु ईरणः । स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिपाम्, स्वृतो भासा इति वा । एतेन द्यौ-व्याख्याता ॥ पृथिः आदित्यो भवति । प्राश्रुते एनं वर्णः इति नैरुक्ताः । संस्पृष्टा रसान्, संस्पृष्टा भासं ज्योतिपाम्, संस्पृष्टो भासा इति वा । अय द्यौ । संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्धिश्च ॥ नाकः आदित्यो भवति । नेता भासाम्, ज्योतिपां प्रणयः । अय द्यौः । ‘कम्’ इति सुखनाम । तत् प्रतिपिद्धं प्रतिपिध्येत । ‘न वा अमुं लोकं जगमुपे किञ्चनाकम्’ । न वा अमुं लोकं जगमुपे किञ्चन असुखम् । पुण्यकृतो हि एव तत्र गच्छन्ति ॥

आदित्य को (७) स्वर्ग कहते हैं। सु√अर् (जाना) से, या सु√ईर् (नाश) से। यह रस लेने वो ठीक से जाता है, ज्योति पुञ्जो के प्रकाश तक जाता है, या प्रकाश द्वारा पाया गया (सु√हृ)। इसीसे द्यौ के सम्बन्ध भी व्याख्या हो जाती है।

आदित्य को (८) पृथिवी भी कहते हैं। रण इसे पकड़ लेता है—यह निश्कर्तारों का मठ है। रसो का स्पर्श करनेवाला, ज्योति पुञ्जो के प्रकाश का स्पर्श करनेवाला, या (स्वयं ही) प्रकाश द्वारा स्पृष्ट (द्युभा गया)। द्यौ के सम्बन्ध में, ज्योति से या पुण्य करने वालों से सहस्रृष्टु ।

आदित्य को (९) नाक भी कहते हैं। प्रकाश को ले जानेवाला है (√नी), या ज्योतिःपुञ्जो को उत्तन करनेवाला (प्र॒नी)। द्यौ के सम्बन्ध में—‘क’ = सुख, इसके नियेष (दुःख) का उलटा। ‘उस लोक तक जाने

वाले को कुछ भी दुख (अ. अतुष्ट) नहीं (काठक सं० २१२) । पुण्य-
करनेवाले ही बहाँ जाते हैं ॥

गौः आदित्यो भवति । गमयति रसान्, गच्छति अन्तरिक्षे ।
अय द्यौः—यत् पृथिव्या अधि दूरंगता भवति । यत्र अस्यां
ज्योतीषि गच्छन्ति ॥ विष्टुप् आदित्यो भवति । आविष्टो रसान्,
आविष्टो भासे ज्योतिपाम्, आविष्टो भासा इति वा । अय द्यौः ।
'आविष्टा ज्योतिभिः पुण्यवृद्धिश्च ॥ नभ. आदित्यो भवति । नेता
भासाम्, ज्योतिपां प्रणयः । अपि वा, 'भनः' एव स्याद् विष-
रीतः । न 'न भाति' इति वा । एतेन द्यौः व्याख्याता ॥ १४ ॥

आदित्य को (१०) यो कहते हैं । रस का उपन करता है, अन्तरिक्ष
में जाता है (√ग्.) । द्यो के सम्बन्ध में—जो पृथ्वी के ऊपर उड़त दूर
सक गया है जोर त्रिस्त्रे ज्योति पुण्य जाते हैं ।

आदित्य को (११) विष्टुप् कहते हैं । रसो में मुमा हुआ है (√विद्),
ज्योति पुण्यों के प्रकाश में मुमा हुआ है, या प्रशाद द्वारा (सर्वं ही) आविष्ट
(व्याप) है । द्यो के सम्बन्ध में—ज्योतिःपुण्यो और पुण्य करनेवालों के द्वारा
आविष्ट (पिरा) ।

आदित्य को (१२) नभ भी कहते हैं प्रशाद को ले जानेवाला (√नी),
ज्योति पुण्यों को उत्तराण करनेवाला । अपश्च 'भन' (अमरना) ही उलट गया
है, या 'नहीं भासा है'—ऐसा नहीं है । इसीसे द्यो भी व्याख्या ही पाई ॥ १४ ॥

पञ्चम-पाद

रश्मिनामानि उत्तराणि पञ्चदद्य । रश्मि. यमनात् । तैपामा-
दित. सावारणानि पञ्च अश्वरश्मिभिः ॥ दिद्नामानि उत्तराणि
अग्नौ । दिदा. कस्मात् ? दिदातेः, आमदनात्, 'अपि वा अम्बश-
नात् । तन 'काञ्चा' इति एतद् अनेकम्य अपि सत्त्वस्य नाम
भवति । काञ्चा दिदो भवन्ति । क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति । काञ्चा:
उपदिदो भवन्ति—इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति । आदित्योऽपि
काञ्चा उम्बते । क्रान्त्वा भवति । आज्यन्तोऽपि काञ्चा उम्बते ।

क्रान्त्वा स्थितो भवति । आपोऽपि काषाः उच्यन्ते । क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति । इति स्यावराणाम् ॥ १५ ॥

इसके बाद के पन्द्रह नाम रशिम के हैं । (१३) रशिम्/यम् (नियत्रण) से । इनमें प्रथम पाँच नाम घोड़े की लगाम के लिए भी समान हैं ।

इसके बाद के आठ नाम दिशाओं के हैं । (१४) दिशा कौसे ? √दिशा (दिखाना) से, या या-√सद (निकट बैठना) से, या अभि-√बश् (ध्यास) से । उन (नामों) में 'काष्ठा' भी है जो अनेक वस्तुओं का नाम है । (१५) 'काष्ठा' दिशा को कहते हैं वयोकि चलकर स्थिर होती है (√कम् + √स्था) । 'काष्ठा' उपदिशाओं को भी कहते हैं वयोकि [वे] एक दूसरे को छूकर (कान्त्वा) स्थिर होती है । 'काष्ठा' आदिय को भी कहते हैं वयोकि चलकर स्थिर होता है । 'काष्ठा' वाण की लोक (आजि + अन्त) 'को भी कहते हैं वयोकि चलकर स्थिर होती है । 'काष्ठा' जल को भी कहते हैं वयोकि [जलाशय में] जाकर स्थिर होता है । यह स्यावर (जल) के विषय में हुआ ॥ १५ ॥

अतिषुन्तीनामनिवेशनानां काषाना मध्ये निहित शरीरम् ।

वृत्रस्य निष्य विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशशुः ॥

(अतिष्ठन्तीनाम्) कभी न ठहरनेवाले और (अनिवेशनानाम्) कभी न इकने वाले (काष्ठानां) जल के (मध्ये) बीच में (शरीर) शरीर (निहित) किया था । (आपः) जल (वृत्रस्य) वृत्र के (निष्य) गुप्त स्थान पर (विचरन्ति) धूमते हैं, (इन्द्रशशु) इन्द्र के द्वारा विनाश किया जानेवाला [वृत्र] (दीर्घं) पौर (तमः) अन्धकार में (आशयत्) सोया था । (ऋ० ११४२।१०) ॥

अतिषुन्तीनाम् अनिविशमानानाम् इति अस्यावराणाम् ।
काषाना मध्ये निहितं शरीरम् । मेघः शरीरम् । शरीरं शृणातेः,
शम्नाते । वा । वृत्रस्य निष्य=निष्णामिम् । विचरन्ति=विजानन्ति
आप इति । दीर्घं द्राघते । तम् तनोते । आशयत् आशेते ।
इन्द्रशशु—इन्द्रोऽस्य शमयिता वा, शातयिता वा । तस्मात्
इन्द्रशशु ॥

न ठहरनेवाले और न बैठनेवाले—यह अस्थावर (जल) के विषय में । जल के बीच मेरे हुए शरीर को । 'शरीर' = मेरा । शरीर श्रु (फादना), पा शम् (मारना) से । वृत्र के निष्प लो = झुकने के स्थान को जल, विवरणि = जानते हैं । दीर्घं द्राप् (योग्य होना) से, तम् तद् (विस्तार) से, बाधयत् = सोया (√शो) । इन्द्रश्रु = इन्द्र जिसका शमन करनेवाला या विनाशक है । इससे 'इन्द्रश्रु' बना (√शम् या √शत्) ॥

तत्को वृथः १ मेघ इति नैरुकाः । अपां च ज्योतिपश्च
मिश्रीभावकर्मणः वर्षकर्म जायते । तत्र उपमायेन पुद्वरणी
भवन्ति । अहिवत् तु सलु भन्त्ववर्णा, व्राह्मणवादाश्र । विवृद्धया
शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाचकार । तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे
आपः । तदभिवादिनो एषा कृत्वा भवति ॥ १६ ॥

यह वृत्र कोन है ? निष्टककारों के मत से 'मेघ' है । जल और प्रशान्त आ
प्रिधण होने पर वर्षा होती है, ऐसा होने पर लूपक के द्वारा युद्ध ॥ १ वर्णन
होता है : किन्तु मंत्रों के वर्णनों तथा वाह्यण की व्याख्या में तो उसे सीप माना
गया है । [उसने] शरीर के कैलाक से जल-प्रवाह रोक लिया । उसके मारे
जाने पर जल प्रवाहित हुए । उससा वर्णन (उल्लंघ) करनेवाली यह
चतुरा है ॥ १६ ॥

दासपब्लोरहिगोपा अतिउन्निष्टदा आपः पणिनेव गावः ।

अपां विलभपिहितं यदासीद्वत्रं जयन्वां अप तद्वार ॥

(पणिना) पणि के द्वारा (गावः) योग्यो (इव) के समान (दास-
पत्नीः) दास की पत्नियों के रूप में (अहिगोपाः) योग के द्वारा छिपाये गये
(आपः) जल (निरट्टाः) कह हुए (अनिष्टद्) स्थित ये । (अपाः) जल
शा (विसं) स्रोत (यद्) वो (अनिहितं) छिपा हुआ (वासीन्) या,
(तद्) उठे (वृत्र) वृत्र वो (वर्षगाम्) मारनेवाले ने (अपं व्यावर) मुक्त
कर दिया । (कृ० १।१२।११) ॥

दासपब्लोः=दासाविष्टल्यः । दासो दस्यते, उपदागयति
कर्माणि । अहिगोपाः अतिउन्न०=अहिना गुभाः । अहिः अयनात् ।
एति अस्तरिते । अपमपि इतरोऽहः ग्रन्तस्मादेव । निर्दिसितो-

पसर्गः आहन्तीति । निरुद्धा आपः पणिनेव गावः । पणिः वणिक् भवति । पणिः पणनात् । वणिक् पण्यं नेनेक्षि । अपां विलमपि-हितं यदासीत् । विलं भरं भवति । विभर्ते । वृत्रं जघ्निवान् अपवार तत् । वृत्रो वृष्णोते: वा । वर्तते: वा, वर्धते: वा । 'यद् अवृष्णोत् तत् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते । 'यद् अवर्तत तत् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते ॥ १७ ॥

दासपत्नी = दासो की रक्षा करने वाली । 'दास' √ दस् से क्योंकि वह कामों को समाप्त करता है (उप √ दस्) । अहिगोपा = अहि के द्वारा गुत । 'अहि' √ इ (जाना) से, क्योंकि अन्तरिक्ष में जाता है । यह दूसरा 'अहि' (साप) भी इसीसे बना है या आ + √ हत् (मारना) से उपसर्ग को हस्त करके बना है । पणि द्वारा गौधो के समान जल एके हुए थे । पणि = वणिक् √ पण् (व्यवहार) से । वनिया विश्री की छीजों को (पथ्य) साफ करके रखता है (√ विज्) । जल का जो छेद रुका हुआ था । विल = भर (जल से भरा), √ भृ (भरना) से । वृत्र को मारनेवाले ने उसे खोल दिया । 'वृत्र' √ व् (डंकना) से, √ वृत् (वर्तमान) से, या √ वृष् (बढ़ना) से । 'वृत्र की विशेषता यही है कि उसने ढंक दिया'—ऐह मालूम होता है । 'यह वर्तमान था वह भी वृत्र की विशेषता है'—ऐसा मालूम होता है ॥ १७ ॥

विशेष—'विल' की ड्युत्पत्ति √ भृ से यास्क करते हैं । √ भृ के दो अर्थ है—(१) धारण करना जो जुहोत्यादि गण वा है—विभर्ति, (२) भरण करना जो भ्वादिगण का है—भरति । यास्क 'भरण अर्थं वाले' √ भृ से ही 'विल' की ड्युत्पत्ति करते ही तथापि इसवा रूप 'विभर्ति' देते हैं । सम्भवत, यह तटका स्त्रीन प्रयोग हो । वृत्र के निवचन में दुर्गाचार्य वा पाठ है—'यदवर्तमत् (उसने लगाया)', इही-इही 'यदवर्घष्यन्' (उसने बढ़ाया) —यह पाठ भी है ॥ १७ ॥

पठ-पाद

रात्रिनामानि उत्तराणि त्रयोर्विश्वतिः । रात्रिः कस्मात् ? प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीणि । उपरमयति इतराणि=ध्रुवी-करोति । राते: वा स्यात् दानकर्मणः । प्रदीयन्ते अस्याम् अव-इयायाः ॥ उपोनामानि उत्तराणि पोद्दशा । उपाः कस्मात् ? उच्छृति इति सत्याः । रात्रे: अपरः कालः । तस्याः एषा भवति ॥ १८ ॥

इसके बाद के तीर्थ नाम रात्रि के हैं। (१६) 'रात्रि' कैसे ? रात में चलनेवाले जीवों को प्रसन्न करती है (प्र/रम्) । दूसरे [जीवों] को स्थिर करती है (उप/रम्) = प्रभु बनावी है । या वर्णन = देना, से बना है क्योंकि इसमें वोस दी जाती है ।

इसके बाद के सोलह नाम उपा के हैं । (१७) 'उपा' कैसे ? चूँकि भगवती है (√ उच्छ्व) — 'रात का विछला पहर' । उसकी यह (कृच्चा) है ॥१८॥

इदं श्रेष्ठं ज्योतिपां ज्योतिरागाच्चितः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।

यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युपसे योनिमारेक् ॥

(ज्योतिपा) सभी प्रकाशो मे (श्रेष्ठ) श्रेष्ठ (इदं) यह (ज्योति) प्रकाश (आ आगात) आया, (चितः) बहुरंगी, (प्रकेतः) अमरीला और (विभ्वा) सर्वत्र फैला [प्रकाश] (अजनिष्ट) निकला । (यथा) जिस प्रकार (सवितुः) सविता को (सवाय) उत्पन्न करने के लिए [उपा] (प्रसूता) उत्पन्न हुई (एव) उसी प्रकार (रात्रि) रात्रि ने (उपसे) उपा के लिए (योनिम्) स्थान (आरेक्) खाली किया = रात्रि उपा को उत्पन्न करती है । (अ० १११११) ॥

विशेष—एव—'एवम्' का मलोप । वैदिक-भाषा में मलोप के बहुत उदाहरण हैं । सम्भवतः भारोपीय मूल भाषा (Indo-European proto-type) में ये 'म' न रहे हों । तुल० तुम्य (म), त्वा (म) । एव वा छान्दस—दीपं—एवा । आरेक् = √ रित् (रित्) से ।

इदं श्रेष्ठं ज्योतिपां ज्योतिरागमत् । चित्रम् । प्रकेतनं= प्रज्ञाततमम् । अजनिष्ट । विभूततमम् । यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिः आदित्यस्य । एवं रात्रि उपसे योनिम् अरिचत् स्थानम् । स्त्रीयोनि अभियुतः एनां गम्यः । तस्याः एपा भवति ॥

ज्योतिपी मे श्रेष्ठ यह ज्योति आई । मुन्दर, प्रकेतन = सबसे अधिक ज्ञान, और सबसे अधिक व्याप, उत्पन्न हुई है । जैसे रात्रि सविता के प्रमद के लिये उत्पन्न हुई है = आदित्य को [जन्म देने के लिए] । उसी प्रकार उपा ने रात्रि के लिए योनि = स्थान खाली किया । स्त्रीयोनि = जिसमें गम्य मिलता है (अभि/मु) । उसकी यह दूसरी (= अर्चना) है ॥ १९ ॥

सदादृत्सा रुद्यती इवेत्यागादारेणु कृष्णा सदनाच्चस्या ।

समानवन्यू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥

(रुशदत्तमा) चमकीले पुत्र वाली, (रुशती) स्वयं चमकीली (श्वेत्या) उजली [उपा] (अगात्) आई, (कृष्णा) काली (रात्) ने (अस्याः) अपने (सदनानि) स्पानो को (उ) सचमुच (आरंक्) खाली कर दिया । (समानवन्धू) एक तरह का परिवार चलने, (अमृते) अमर (अनूची) एक दूसरे के पीछे चलने वाले, (द्यावा) दोनों दिन [और रात्] (वर्ण) रण को (आमिनाने) बदलते हुए (चरत्) चलते हैं (शू० १११३१२) ॥

रुशदत्तसा=सूर्यंवत्सा । रुशत् इति वर्णनाम्, रोचते. ज्वलति कर्मण् । सूर्यम् अस्या वत्समाह । साहचर्यात्, रसहरणात् वा । रुशती श्वेत्या आगात् । श्वेत्या श्वेतते । अरिचत् कृष्णा सदनानि अस्या । कृष्णवर्णा रात्रि । कृष्णं कृष्यते, निकृष्टो वर्ण । अय एने सस्तौति—समानवन्धू=समानवन्धने । अमृते=अमरणधर्मणी । अनूची अनूच्यो इतरेतरमभिप्रेत्य । द्यावा वर्ण चरत् । ते एव, द्यावौ । द्योतनात् । अपि वा द्यावा चरत्=तमा सह चरत इति स्यात् । आमिनाने=अन्योन्यस्य अध्यात्मं कुवर्णि ॥

रुशदत्तसा = सूर्य-रुधी पुत्रवाली । रुशत् = रण, 'जलना' अर्थवाले √ रुच से । सूर्य को इसका पुत्र कहा गया है—माप-साध चलने के कारण या रस-हरण करने के कारण । चमकती हुई उजले रणवाली आई । श्वेत्या—√ श्विद् (जलना) से । काले रणवाली ने अपने रथान खाली कर दिये=वाले रणवाली रात ने । कृष्ण = √ कृष् (खोचना) से, निकृष्ट वर्ण । अब इन दोनों वी स्तुति करता है । समानवन्धू=एक तरह चा बन्धन (परिवार) वाले । अमृते=नहीं मरने वा चमवाले । अनूची=एक दूसरे के पीछे जानेवाली । दोनों यो (स्वर्ण) प्रकाश पर चलते हैं । वे दोनों (उपा-रात्रि) ही यो हैं, प्रकाशित होने के कारण । अथवा, द्यावा चरत्=यो वे साध चलते हैं—यह भा हो सकता है । आमिनाने=एक दूसरे की आत्मा (शरीर) में निवास करते हुए ॥

अहनीमानि उत्तराणि द्वादशा । अह. कस्मात् ? उपाहरन्ति अस्मिन् कर्माणि । तस्यैष निपातो भवति—वैश्वानरीयायामृचि ॥
इसके बाद के बारह नाम 'अद्दः' (दिन) दे हैं । (१८) 'अहः' क्यों ?

इसमें कामों को पूरा करते हैं (उप वा. √हृ) । वैश्वानरीय शृङ्खला में उसका यह प्रयोग हुआ है ॥ २० ॥

अहश्च कृष्णमहर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः ।

वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिपासिस्तमांसि ॥

(कृष्ण) काला (अर्जुन च) और उजला (अहः) दिन [= दिन-रात] (वेद्याभिः) अबहृ नियम से (रजसी) दोनों समार में (विवर्तेते) विकल्प से आते हैं । (जायमान.) बद्धनेवाले (राजा) राजा (न) के समान (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम के (अभिः) अभिन ने (ज्योतिपा) अपने प्रकाश से (तमासि) अन्धकार को (अव अतिरक्) भगा दिया । (श्ल० ६।३।१) ॥

, अहश्च कृष्णं=रात्रिः । शुक्रं च अहः अर्जुनम् । विवर्तेते रजसी । वेद्याभिः=वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः । वैश्वानरः जायमान इव उद्यन् आदित्यः । सर्वेषां राजा । अवाहन् अभिः ज्योतिपा तमांसि । ,

काला दिन = रात्रि । अर्जुन = उजला दिन । दोनों रंगवाले (? हुं) विकल्प से चलते हैं । वेद्याभिः = जानने योग्य प्रवृत्तियों (कमों) के द्वारा । चतुर्थ छोड़े हुए के समान वैश्वानर = उपरी हुए सूर्य । सभी ज्योति पुजों के राजा । अभिन ने प्रकाश द्वारा अन्धकार को हटा दिया ।

मेघनामानि उत्तराणि त्रिशत् । मेघः कस्मात् ? मेहतीति सतः । आ 'उपर उपल' इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः । उपरः उपलः मेघो भवति । उपरमन्ते अस्मिन् अन्नाणि । उपरता आप इति वा । तेपाम् एपा भवति ॥ २१ ॥

इसके बाद के तीस नाम मेघ के हैं । (१९) मेघ कौसे ? √पिह (सोचना) से । उपर और उपल तक [पिनाये गये नाम] पर्वत के लिए भी समान हैं । उपर या उपल मेघ को कहते हैं, जिसमें वादल खेलते हैं (उप √रम्), या [जिसमें] जल प्रसाद होता है (उप √रम्) । उसकी यह (शृङ्खला) है ॥ २१ ॥

देवानां माने प्रथमा अतिउन्कृन्तत्रादेयामुपरा उदायन् ।

त्रयस्तपन्ति पूर्थिवीमनुपा द्वा वृद्धूकं वहतः पुरोपम् ॥

(देवाना) देवताओं के (माने) बनने के समय (प्रथमा) सबसे पहले

(अतिष्ठन्) वन गये, (एषा) इनके (कृत्तव्यात्) छेद से (उपराः) जल (उत् थायन्) निकल आये। (वयः) तीन मिलकर (अनूपा) अपने-अपने नियम से (पृथिवीम्) पृथ्वी को (तपानि) गम्य करते हैं, और (द्वा) दो तो (पुरीपम्) प्रसन्न करने वाला (बृहूक्) जल (वहत्) लाते हैं।
(ऋ० १०।२७।२३) ।

देवाना निर्मणे प्रथमा अतिष्ठन्—माध्यमिका देवगणा। प्रथम इति मुख्यनाम। प्रतमो भवति। विकर्तनेन मेघानाम्, उदक जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः। पर्जन्यो वायुः आदित्य, शीतोष्णवर्णे ओषधी पाचयन्ति। अनूपाः—अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपि इतरः अनूपः एतस्मादेव। अनूप्यते उदकेन। अपि वा, 'अन्वाप्' इति स्यात्। यथा प्राक् इति। तस्य अनूपः इति स्यात्। यथा प्राचीनम् इति। द्वा बृहूक् वहत् पुरीपम्। वाय्वादित्यौ उदकम्। बृहूकम् इति उदकनाम। व्रवीते. वा शब्दकर्मणः। भ्रशते वा। पुरीप पूर्णाते वा पूरयते वा ॥ २२ ॥

देवताओं के निर्माण के समय मध्यस्थान वाले देवता (मेष) पहले बने। प्रथम=मुहूर, प्रदृष्टुतम् (प्रतम)। इन मेषों के कटने से (कृत्तव्यात्/उत्) जल उत्पन्न होता है। तीन अनूप मिलकर पृथ्वी को गम्य करते हैं = पर्जन्य वर्णा से, वायु धीत से और आदित्य गर्भ से षोषो को पकाते हैं। ये अनूप हैं यजोकि संसार को अपने-अपने भर्म से अनुगृहीत करते हैं (अनु/वर्)। यह दूसरा अनूर (= पानी से भरा थोड़ा, दिपारा) भी इसी से बना है क्यों कि पानी से अनुगृहीत रहता है। अथवा अन्वाप् (जल से धिरा) हो जैसे प्राक् शब्द बनता है। उसीसे 'प्राचीन' शब्द की सरह अनूप हो गया। दो प्रसन्न करने वाले बृहूक लाते हैं—वायु और सूर्य जल को। 'बृहूक्' जल का पर्याय है। उत्र॑=चोलना, या उभ्रन् (विराना) से। पुरीप/पृष्ठ पा उपरय् (भरना) से बना है ॥ २२ ॥

विशेष—'अनूप' शब्द की व्युत्पत्ति में यास्त्र की व्युत्पन्न विचित्र है। वे सादृश्य (Analogy) वा आश्रय लेने हैं। जैसे, प्राक् : प्राचीनः = अन्वाप् : अनूप। परन्तु सादृश्य ठीक नहीं है यजोकि जहाँ अन्वाप् से अनूप बनते समय

था का उ ही जाता है। प्राक् से प्राचीन बनने में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं होता। इसके बदले में उन्हें अन्वक से अनुच्छी का उदाहरण देना चाहिए था। अनुपम = जलप्रायस्थान (प्रमर० २।१।१०) पाणिनि के सूतों के अनुसार (१।३।१७-१८) अप् का द्वि, अन्तः, प्रति और सम् के बाद इष्ठ वादेश होता है, किन्तु अनु के बाद अप्। द्वृदृक्=जल, गड्ढा वादि (शो० वि०) ॥ २२ ॥

सप्तम-पाद

वाङ्नामानि उत्तराणि सप्तपञ्चाशत् । वाक् कस्मात् ?
वन्मः । तत्र सरस्वती इत्येतरस्य नदीवत् देवतावत् निगमा
भवन्ति । तद् यद् देवतावद्, उपरिण्यात् तद् व्याख्यास्याम् ।
अथ एतन्नदीवत् ॥ २३ ॥

इसके बाद के सतावन नाम वाक् के हैं। (२०) वाक् क्षेत्र ? √वच्
(वोलका) से । उन (नामो) में 'सरस्वती' का नदी और देवता के भी
अर्थ में प्रबोग हूँआ है । देवता वाले अर्थ की व्याख्या बाद में करेंगे (१।२।६) ।
यहीं नदी के अर्थ में ।

इयं शुष्मेभिर्विसखा इवारुजत्सानु गिरीणा तविपेभिर्स्मिभि ।
पारावतधनीमवसे सुवृक्तिभि । सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः ॥

(इय) यह नदी (विसखा) कमल की हँटी कोडने वाले (इव) के
समान (शुष्मैः) अपने बल के द्वारा सथा (तविपेभिः) बलशाली (ऊमिभिः)
शहरो के द्वारा (गिरीणा) पहाड़ों की (शानु) छोटी को (अरुजत्) लोड़ती
है । (अवधे) रथा के लिए (सुवृक्तिभि) अच्छी तरह से याताइ गई
(धीतिभि) स्तुतियों द्वारा (पारावतधनी) दोनों निनारों को तोड़ने वाली,
या बहुत दूर के स्थानों को भी नष्ट करने वाली (सरस्वतीम्) सरस्वती नदी
की (आ विवासेम) पूजा करें । (श्व० द३।१।२) ।

इयं शुष्मैः शोपणैः । शुष्ममिति बलनाम । शोपयतोति
सतः । विस विस्यते: मेदनकमर्णं वृद्धिकमर्णं वा । सानु समुच्चिदूतं
भवति । समुच्चिदूतमिति वा । महद्विद्विः ऊमिभिः । पारावतधनी=
पारावारधातिनीम् । पारं परं भवति । अवारम् अवरम् । अव-
नाम । सुप्रवृत्ताभिः सुतिभिः सरस्वती कर्मभिः पौरचरेम ।

यह गुण = शोपक (बल) के द्वारा । शुष्म = बल वयोःकि [शत्रुओं को] सुखाता है (√वाप) । विस-√विस = भद्र करना, बढ़ाना से । सामु ऊचा (सम उत्-√थि) या प्रसित (सम उत्-√नुद) होता है । बड़ी लहरों से । पारावतघ्नी = आर पार को ठोड़ने वाली । पार=दूसरा, अवार = अवर (नीचे) । रक्षा के लिए बड़ी तरह बनाई गई स्तुतियों से सरस्वती की सेवा (हम) कम से करें ।

उदकनामानि उत्तराणि एकशतम् । उदक कस्मात् ? उन-
तीति सत । नदीनामानि उत्तराणि सप्तशत् । नद्य कस्मात् ?
नदना भवन्ति=शब्दवत्य । वहुलम् आसा नैघण्टुक वृत्तम् ।
आश्वर्यम् इव प्राधान्येन । तत्रेतिहासम् आचक्षते—‘विश्वामित्र
ऋषि सुदास पैजवनस्य पुरोहितो वभूव ।’ विश्वामित्र सर्वमित्र ।
सर्वं सप्ततम् । सुदा कल्याणदान । पैजवन पिजवनस्य पुत्र,
पिजवन पुन स्पर्धनीयज्ञवो वा अमिश्रीभावगति वा । स
वित्त गृहीत्वा विपाद्वृत्तुद्रयो सभेदम् आययो । अनुययुरितरे ।
स विश्वामित्र नदी तुष्टाव-गाधाभवत इति ।’ अपि द्विवत्,
‘अपि वहुवत् । तद्यत् द्विवत्, उपरिष्टत् तद् व्याख्यास्याम ।
अथ एतद् वहुवत् ॥ २४ ॥

इसके बाद के एक सौ नाम उदक के हैं । (२१) उदक किसे ? √उद
(मिगाना) से ।

इसके बाद के सौ नाम नदी के हैं । (२२) नदी किसे ? नाद करने
वाली = शब्दयुक्त । वहुत जगह इनका अप्रयान स्थान है । प्रपानता देनवाले
स्थान को वाश्चय ये उमान (कम) हैं । यहाँ एक इतिहास कहते हैं—
विश्वामित्र ऋषि सुदास पैजवन के पुरोहित बने । विश्वामित्र=पवके मित्र सप्त=सप्तत (व्याप्त √सृ) । सुदा = कल्याणदाता । पैजवन = पिजवन ये पुत्र ।
किर पिजवन = स्पर्धनीय वेग (जव) वाल या जिमकी गति किसी से न
मिन । तो व (विश्वामित्र) घन नेवर विपान और शुत्रु व सप्तम पर आय
दूसरे लोग उनके पीछे पीछे यह विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की—अल्प
जल याली हा जाधो । द्विवचन मे और बहुवचन म जो [स्तुति की] । द्विवचन
वाल की व्याख्या बाद म दोषी (१३१) । यहाँ बहुवचन याड की ॥ २४ ॥

रमध्व मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरूप मुहूर्तमेवै ।

प्र सिन्धुमच्छा वृहती मनीपावस्थुरहे कुशिकस्य सूनु ॥

(ऋतावरी) हसदा बहन वाढो । (मे) मेरे (सोम्याय) सोम ने समान (वचसे) वचन सूनने के लिए (एवं) अपनी गतियों से (मुहूर्तम्) क्षण भर (उपरमध्वम्) रक जाओ । (वृहती) बड़ी (मनीपा) लालसा से (अवस्थु) महायता का इच्छुक में (कुशिकस्य) कुशिक राजा का (सून) पुत्र (चिष्ठु) सिष्ठु के पास (अञ्ज) ही (प्रबहे) बुकाना हूँ ।
 (श्ल० दा३३१५) ।

उपरमध्व मे वचसे । सोम्याय=सोमसपादिने । ऋता-वरी । ऋतवत्य ऋतमिति उदकनाम । प्रत्यृत भवति । मुहू-र्तम् । एव = अथनै, अबने वा । मुहूर्त = मुहूर्त ऋतु, ऋतु अर्ते गतिकर्मण । मुहू = मूढ़ इव काल, यावत् अभीष्टण चेति । अभीष्टणम् अभिक्षण भवति । क्षण क्षणेते, प्रक्षणुत काल । काल कालपते गतिकर्मण । प्राभिहृपामि सिन्धुम् । वृहत्या=महत्या । मनीपया = मनस ईपया, स्तुत्या, प्रज्ञया वा । अद-नाय । कुशिकस्य सूनु । कुशिको राजा बभूव । क्रोशते शब्दकर्मण, क्रशते वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मण, साधु विक्रोश-यिता अर्यनामिति वा । नद्य प्रत्यूनु ॥ २५ ॥

मे वचन क लिए हवा जाओ । सोम्य = सोम देने वाल (वचन) । ऋतावरी = ऋत से युक्त । ऋत = जल, वर्षोंकि (देश को) ओर जाना है । मुहूर्त भर । एवं = गतियों से (√ह) या सहायताओं से (√बव) । मुहूर्त = गोद्ध (मुहूर्त) ऋतु । ‘ऋतु-√ऋ’ = जाना से । मुहूर्त = मूढ़ क समान समय (गोद्ध) अभीष्टण — जड़ा । अभीष्टण = अभिष्टण (क्षण का ओर) । क्षण-√क्षण (मारना) से = अच्छी तरह तरज दिया हुआ समय (श-√क्षण) । वाल-√वालय = जाना से । चिष्ठु को बुकाना हूँ । [वृहती =] वृहत्या = बड़ी मनीपा (मनीपया) यत की ईया (गति) से = स्तुति या बुद्धि से । रसा के लिए । कुशिक का पुत्र । कुशिक राजा थ । √मुग (चित्ताना) से या “प्रशान्न अय वाल-√क्षण से । यत का सम्पर्क वचन देने वाला ।

नदियों ने उत्तर दिया ॥ २५ ॥

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्ज्वाहुरपाहन्त्वं परिधि नदीनाम् ।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्बीः ॥

(वज्ज्वाहुः) वाहूओं में वज्ज्व घारण करने वाले (इन्द्रः) इन्द्र ने (नदी-नाम) नदियों को (परिधि) घेरने वाले (वृत्रं) वृत्र से (अपाहन्) मारा, और (अस्मान्) हमे (अरदत्) खोदा । (सुपाणिः) सुन्दर हाथो वाले (सविता) सविता (देव.) देवता [हमे] (अनयत्) लाये (वयं) हम लोग (तस्य) उनके (प्रसवे) उत्पन्न की हुई (उर्बीः) चारो तरफ (यामः) जाती हैं । (३।२३।६) ।

इन्द्रः अस्मान् अरदत् वज्ज्वाहुः । रदतिः खनतिकर्मा ।
अपाहन् वृत्रं परिधि नदीनाम्—इति व्याख्यातम् । देवोऽनयत्
सविता । सुपाणि=कल्याणपाणिः । पाणिः पणायते: पूजाकर्मणः ।
प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्बीः ।
उर्बीः ऊर्णोते: । वृणोते: इति और्णवाभः । प्रत्याख्याय अन्ततः
आशुश्रुत्वुः ॥ २६ ॥

वज्ज्वाहु इन्द्र ने हमे खोदा । रद् = खोदना । नदियों को चारो ओर से रोकने वाले (परिधि) वृत्र को मारा—यह [स्पष्ट] है । सविता (प्रसव करने वाले—इन्द्र) देव लाये । सुपाणि=कल्याणकर हाथो वाले । 'पाणि' √पणा-य = पूजा करना, से । हाथ जोड़ कर ही देवताओं की पूजा करते हैं । उनके प्रसव में (आदेश से) हम चारो ओर (घेर कर) जाती हैं । 'उर्बी' √र्कु (घेरना) से; और्णवाभ के भरत से √चु (ढेकना) से । [नदियों ने] अहवीक्षार करके अन्त में वचन दिया ॥ २६ ॥

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाय दूरादनसा रथेन ।
नि ते नंसै पीप्यानेव योपा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥

(कारो) है गायक ! (ते) तुम्हारे (वचांसि) वचनों को (आशृणवाम) हम सुनेंगी । (अनसा) यादी से और (रथेन) रथ से (दूराद्) दूर से (ययाय) आये हूँ । (ते) तुम्हारे प्रति (पीप्याना) दूष विलानेवाली (योपा इव) स्त्री के समान, मैं (नि नंसै) शुक्री हूँ । (मर्याय) मनुप्य

के प्रनि (वा॒या॑ इ॒व) वन्या॑ जैसी॑ मि॒ (से॑) तुम्हारा॑ (शश्वत्॑) आलिङ्गन॑ करती हूँ । (कृ० ३।३३।१०) ॥

विशेष—'यथार्थ' के अर्थ के विषय में विभिन्न मत हैं । यास्क और दुर्ग 'जाओ' अथ लेने हैं—गाड़ी से जाओ=पार करो । फिर 'दूरात्' से अलग वाच्य की बल्लंगा भी करते हैं—क्योंकि दूर से आये हो । यह विचित्र मालूम पड़ता है । साध्यण 'यथार्थ'=यत् दूरात् आगत अभि । गेल्डनर ने वा॑ उपसग को 'यथार्थ' के साथ मानकर 'आये हो' अथ किया है । 'शश्वत्॑' के अर्थ में यास्क 'परिष्वजनाय लिखते हैं कि तु 'न सौ ओर' 'शश्वत्॑' दोनों व्याकरण की दृष्टि से समान हैं, दोनों ही किया है । अथ होगा—मैं 'झुक्ती हूँ', और 'आलिङ्गन करती हूँ', अत इसे तुमु नव्येऽ (Infinitive) मानता अम है ॥

आशृणवाम ते कारो वचनानि । याहि, दूरात्, अनसा॑
रथेन च । निनमाम ते पाययमाना॑ इव योवा॑ पुन्रम् । मयांय
इव कन्या॑ परिष्वजनाय । निनमे॑ इति वा ॥ १

गायक । हम तुम्हारे वचन पूरा करेंगी । शब्द और रथ से तुम जाओ,
क्योंकि दूर से [आये हो—दुरं स्त्रायण] (दूर) पिलानेवालों ही जैसे
पुत्र के प्रति [झुकतो है], वैसे ही (हम) तुम्हारे प्रति झुकनी हैं । मनुष्य
के प्रति कन्या॑ जैसे आलिङ्गन के लिए [झुकती है] ; झुकनी हूँ—भी सम्भव
है (एकवचन में) ॥

अश्वनामानि उत्तराणि पद्मिशति । तेपामग्ना॑ उत्तराणि
वहूवत् । अश्व कस्मात् ? अस्तुते अव्वानम् । महाशनो भवति
इति वा । तत् दधिक्रा॑ इत्येतत् 'दधत् क्रामति' इति वा, दधत्
ग्रन्दतीति वा । दधत् आकारो भवति इति वा । तस्य अश्ववद्
देवतावच्च निगमा॑ भवन्ति । तद् यद् देवतावद्, उपरिष्टात् तद्
व्याख्यास्याम । अथ एतद् अश्ववत् ॥ २७ ॥

इसके बाद वे छब्दीय नाम अश्व थे हैं, त्रिमय विठ्ठले आठ नाम वहूवचन
म प्रयुक्त होते हैं । (२३) 'अश्व' क्ये ? रास्त का, तथ करता है
(अश्व + ~ अश्व) या अधिक भोजन (? गति) वाला । 'उन (नामों)
मे दधिका॑' भी है—पारण करते अलगा है या पारण करके हिन्दिनाता है ।

या पारण बरते पर अच्छे आशार वा (मुन्दर) लगता है। इसका अर्थ और देवता—दोनों शब्दों में प्रयोग होता है। जो देवता अर्यवाला है उसकी व्याहग वाद में उत्तरे (१०३१)। यह 'अश्व' अर्यवाला है ॥ २७ ॥

उत्तस्य वाजी क्षिर्पणि तुरप्पति ग्रीवायां वद्धो अपिक्ष्म आननि ।
प्रनुं दधिक्षा अनु नन्तवीत्वत् पथामद्धांस्यन्वापनोपाणन् ॥

(उ३) और (ए४) वह (वाजी) घोड़ा (लीकाय) गरदन में, (अपि-
क्ष्मी) रात्रि में और (प्रामनि) मृदु में (वट) दंष्ट आने पर (तिरनि)
जोड़े के प्रहार में (तुरप्पति) तेज दीढ़ा है, (दधिक्षा) घोड़ा (ए५)
वाजी वक्ति वा (प्रतुतासीरा) गरद बरता हुआ (पणप) रात्रि में
(अद्धानि) मोटो वो (ए५ प्रामनोपाण) तभी में पार होता है।
(ए० आ४०१४) ॥

अति ग वाजी यंजनान् धोजन् अनु तूर्णगस्तुते अप्त्वा-
नम्। ग्रावाया वद्ध। ग्रीवा गिरते. या, गृणते: या, गृह्णते:
या। 'अपिक्ष्मी' 'आननि' इनि व्याख्यातम्। प्रनुं दधिक्षा।
कर्म वा प्रत्ता या। अनु नन्तवीत्वत्—सनोते. पूर्यंया प्रहृत्या
निगम। पथामद्धानि=उदा तुरिलानि। पथा. पत्ते. या,
पद्धो: या पन्यते. या। अद्ध. अप्त्वे। आपनीक्षण् इति
पद्धो. चर्वरीन्दूतम् ॥

प्रो० १५ वाजी = वदामृत। ए०३८ (१०५) में वाद, लीक ही वाजी
गर रात्रि है। गरदन में रंडा हुआ, लीकमृदु (तिराया) हो, या ए५
(वाराद बरता) हो, या ए५ (पहरता) हो। वर्ण को वाराद हो—ए५
(वाजी वक्ति) वी वाराद हो चुकी है। ए५=पर्यंया या तुरिं वो, यो।
ए५ वाराद वारा है (वर्तमा है)—ए५ वो तुरेप्रति (वर्ता-१)
हो वरा है। ए५मृद्धांस्यन्वापनोपाणन् वारो हो। ए५प्रति, ए५वद ए५
ए५वट (वाजी) है। ए५प्रति (वरता) हो। सार्वत्रिवर्तम् (वाजी)
हो—ए५प्रति वा ए५वट (वरता) हो है ॥

दिनेन्द्र—ए५वट = ए५वट, ए५वट (वरता) ए५वट वै ए५वट ए५वट
ए५वट—वरो वरो वरो है। ए५ ए५वटिवर्त—वरता-वर्त, ए५वटिवर्त है।
ए५वटिवर्त = ए५वट ही ए५वटिवर्त; ए५वट ए५वट ; ए५वटिवर्तिवर्त—ए५वट

(जाना) का पहूँचे । यह को पासक चक्रोत कहते हैं । दुर्ग धानु की ओसी अवस्थाएँ दिखलाते हैं—

प्रकृत्यन्तः सनन्तश्च यडन्तो यहलुमेष च ।
पदन्तः पयन्तसनन्तश्च पड़विषो धातुरुच्यते ॥

दश उत्तराणि आदिष्टोपयोजनानि—इति आचक्षते साह-
चर्यज्ञानाय । ज्वलतिकर्मणि । उत्तरे धातव । एकांशा । तावन्ति
एव उत्तराणि ज्वलतो नामवेयानि नामवेयानि ॥ २७ ॥

इसके बाद के दस नामों पे साहचर्य-ज्ञान के लिए उनके उपयोग का
भी वर्णन हुआ है । उसके बाद के चारहूँ धानु 'जहना' अर्थात् हैं । उसके
बाद के उत्तरे ही नाम 'उवलन' के हैं ॥ २८ ॥

॥ इति निरसते द्वितीयोऽध्याय ॥

तृतीय अध्याय

प्रथम-पाद

कर्मनामान्युतराणि पड्विशति (निध० २।१) । कर्म कस्मात् ? क्रियते इति सत । अपत्यनामान्युतराणि पञ्चदशा (निध० २।२) अपत्य कस्मात् ? अपतत भवति । नानेन पतति इति वा । तद् यथा 'जनयितु प्रजा' एवमर्थीये ऋचो उदाहरिष्याम ॥ १ ॥

इसके बाद के उ० रीस नाम कर्म के हैं । कर्म कैसे ? जो किया जाय (\checkmark) । बाद के पन्द्रह नाम अपत्य के हैं । अपत्य कैसे ? [विता से] अलग होरर फैलता है (\checkmark तन्), अथवा इसके कारण [विता नरक म] नहीं पड़ता है (\checkmark पद्) । तो जिससे 'सन्तान उत्पन्न करने वाले (विता) की' [सिद्ध हो], ऐसे अर्थवाली दो ऋचाओं का उदाहरण देये ॥ १ ॥

विशेष—दुर्गचार्य कहते हैं कि ज्वलन (द्वितीय अध्याय) के नामों से बाद कर्म के नाम इसलिए आए हैं कि अभिन (उदलन) में हमारे सभी कर्म निपटन होते हैं, जैसे यज्ञ आदि । कर्म के बाद ही अपत्य आता है योकि सभी कर्मों में मुख्य है पृत्रोत्पादन । दुर्ग भी कल्पना बड़ी ही भनोरञ्जन है । एवम् थिये = इस अर्थवाली (दि० च०)—यह 'ऋचो' (दि० ख०) का विशेषण है ।

परिपद्य ह्यरणस्य रेकणो नित्यस्य राय पतय. स्याम ।
न दोषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पयो वि दुक्ष. ॥

(अरणस्य) दूसरे परिवार की (रेकण) सम्पत्ति (परिपद्य हि) त्याग देने के योग्य है, [हम लोग] (नित्यस्य) विरस्यायी (राय) धन के (पतय) इरामी (स्याम) बनें । (अन्यजातम्) दूसरे का ज मा हुआ पुत्र (शोप न) पुत्र नहीं है, वह तो (अचेतानस्य) अज्ञानी के लिए बंदा (अम्ति) होता है, (अग्ने) हे अग्ने ! (पय) हमारे मांगे को (मा वि दुक्ष) दूपित मत करो (अ० ७।४७) ।

पिशेष—दुश के अनुसार इन ऋचाओं म वसिष्ठ और अग्नि का सवाद चण्डि है। वसिष्ठ ने अग्नि से पुत्र मर्यादा क्योंकि वसिष्ठ के सभी पुत्र मारे गये थे। अग्नि ने उत्तर दिया कि खरीदा हुआ, कृतिम या दत्तक पुत्र ले लो। वसिष्ठ ने उत्तर दिया कि खरीदा म इन पुत्रों की निरव्यक्ता दिलाकर और सुन को ही पुत्र बतलाया और कहा कि हे अग्ने ! मेरे पास को दूषित मत करो।

परिहृत्य हि नोपसत्तंव्यम् । अरणस्य रेक्ण । अरण अपार्णो भवति । रेक्ण इति धननाम—रित्यते प्रयत । 'नित्यस्य राय पतय स्थाम' । पित्र्यस्पेव धनस्य । 'न शेषो अप्ते अन्यजातमस्ति' । शेष इत्यपत्यनाम—शिष्यते प्रयत । अचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति । मा न पथो विद्वदुप इति । तस्मोत्तरा भूयसे निर्वचनाय—॥ २ ॥

परिहार करना चाहिये। अर्थात् पास नहीं जाना चाहिए। अपरिचित का यन । अरण = अरण (जलशानसम्बन्ध) से रहित [= दूसरे वश में उत्पन्न] । रेक्ण = धन वयोऽवि भरने के समय ओग इस छोड़ जाते हैं। हम लोग नित्य (स्थापी) सम्पत्ति के स्वामी बनें, जिस प्रकार पंतक सम्पत्ति के [स्वामी बनते हैं] । हे अग्नि ! दूसरे का ज मा हुआ पुत्र नहीं है। अय = अपत्य (सत्तान) क्योंकि भरनेवाली की यह [सम्पत्ति] यही रह जाती है। वह (अपत्य) केवल भजानिया भा पागलो का ही होता है (ये ओग ही दत्तक आदि पुत्र को अपत्य समझते हैं) । हमारे पाग को दूषित मत करो। इसके बाद की [ऋचा] और अधिक हृष्ट व्याख्या के लिए है ॥ २ ॥

न हि ग्रभायारण सुशेषोऽन्यादर्था भनसा भन्तवा उ ।
अथा चिदोक पुनरित्स एत्या ना वाज्यभीपाळेनु नव्य ॥

(अरण) दूसरे परिवारवाला (सुग्रीव) सुखदायक होन पर भी (अपादय) दूसरे के देश में उत्तर न होने के कारण (न हि ग्रभाय) मही महज कारना चाहिये एका (नवका) मन में भी नहीं (न उच्चे उ) सोबना चाहिये। (अथ) वयोर्दिं (स इत्) वद् (पुत्र) स्त्रि (अंग चिदु) अपत्य घर को ही (एति) लौट जाना है (न) हमारे पास (वाङ्मी) दीर (अभीपाट्) गमुओं का दमन करनेवाला (नव्य) नवी [पुत्र] (आ एतु) आये (महू उत्ताप) ।

न हि ग्रहीतव्योऽरण सुमुखतमोऽपि अन्योदर्य । मनसाऽपि
न मन्तव्य —‘ममायम्’ इति । अय स ओक पूनरेव तदेति यत
आगतो भवति । ओक इति निवासनामोच्यते । एतु नो वाजी
वेजनवान् । अभिप्रहमान सप्तान् । नवजात । स एव पुन
इति ॥ अथैता दुहितृदायाद्ये उदाहरन्ति । पुनरदायाद्ये इत्येके ॥३॥

दूसरे के पेट से उत्पन्न, दूसरे कुलवाला बन्डा सुख देने पर भी ग्रहण न
करें । मन में भी नहीं समझ कि यह मरा है । (वयोकि) बाद में वह उसी
घर में लौट जाता है जिससे आता है । ओक निवास का पर्याय है । वीर
या वेगवान् हमारे पास आय । धनुओ का दमन करनेवाला नया उत्पन्न ।
वही (वास्तविक) पुनः है ।

अब आग की अद्धा को (कुछ लोग) पुनो वा उत्तराधिकार दिखाने के
अथ में लेते हैं कुछ लोग पुनः वा उत्तराधिकार दिखलाने म ॥ ३ ॥

शासद्वित्तिरुहितुनंप्य गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधिर्ति सप्तयन् ।
पिता यन दुहितु सेकमृज्जन्त्स शरम्येन मनसा दधन्वे ॥

(ऋतस्य) यज्ञ के (दीधिर्ति) विषान को (सप्तयन्) आदर भाव से
देखते हुए (विद्वान्) जो नी, (वहि) वहन वरनवाला पति (शासद्)
धोयित करता है कि वह (दुहितु) पुन्ही से (नप्य) नाती या दोहिता
(गात्) पायेगा (यत्) जहाँ (पिता) रिता (दुहितु सेकम्) पुन्ही के
लिए पति (ऋज्जन्त्) खोजता है वहाँ (गम्यन मनसा) शात मन स
(सदधन्वे) अपने को रखता है । (ऋ० ३।३।१ और ऐ० श्ल० ६।१।२)

प्रशास्ति बोढा सन्तानकर्मणे दुहितु पुनरभावम् । दुहिता
दुर्हिता, दूरे हिता, दोध्येवा । नसारमुपागमत् दोहित्र पौत्रमिति ।
विद्वान् । प्रजननयज्ञस्य, रेतसो वा, अज्ञादज्ञात्सम्भूतस्य, हृद-
यादधिजातस्य, मातरि प्रत्यृतस्य, विधान पूजयन् । अविरोपेण
मिथुना पुना दायादा इति ॥

वहन वरनेवाला (पति) स नानोवित वर्षे लिए पुन्ही वा पुनः होना
स्वीकार करता है (=पुन्ही वा पुनः का अधिकार प्राप्त है जि वह स तान् वा
काम करे) । दीहिता = जिसका हित वरना बठिन है जो दूर पर हितर

होती है मा दूहनी रहनी है (√दुह्) । उसने नारी पाया है अर्थात् दुहिता का पुत्र (दीक्षित) भी पौत्र ही है । वह ज्ञानी है । प्रजनन रूपी यज्ञ के पा प्रत्येक अग से उत्पन्न, हृदय से निकले हुए और माता में प्रविष्ट हुए रेतस् (वीयं) के विधान को सम्मानभाव से देखते हुए [वह स्वीकार करता है] । विना भेद-भाव के दोनों सन्तानों (पुत्र और पुत्री) को उत्तराधिकार प्राप्त है ।

प्रिशेप—दूर्ग ने और यास्क ने भी ऋचा के पूर्वार्थ की ही व्याख्या की है । इसमें पुत्री का अधिकार पुत्र-सा दिखलाया गया है । दुहिता का निर्बंधन बढ़ा मनोरञ्जक है—दुर्हिता = जिसकी भलाई करना या जिसे प्रसन्न करना कठिन है । किंतु भी भलाई की जाय इन्हे प्रसन्न करना कठिन है । दूरे हिता = पिता से दूर रहने पर ही पिता का कल्पण है । दुह् = पिता से बराबर घन दूहती रहनी है । ऐनरेय आद्याण की व्याख्या में शायद ने उद्दरण दिया है—

सम्भवे स्वजनदुखकारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थंहारिका ।
यौवनेऽपि वहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितु ॥

वस्तुत दुहिता का सम्बन्ध बहुत प्राचीन भाषाओं से है—प्रीक Thugather, अवेस्ता dugbeter और dagedar, जर्मन Tochter, पुरानी अर्गेनी (O E) dohtor, अग्रेनी daughter. प्राचीन भाषाओं में ह्, ए और ए का परिवर्तन बहुत सामान्य था ।

तदेतद् ऋक्षलोकाभ्यामभ्युक्तम्—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।

आत्मा वै पुनरामासि स जीव शरद् शतम् ॥ इति ।

अविशेषेण पुनाणा दायो भवति धर्मतः ।

मियुनाना, विसर्गादी मनु स्वायम्भुवोऽप्रवीत् ॥

इसी (नान) को ऋचा और इलोक में कहा है—तुम प्रत्येक अग से उत्पन्न होते हो तथा हृदय से निकले हुए हो, तुम पुत्र नाम की हमारी (अपनी) आत्मा हो हो, तो एक सो शरद-ऋतुमो (वयों) तक जीवित रहो (कोरोऽप्याऽप्य॒४११) । ‘दोनों ही मन्त्रानों (पुत्र और पुत्री) का, विना भेद-भाव के, धर्म के अनुसार, उत्तराधिकार होना है’—ऐसा स्वायम्भुव (अपने प्राप्त उत्पन्न होने वाले व्यक्ति के पुत्र) मनु के, सृष्टि (विसर्गं) के आरम्भ में कहा था ।

विशेष—पश्चिम दुर्गचिर्य ने 'मियुन' का वर्ण्य युग्म=पुत्र-पुत्री किया है किन्तु प्रथम शब्द में पुत्र की प्रवानता प्रदर्शित किये जाने के कारण प्रतीत होता है कि 'मियुन' का वर्ण 'जुडवाँ (twin) पुत्र' होगा जिसमें दोनों को समान अधिकार दिया जाता है। राजवाङ्दे का यह सुन्नाव उचित नहीं जोचता क्योंकि यास्क ने पुत्र-पुत्री दोनों के उत्तराधिकार के प्रसंग में इसका उल्लंघन किया है। पुत्री के अधिकार-निषेध के लिए तो बाद में 'न दुहितर इत्येके' दिया ही है। इन दोनों उद्धरणों में वहला तो कहा है, दूसरा इलोक। यह इलोक मनुष्यनृति में नहीं मिलता।

न दुहितर इत्येके । 'तस्मात्पुमान् दायादः अदायादा ली' इति विज्ञायते । 'तस्मात् लिय जातां परास्यन्ति न पुमांसम्' इति च । स्त्रीणा दानविक्रयातिसर्गाः विद्यन्ते न पुंसः । पुंसोऽपी-त्येके, शौन देये दर्शनात् । अभ्रातृमतीवादः इत्यपरम् ।

(अमूर्या यन्ति जामय. रावीलोहितवाससः) ।

'अभ्रातर इव योपास्तिहन्ति हतवत्मनः ॥'

अभ्रातृका इव योपा. तिहन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवत्मनि । इति अभ्रातृकाया. अनिर्वाह. औपमिकः । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ४ ॥

कुछ लोगों के अनुसार पुत्री को [उत्तराधिकार] नहीं मिलता। 'इति ए पुष्ट उत्तराधिकारी है, स्त्री उत्तराधिकारिणी नहीं' (मंत्रा० मं० ४।६।४) — यह मालूम होता है। और यह भी कि 'उत्तरान होते ही स्त्री को तिरहृष्ट वरते (दूर कर देते) है, पुष्ट यो नहीं' (वदी) । स्त्रियों का ही दान, विवाह और परित्याग होता है, पुष्टियों का नहीं। कुछ लोगों के अनुसार पुष्टियों का भी [दान-प्राप्ति] हाता है पर्योगि शुनवेव वो वया में देखने हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह (स्त्री का उत्तराधिकार-पिण्डान्त) भाई में रक्षित स्त्रियों में रिहा है। (साल वस्त्र पहनने वाली मध्य स्त्रियों मादियों के गमान जानी है); अपने मार्गे दे रक्षा जाने पर वे भाई में रक्षित स्त्रियों के समान रक्षी हैं (अथवा म० १।१५।१) । वे मन्त्रानीत्यादन तथा पिण्डान के मार्गे दे रक्षा जाने पर, भाई में 'रक्षित स्त्रियों के समान' रहते हैं। इस तरह उपरा के द्वारा

अतक निया है कि आरुहीन (स्त्री) से विवाह न करें। इसके बाद की जगता इसे अधिव हृष्ट करती है ॥ ४ ॥

विशेष—‘उत्तम होने ही स्त्री को फेंक देने हैं’—इस वाक्य की व्याख्या में दुर्गचाय ने स्त्री पुरुष को मिट्टी का तथा काठ का पात्र माना है। हवन में मिट्टी के पात्र को फेंक देने हैं छिन्नु काठ के पात्र को फेंकते नहीं उससे हवन करते हैं। स्त्रियों का दान तथा विक्रय बैवाहिक शुल्क लेकर होता है। इस प्रसंग में सुभद्राहरण नामक श्रवण का उद्धरण दिया गया है—

विक्रय चाप्यपत्पस्य भतिमान् कोऽनुमस्यते ।

स्वल्पो वापि वदुर्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥

अनिषग—परित्याग (अनिता हि परित्याग उदा दान मृजेमंतम्)। शुन शेष की स्था ऐतरेय ब्राह्मण में दी हुई है।* आहुरहित स्त्रियों के विषय में यास्क का ‘कहना है कि इन्हें धनाधिकार अवश्य है परन्तु इनमें विवाह करना निविद्ध है क्योंकि इनकी तुलना उन व्यक्तियों से की गई है जिनका मार्ग संतान तथा पिण्डदान के विषय में बिलकुल रक्षा हुआ है ॥ ५ ॥

अभ्रातेव पुस एति प्रतीची गतर्हिगिव सनये धनानाम् ।

जायेव पत्य उशतो सुवासा उपा हस्तेव नि रिणोते अप्स ॥

(अभ्राता इव) जैसे भाई से रहित स्त्री (पुसः) मनुष्य की (प्रतीची) धौर (एति) जाती है, (धनाना 'सनये') धन की प्राप्ति के लिए (गतर्हिगिव इव) गर्व = समाभवन के सम्में पर, रगमच पर चढ़ने वाली—नृत्य करनवाली

* पुरदीन हरिश्चन्द्र ने नारद के परामर्श से वरुग की उत्तरासना द्वारा पुत्र पाया जिसमा नाम दीहित था। वरुग ने १०१ भवितव्य के अनुसार दीहित की बछि भौगोलिक अनुभव इरिश्चन्द्र 'बता है', 'दौन उग्ने दीविये' 'कवच धारण करते हों' आदि बहनों से टालते गये। अन्त में दीहित बन में चला गया और हरिश्चन्द्र को जलोदर दीव हो गया। इन्द्र की प्रेरणा से ६ वर्ष तक दीहित बन में घूमता रहा। अन्त में एक भूसे जालण भजीगर्त के तीन पुत्रों में विचले शुन शेष को १०० गायों के बदले सरोद लाया और उससे वरुग को बलि देने के लिए पर भास्तर बद्ध करने लगा। यह में शुन शेष को चौथने और भास्तर के लिए भी अभीगर्व ने एक-एक सौ गायें पार्द। शुन शेष देवताओं की सूखि करके दूर गया। उस दिन के बद्ध का अधिव बनातथा सोम चुभाने की नर विधि वा उपने आविक्षार भो किया। अभीगर्व की लाय चेष्टा पर भो विधामित्र ने उसे अपना पुत्र बना लिया। विधामित्र के विरोध करने वाले पुत्र म्लेच्छा आधि हुए (देव वा० छा० छा०) ।

स्त्री के समान, (सुवासा:) सुन्दर बस्त्र पारण किये हुए और (पत्ये उशती) पति की कामना करने वाली (जाया इव) पत्नी के समान तथा (हस्ता इव) हँगने वाली स्त्री के समान (उपा) उपा (अप्स:) अपने रूप को, छाती को (निरिणीते) फैलानी है (श० ११२४७) ॥

अन्नातुकेव पुस पितृन् एति अभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्ड-दानाय, न पतिम् । गर्तारोहिणी इव धनलाभाय दाक्षिणाजी । गत्तं सभास्याणु । गृणाते । सत्यसंगरो भवति । तं तत्र या अपुत्रा, या अपतिका सा आरोहति । ता तत्राक्षैः आघ्नन्ति । सा रिवय लभते ॥

सन्तानोपत्ति या पिण्डदान के लिए, भाई से रहित स्त्री जैसे पुरुषों के पाय अर्थात् प्रतृत्वज्ञ की ओर जाती है वहि की ओर नहीं । दक्षिण-देश में उत्तरान्त तथा घनप्राति के लिए गर्वं (सभाभवन के खम्भे) पर चढ़ने वाली स्त्री के समान । गत्तं = 'सभाभवन का स्तम्भ' √गृ (पुकाना) से । इस (स्थान) में इयं गपे ध्यवहार मच्ये होन दें हैं । जो पुत्रहीन या पतिहीन होनी है वह उम (खम्भे) पर चढ़ती है, उसे लोग पासों से (dice) मारत हैं और वह उन पाती है ।

विशेष—भाई से रहित स्त्री वहि का वन्याण नहीं बरती, अपने पितृवैश म ही लोट जाती है । दुर्दं के अनुमार दक्षिण में प्रथा है हि शून्यस्थान में पुत्रहीन या पतिहीन स्त्री जाती है । (अपना रुठ सवार कर) वह खम्भे पर चढ़ती है उसे लड्य कर लोग वामे फेंटते हैं तथा उसे कुछ देंसे भिल जारे हैं । इस खम्भे के अधीन इयं गपे ध्यवहार मच्ये होते हैं—ऐसा कोई नहीं बहुत कि पासा यहीं निरा, यहीं नहीं । दाक्षिणाजी—दक्षिण में दाक्षिणा, उनमें उत्तरान्त—दाक्षिणाजा । यहीं शब्द साधारण ने लिया है । वर्तमान दाक्षिणाजी अनुद दृष्टि है ।

इमशानमश्योऽपि गतं उच्यते । गुरते । अनगूणो भवति । इमशान-श्मशयनम् । इम शरोरम् । शरीर शृणाते । शम्नाते । वा । इमशु लोम । इमनि वित भवति । लोम लुनाते । वा । लीयते वा । 'नोपरस्याविष्कुर्यात् । यदुपरस्याविष्कुर्यात् गतं ह्यात् स्यात् प्रमायुक्तो यजमान् ।'—इत्यपि निगमो भवति । इयोऽपि गतं । उच्यते । गृणाते । स्तुतिकर्मणं । मृत्युननम् यानम् । 'आ दोहयो वर्ण मित्र गत्तम्'—इत्यपि निगमो भवति ॥

शमशान के समूह को भी गर्व कहते हैं।[✓]गुर (तैयार होना) से, वयोकि [यहाँ के निवासी मृत पुरुषों के स्वागत में] तैयार रहते हैं। शमशान = शम (शरीर) का शवन (शान्ति) स्थान। शम = शरीर। 'शरीर' [✓]शृं (जलाना) या [✓]शम (नष्ट करना) से (देखिये, निष्क्रिया २१६)। शमशु = रोम वयोकि शम (शरीर) में वाश्चित होता है। लोम—[✓]लू (काटना) या [✓]ली (मटा होना) से। (गर्व का अर्थ 'शमशान' है) इसका उदाहरण यह है—'पञ्चस्तम्भ के निचले भाग को खोड़ना नहीं चाहिये; वह प्रभादी यजमान जो यज्ञस्तम्भ के निचले भाग (उपर) को खोले वह शमशानस्व (गर्व स्था) बनेगा !' रथ को गंत कहते हैं।[✓]गृ = 'स्तुति करना' से। यह ऐसी गाढ़ी है जिसकी स्तुति सबसे अधिक हूई है। इसका वैदिक-उदाहरण है—'हे बहु और मित्र ! गर्व (रथ) पर आप दोनों चढ़े !' (ऋ० ५।६।२।८) ॥

विशेष—यात्रक की निर्वचन प्रियता तथा विषयान्वर-गमन-प्रवृत्ति यहाँ पराकाष्ठा पर पहुंची हुई है। इसी के फलस्वरूप—गर्व, शमशान, शरीर, शमशु, लोम—जैसे शब्दों की व्याख्या हो गई है। दुर्ग इसे 'प्रसक्तानुप्रसक्त' (सम्बद्ध शब्दों से सम्बद्ध) कहते हैं।

जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा. ऋतुकालेपु । उथा-
हसनेव दन्तान् विवृपुते रूपाणि । इति चतस्र. उपमाः । 'नाभ्रा-
थीमुपयच्छेत् । तोकं ह्यस्य तद् भवति'—इति अभ्रातृकायाः
उपयमनप्रतिपेवः प्रत्यक्ष., पितुश्च पुत्रभावः । पिता यत्र दुहितु-
अप्रत्तायाः रेत्-सेक्तं प्राजंयति सन्दिवात्यात्मानं संगमेन मन-
सेति ॥ अथैतां जाम्या. रिक्तप्रतिपेवे उदाहरन्ति । ज्येष्ठं पुत्रि-
कायाः इत्येके ॥ ५ ॥

ऋतुकाल जाने पर जैसे सुन्दर वस्त्र घारण करने वाली, पनि की वामना करती हुई पत्नी [अपने रूप को फैलाती है]। हँसती हुई (नारी) जैसे दौत [की छटा] दिलाती है वैसे ही अपने रूप को फैलाती है। इस प्रकार चार उपमायें हैं :

माई से रहित स्त्री से विवाह न करें, वयोकि उसमें उदाहर पुत्र उपमा .
[स्त्री के पिता] से सम्बद्ध रखता है—इस प्रकार भ्रातृहीन स्त्री से विवाह
का निषेध तथा पिता का [अपनी पुत्री को] पुत्र ममक्षना सुरक्षित है।^{कृ}

* तुलना करें—मनु० दृ० ११३, यात्रवस्त्र० १५३ ।

पिता जब अपनी अविवाहित लड़की का पति (रेतस् का सिचन करने वाला) चुनता है तो अपनी आत्मा को वह शान्त (सम्प, शम्य) ० मन स धारण करता है (अर्थात् वह पुत्रहीनता के कष्ट से मुक्त हो जाता है क्योंकि पुत्री वा पुत्र तो उसी के बदल का होगा) ।

अब कुछ लोग निम्नलिखित घटा को पुत्री के उत्तराधिकार नियेष के रूप में रखते हैं । कुछ लोग कहते हैं कि नियुक्त की गई पुत्री को [घन वा] बड़ा भाग मिल ॥ ५ ॥

न जामये तान्वो रिवथमारैवचकार गर्भ सनितुर्निधानम् ।

यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्य कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् ॥

(तान्व) शरीर से उत्पन्न अपने पुत्र वा (जामये) अपनी बहन को (रिवथम्) उत्तराधिकार-धन (न) नहीं (आरंक्) दिया; उसने उसके (गर्भम्) गर्भ वा (सनितुः) उसके पति के (निधानम्) भाण्डार-गद के रूप म (चकार) बना दिया है । (यदी) जब (मातर) माताये (वह्निम्) सन्धान को (जनयन्त) उत्पन्न करती हैं तब उन (गुहृतो) पुष्पहतश्चिंता म (अ॒य) एव तो (पत्ता) बाम बरने वाला [होता है भीर] (अ॒य) एव (ऋन्धन्) लाभ उठान वाला [होता है] (अ॒य ३११२) ।

विशेष—इस भ्रम म पुत्री वा अधिकार-नियेष दिलाया है अर्थात् पुत्री को विता वी सम्पत्ति म कोई भाग मही मिलता यदि भरने शरीर वा उत्पन्न पुत्र भी हो । यद्यपि माताये दोनों तरह की संतान वी समान रूप से उत्पन्न करती हैं तथापि उनम् एव वयवर्ती (पुत्र) होता है, दूसरी पुत्री वी सभी संज्ञा कर (ऋन्धन्) दूसरे क वदी भेज दते हैं । मेल्डवर ने ‘सनिता’ वा अथ विजेता (पाणिग्रहण वरो वाला) लिया है ।

न जामये भगिन्यै । जामि —अन्येऽस्या जनयन्ति जाम् ।
अपत्यम् । जमते या स्याद् गतिरमेण । निर्गमनप्राया भवति ।
तान्व =आत्मज पुत्र । रिवथ प्रारिच्चत्=प्रादात् । चवार एना
गर्भनिधानी सनितु द्वित्तिग्राहस्य । यदिह मातर अजनयन्त
वह्नि=पुत्रम् । अवल्लि च क्षियम् । अन्यतर गन्ताननर्ना
भवति पुमान् दायाद् । अन्यतर अर्वयित्वा जामि. प्रदीयते
परस्मै ॥ ६ ॥

जामि अथै॒ वहन के लिए नहीं। जामि=जिसमें दूसरे लोग 'जा' अर्थात् संतान उत्पन्न करे। या 'जाना' अर्थं वाले चूँकि से। उसे प्राय [पनि के यही] बाहर ही जाना एडवा है। तान्व=प्रणाल पुष । (उसने) धन को छोड़ा या दिया। उस (वहन) को सनिना अर्थात् पाणिघटण करने वाले (पनि) के द्वारा गर्भ धारण करने योग्य बनाया (अर्थात् उसका पालन-पोषण किया)। जब मातृत्वों ने वहिं अर्थात् पुत्र को और अवहिं अर्थात् पुत्री को उत्पन्न किया, उनमें एक उत्तराधिकारी पुरुष-संज्ञा अपनी मन्नानों को बढ़ाने वाली है, दूसरी स्त्री सनान (जामि) पालन-पोषण करके दूसरे को दे दी जाती है ॥ ६ ॥

द्वितीय-पाद

मनुष्यनामानि उत्तराणि पश्चिमितिः (निष० २३) ।
मनुष्याः कस्मात् ? मत्वा कर्मणि रोच्यन्ति । मनस्यमानेन
सृष्टाः । मनस्यति. पुनर्मनस्वीभावे । मनोः अपत्यम्, मनुषो
वा । सत्र 'पञ्चजना.' (२१३।२३) दत्येतस्य तिगमा भवन्ति ॥७॥

इसके बाद के पञ्चवीत नाम 'मनुष्य' के हैं। 'मनुष्य' कैसे बना ? चूँकि वे समझ कर (√मन्) कामों से मध्यम्य करते हैं (√पितृ)। बुद्धिमान् (यथा) के द्वारा ये बनाये गये हैं। पुनः, 'मनस्यति' का प्रयोग बुद्धिमान् होने के अर्थ में ही होता है। मनु का या मनुष् का पुत्र। उन (नामों) में 'पञ्चजना.' शब्द के वैदिक उद्धरण हैं ॥ ७ ॥

तदद्य वाच. प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम ।
ऊर्जादि उत यज्ञियामः पञ्चजनाः मम होत्रे जुपध्यम् ॥

(उत्) तो (अथ) आज (प्रथम) पद्मले (वाच.) वचन को (मसीय)
योग लौं (येन) जिस पथन से (देवाः) इप देवता सोग (मनुसुरान्)
यमुरो भो (यज्ञि यमाम) परामित वर लेंगे। (ऊर्जादः) हे यज्ञ के अप्र
तानेशाले (उत्) और (यज्ञियाम्) यज्ञ वरने याते पवित्र (पञ्चजना.)
मनुष्यों। (मम) मेरे (होत्र) यम को (जुपध्यम्) सेवा करो
(कृ० १०।५३।४) ।

तदद्य वाच. परमं मसीय, येन असुरान् अभिर्भवेत् देवा ।
 असुरा.=असुरता. स्थानेषु, अस्ता. स्थानेभ्यः इति वा । अपि
 वा, 'असु.' इति प्राणनाम । अस्त. शरीरे भवति, तेन तद्वन्त ।
 'मोदेवानसृजत तत्सुराणा सुरत्वम् । असोरसुरानसृजत तदसु-
 राणामसुरत्वम्'—इति विज्ञायते । ऊर्जाद उत्त यज्ञियास ।
 अन्नादाश्च यज्ञियाश्च । ऊर्जा इति अन्ननाम, ऊर्जयति इति
 सतः । पक्षं सुप्रवृक्षणमिति वा ॥

[मैं] आज इस वचन (सामर्थ्य) को मरमे बढ़ा समझता हूँ, जिससे हम देवता अमुरों को पराप्त करें । असुर=जो किसी जगह ठोक से न ठहरे (अ-मुरम्) पा सभी जगहों से भगाये जाते हैं (मूस्) । अथवा 'अमु' प्राण का पर्याप्तवाची है, जो शरीर में ढाला गया हो । इस (प्राण) से मुक्त [अमुर है] । 'देवतामों का सुरत्व इसी में है कि [प्रक्षाले] देवों को अच्छी चीज (सु) से उत्तम लिया, राक्षस लोप अमुर हुए । क्योंकि इसे यथाव चीजों (अ-मु) से उत्तम लिया'—यह मात्रम होता है ।* यज्ञान राने वाले और पवित्र—अर्थात् अग्नमधाक और यज्ञवत्ता (पवित्र) । 'जर्ज्'=अग्न वा एक नाम है क्योंकि यह बल प्रदान करता है । पक्ष जाने पर विभाजन के योग्य होता है (मूष्ट + मूष्ट) ॥

विशेष—'अमुर' के विषय में क्षी गई क्ष्वप्नायें सारी निरपेक्ष है क्योंकि यह प्राचीन धार्म है 'अमुर' देवता के अर्थ में भी आया है । वस्तुत, उमरा प्राचीन-अर्थ वही था । तुलना करें अवेस्ता—Ahura Mazda=परमेश्वर । पुन, अपने निरुक्त (२११) में इहे गये निर्वचन-सिद्धान्त 'वेनचिद् धूतिसामा-म्येन' वा प्रयोग याकृ यही ऊर्जा वा व्युत्पत्ति में वरने लगे हैं । मूष्ट वा एक रूप है 'पक्ष' जिसमें क्षी आया है तथा मूष्ट से रुपिया वा ऊर्जा वाक्य बन गया ॥

पश्चजना मम होत्रं जुष्वत्वम् । गन्धर्वा. पितरो देवा
 अमुरा रक्षामि दत्येके । चत्वारो वर्णाः, निपादः पश्चम. दृत्यां
 पमन्यव. । निपादः पस्मात् ? निपदनो भवति । निपण्णमस्मिन्

* तुलना करें—नैदिरीदहारा—३ हातार ।

पापकमिति भैरुका । 'यत्पाञ्चजन्यया विशा' । पञ्चजनोनया विशा । पञ्च पृक्ता सख्या—छीपुनपुसकेषु अविशिष्टा ॥

हे पांच जनो ! मरे यज्ञ की सेवा करो । कुछ लोगो के अनुसार ग घव पितृण, देवता, अमुर और साक्षी, जौषम यव के अनुसार चारों वण और पांचवाँ निषाद । निषाद कैसे बना ? प्राणियों के वव से जीता है या निरुत्त कारों के अनुसार उसमे पाप टिका रहता है । पांच जनों की जाति के द्वारा जब '(कृ० १६३।७) । पांच जनों से मुक्त जाति (विं) द्वारा । पञ्च शृक् (समुक्त या स्थिर) सख्या है क्योंकि रजोलिंग पूलिंग तथा नपुष्टकलिंग म एक समान ही रहती है ॥

वाहुनामानि उत्तराणि द्वादश (निध० २।४) । वाहू कस्मात् ? प्रवाघते आभ्या कर्माणि । अङ्गुलिनामानि उत्तराणि द्वाविशति (निध० २।५) । अङ्गुलय कस्मात् ? अग्रगामिन्यो भवन्ति इति वा, अग्रगालिन्यो भवन्ति इति वा, अग्रकारिण्यो भवन्ति इति वा, अङ्गुना भवन्ति इति वा, अङ्गुना भवन्ति इति वा । अपि वा अभ्यञ्चनादेव स्यु । तासामेपा भवति ॥८॥

बाद के बारह नाम बाहु के हैं । बाहु कैसे ? इनसे (कोई आदमी) काम करता है । बाद के बाईस नाम अगूडि के हैं । अंगूलियाँ कैसे ? चूंकि मैं आग जाने वाली हैं या आगे [जल] गिरान वाली हैं या आगे काम करने वाली हैं या वे चिह्न देनी हैं या मुड़ती हैं (√अञ्ज) या शोभा बढ़ाने के कारण हों (√अञ्च) । उनकी यह [कृचा] है ॥८॥

दशावनिभ्यो दशकक्षेभ्यो दशयोवत्रेभ्यो दशयोजनेभ्य ।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहदभ्य ॥

(दशावनिभ्य) दस रक्तों वाले (दातक्षेभ्य) दस कमरदादो वाल (दायोवत्रभ्य) दस जोतने की रक्तिसर्यों वाले (दायोनन्य) । दस व उनों वाल (दशाभीशुभ्य) दस लगामों वाल (दा युक्ता) जोठे जाने पर दस दृष्टा (दा धुर) दस धूरियों को रथचक के मध्यभाग को—(वहदभ्य) पारण करने वाल (अर्चरेभ्य) अमर व्यक्तियों की (अचन) मध्यना करो अ० १०।१४।७) ॥

विशेष—उपर्युक्त मन्त्र में रथ के विभिन्न अंगों के नाम श्रृंखले हैं जो निष्पत्ति के अनुसार अंगुलियों के पदार्थ हैं। सम्भव है, दशम-मण्डल वी नैमित्ति-संकलन में संकलित किया गया यह मन्त्र भी रहस्यात्मक हो—रथ की व्याख्या (Imagery) देवर ईश्वर के विभिन्न-कर्मों का निदर्शन हो।

अवनय. अङ्गुलय. भवन्ति—अवन्ति कर्माणि। कद्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि। योक्त्राणि योजनानि इति व्याख्यातम्। अभीषाव. = अभ्यदनुवते कर्माणि। दश धुरो दश युक्ता यहङ्कृतः। धू. धूर्यते. ववकर्मणः। इयमपि इतरा धूः एतस्मादेव। विहन्ति यहम्, धारयते वा॥

ब्रह्मनि वा अथ है अंगुलियाँ वयोरिं ये वाम वराती हैं (\checkmark वृ४)। वद्यायेऽ (वद्यरयन्द, या अग्नुलो) वामो को व्रह्मिति वरती है (\checkmark वृ४)। 'योऽपि' वा अभिव्याद 'व-पा' रखा गया है। अभीषु=वाम गंगाम वर्ते है। जोऽनेव वर इन्, तदा इन चूर्णियों को पारण वरन् वाणों को...। "ए" वपाप्यं \checkmark पूर्वं \checkmark ते, यह दूरुरे अवंशालः 'पू' (जोऽनेव इति इति) इती वानुग वना है वयोरि [वहन वाने दांडे ग्राणी वे] वग्ने को इट देता है (\checkmark इति) या [घोड़े या बैठ को] धारण वराता है (\checkmark पू)॥

कान्तिकर्माणि. उत्तरे धात्योऽग्नादश (निष्ठ० २१६)। अत्त-नामानि उत्तराणि अग्नविशति (निष्ठ० २१७)। अन्त एम्मात्? आनन्द भूतेभ्यः। अत्तेवां। अतिगर्भांग. उत्तरे पात्रो दश (निष्ठ० २१८)। वल्लामानि उत्तराणि भट्टारिंशति (निष्ठ० २१९)। यद्य एम्मात्? भरं भग्नि, विभन्ति। धननामानि उत्तराणि अग्नविशतिरेत्य (निष्ठ० २११०)। यन एम्मात्? धिनोनि इति नन्ति। गोनामानि उत्तराणि नन्ति (निष्ठ० २१११)। ग्रुच्यनिर्माणः उन्नेऽ धात्रो दश (निष्ठ० २११२)। ग्रोवनामान्युनराणि एतादश (निष्ठ० २११३)। गतिर्भासाणः उत्तरे धात्रो द्वार्चिश शनम् (निष्ठ० २११४)। विग्रनामानि उत्तराणि पद्धविशति (निष्ठ० २११५)। विप्र एम्मात्? विभिन्नो विष्पर्यं। वन्निरामानि

उत्तराणि एकादशा (निघ० २।१६) । अन्तिक कस्मात् ? आनीतं भवति । सग्रामनामानि उत्तराणि पट्चत्वारिशत् (निघ० २।१७) । सग्राम कस्मात् ? सङ्घमनाद वा, सङ्घरणाद वा । सङ्घतौ ग्रामौ इति वा । तत्र 'खले' (३८ तम) इत्येतत्स्य निगमा. भवन्ति ॥९॥

बाद के अठारह धातु 'इच्छा' अर्थ वाले हैं । उसके बाद अठाईस अन्न के पर्याय हैं । अन्न कैसे ? जीवो के पास लाया गया है (\checkmark नूम) या \checkmark अद (खाना) से । बाद के दस धातु 'भोजन' अर्थ वाले हैं । बाद के अठाईस नाम बठ के हैं । बल कैसे ? यह भरण पोषण करता है \checkmark मृ (धारण करना) से । बाद के अठाईस नाम धन के हैं । धन कैसे ? यह प्रसन्न करता है (\checkmark धि) । धाद के नौ नाम गो के हैं । 'कोप' अर्थ वाले बाद के दस धातु हैं । बाद के ग्यारह नाम फोध के हैं । बाद के एक सौ बीस धातु गत्यधर हैं । बाद के छव्वीस नाम 'शीघ्रता' (लिप्र) के हैं । लिप्र कैसे ? चूंकि बीच का अवकाश (प्रश्यं) छोड़ा होता है । बाद बाले ग्यारह नाम निकट के हैं । अन्तिक कैसे ? चूंकि यह पास मे लाया हुआ होता है । बाद के छियालिस नाम सप्राम के हैं । सप्राम कैसे ? एक साथ जाने से या एक साथ पुकारने से (\checkmark गृ), या एक साथ दो गाँव आते हैं । उन (नामो) मे खले के वैदिक उद्दरण हैं ॥ ९॥

विशेष—याहू की तत्परता इन पत्तियों मे स्पष्ट है । केवल नाम गिनाते खले जा रहे हैं मानो कोई वैषाकरण तदित पढ़ा रहे हों । १२ सूचियो मैं (२।६-२।१७) केवल हो चार नामो की ही व्याख्या उन्हें अच्छी लगी । त जाने 'खले' शब्द का कहा से थोड़ा पुण्य निकल आया कि इस पर वैदिक उद्दरण दूढ़ा गया ॥ ९॥

अभीदमेको अस्मि निष्पाठभी द्वा किमु त्रय करन्ति ।
खले न पर्यन्ति प्रति हन्मि भूरि कि मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्रा ॥

(एक) मैं लकेले ही (इदम्) इस द्वापर (अमि अस्मि) विजय पाता हूँ, (निष्पाठ) अपराजेय होकर (द्वा) दो शत्रुओं को भी (अभि) हराता हूँ । (त्रय) तीन भी (किमु) वया (करन्ति) कर सकते हैं ? (सत्रे) सप्राम म (पपात् न) पुकाल क समान (भूरि) अच्छी तरह (प्रति हन्मि) दबाता हूँ । (अनिन्द्रा) हङ्ग से रहित (शत्रव) दातुगण (फि) वया (मा निन्दन्ति) मेरी निन्दा कर सकते हैं ? (अ० ३०४४८०) ॥

अभिभवामि इदमेकम् एक । अस्मि नि पहुःमाण सपक्षान् ।
अभिभवामि द्वो । कि मा त्रय कुर्वन्ति ?

अबेले ही मैं इस एक (शत्रु) को परास्त करता हूँ। सभी शत्रुओं को दबाने वाला हूँ। दो को भी हराता हूँ। तीन भी मेरा वया कर दफ्तर है ?

एक इता संख्या । द्वौ द्रुततरा संख्या । त्रयः तोर्णतमा संख्या । चत्वारः चत्विततमा संख्या । अटौ अश्वांते । नव न बननीया, न अवासा वा । दश दस्ता, दृग्यार्था वा । विशति-द्विर्दशतः । शत दश दशतः । सहस्रं सहस्रत् । अयुतं प्रयुतं नियुतं तत्तद् अभ्यस्तम् । अवृद्. मेवो भवति । अरणम् अम्बु, तद् । अम्बुमद् भवति इति वा । अम्बुमद् भाति वा । स यथा महान् वहुः भवति वर्पन् तदिवावृदम् ॥

एक = गई हुई संख्या (√१) । दो = दूर सक दोडने वाली संख्या (√२) । नि = सबसे अधिक पार जाने वाली संख्या (√३) । चतुः = सबसे अधिक चलने वाली संख्या । अष्ट = व्याप करने (√८) से । नव = 'जो पाने योग्य न हो (न √९) या पायी हुई न हो । दश — शीण (√१०) या जिसका प्रयोगन [कई संख्याओं में] देखा जाय । विशति = दो बार दश होने से । शत—दस बार दश होने से । सहस्र—बल से युक्त (सप्तमा) । अयुत (दस हजार), प्रयुत (एक लाख), नियुत (दस लाख)—एक के बाद एक, उसी (दस) वी आवृति (गुणा) करने पर बनता है । 'अवृद' मेघ है । अरण = जल, उस देनेवाला । अष्टवा जल (अम्बु) से युक्त होने के कारण । या जल के समान प्रतीत होना है । बह (मेघ) जैसे वर्षा करने के समय वडा समूह बन जाता है वैसे ही अवृद (एक करोड़) की संख्या भी ॥

विशेष—इन संख्याओं पर यास्क ने ध्ययं अपनी चल्पनाशक्ति का दुहपयोग किया जिसके कारण वे हास्यास्पद हो जाते हैं । वस्तुत भारत-यूरोपीय सभी भाषाओं में कम से कम दस तक की संख्याएँ इसी रूप में हैं । ही, अपनी छनि सर्वों की है—

संस्कृत	बंगाली	ग्रोक	लैटिन	ऐ० स०	अप्रेजी
एक	বেঁক	eis	unus	ଅନ	one
द्वि	দু	duo	duo	ଦ୍ୱା (tu)	two
त्रि	যি	treis	tres	ଥ୍ରେୟୋ	three
चतुर्	চৰ্য	tellares	quattuor	feoer	four

पचन्	पचन्	pent	quinque	five	
षट्	षट्	hex	sex	six	six
सप्तन्	हस्तन्	hepta	septem	seven	
अष्टन्	अश्टन्	okto	octo	eahta	eight
नवन्	नवन्	ennea	novem	nugon	nine
दाशन्	दाशन्	deka	decem	tyn	ten

सहस्र की वृत्तिरूप यास्क ने विकृत ठोक की है (विषय भूमिका)। इन संख्याओं का उल्लेख निम्नलिखित उद्दरण्डों में देते—

एका च दश च । दश च शत च । शन च सहस्र च ।
सहस्र चायुत च । अयुत च प्रयुत च । प्रयुत च नियुत च ।
नियुत चावुंद च । अवुंद च समुद्रश्च । मध्य च अतश्च परावश्च ।
(काठक स० १७।१०)

एका च शत च सहस्र च अयुत च नियुत च प्रयुत च अवुंद
च न्यवुंद च समुद्रश्च मध्य च अतश्च परावश्च (ते० स० ४।४।११)

इस प्रकार बहुत प्राचीन काल से ही भारत म सृष्टा (विश्वाया दामिक
भ्रगाली) का प्रबलत या व्योकि ये सृष्टये एक दूसरी स दागुणी हैं ॥

‘खले न पर्णन्त्रिति हन्मि भूरि । खले इव पर्णन् प्रतिहन्मि
भूरि । खल इति सग्रामनाम । खलने वा स्वर्णने वा । अय
मपीतर राज एतस्मादेव । रामास्कन भवति । कि मा निन्दन्ति
शत्रवोऽनिन्द्रा’ । ये इन्द्र न विदु । इन्द्रो हि अहमस्मि,
अनिन्द्रा इतरे इति वा ॥

सग्राम म पुरातन क समान अच्छी तरह दबाता है २ । खल=सग्राम √
ग्र (गिरना) से या √स्थल् (भारना) से । यह दूसरे अवश्यक खल
(चौकर) भी इसी स बात है व्योकि [विलो अप्रो से] मरा हुआ होता
है । यथा इन्द्रहिन ग्रन्थ मरे निन्दा पर नहै है ? [इन्द्रहिन=] या
इन्द्र वो नहीं जानते । अवश्य मैं इन्द्र हूँ भूरि दूसरे अनिन्द्र हूँ—यह अय
मी हो सकता है ॥

विशेष—शुद्धा भी अध्याया के बोल म सहस्र भी विवेचना पर ऐसे म
द्याएँ दातन गूँहर यही चला आया है ।

व्यासिकर्मणि. उत्तरे धात्रो दशा (निव० २।१८) । तत्र
द्वे नामनी । आक्षाण. आश्नुवानः । आपान. आप्नुवानः । वध
कर्मणः उत्तरे धात्रव. व्रथस्त्रिशत् (निव० २।१९) । तत्र
'वियातः' इत्येतद् वियातयते इति वा, वियातय इति वा ।
'आखण्डल प्रहृयसे' । आखण्डयित. । 'तडित्' इति अन्तिकवधयो.
संसृष्टकर्म, ताढयतीति सत. ॥ १० ॥

बाद के दस धातु 'व्याप्त करना' वर्ण वाले हैं । इनमें दो नाम (सज्जा,
क्रिया नहीं) हैं—आक्षाण—व्याप्त करने वाला । आपान—पाने वाला । बाद
के तेंतीस धातु व्याप्तयंक हैं । उनमें 'वियात' या तो 'वह दबाता है' इससे, या
'दबाओ' (लोट) इससे बना है । 'हे दुकडा करने वाले ! तुम्हे कुलाया जाता
है' (ऋ० दा१७।१२, साम० २।७६, अथर्व० २०।५।६) । हे छण्ड (दुकडा)
करने वाले । 'तडित्' निकट और वय का सम्मिलित वर्ण रखता है, बदोकि
यह मारता है ॥ १० ॥

त्वया वयं सुवृधा व्रह्मणस्पते स्पाहा वसु मनुष्या ददीमहि ।
या नो दूरे तडितो या अरातयोऽभि सन्ति जम्भया ता अनप्नस ॥

(प्रहृणस्पते) हे स्तुतियो के स्वामी ! (त्वया सुवृधा) आप-जैसे प्रगति
प्रदान करने वाले के द्वारा (वय मनुष्या) हम मानवगण (स्पाहा) स्पृहा
या इच्छा करने के योग्य (वसु) घनों को (ददीमहि) पायें; (या अरातय)
जो शक्तु या कृपण लोग (नो दूरे) हमसे दूर (या तडित) और जो निकट
(अभिसन्ति) है (ता अनप्नस) उन रूपहीन = न देखने योग्य [शशुओं
को] (जम्भय) चक्रामो । (ऋ० २।२३।९) ॥

त्वया वयं सुवर्धयित्रा व्रह्मणस्पते ! स्पृहणीयानि वसूनि
मनुष्येभ्य. आददीमहि । याश्च दूरे तडितो याश्च अन्तिके ।
आरातय. = अदानकर्मणो वा, अदानप्रज्ञा. वा । जम्भय ता:
अनप्नस. । अप्नः इति रूपनाम । आप्नोति इति सत. । विद्युत्
तडिद् भवतीति शाकपूणिः । सा हि अवताढयति । दूराच वृश्यते ।
अपि तु इदम् अन्तिकनाम एवाभिप्रेतं स्यात् । 'दूरे चित्सन्तकिं
दिवाति रोचसे' । दूरेऽपि सन् अन्तिके इव सन् वृश्यसे इति ॥

हे स्तुतियों के स्वामी ! धाप—जैसे बुद्धि देनेवाले के द्वारा, हम सर्वां के योग्य घन मनुष्यों से पाये । जो शत्रु दूर हैं जो भीर निकट हैं । अराति-दानियों को दान से रोकनेवाले, या (इय) दान देने की बुद्धि न रखने वाले । इन्हे चढ़ाकर उपरहित कर दो । 'अप्सर' रूप का पर्याय है, वर्णोंकि यह पाता है (\checkmark धाप = किसी पर ठहरना) । ब्रिली को भी तड़िन् कहते हैं—ऐसा शाकपूर्णि का मत है, वर्णोंकि यह चौरती है भीर दूर से ही दिखलाई पढ़ती है । अथवा यह 'निकट' के ही पर्यायरूप में इष्ट हो । 'दूर होने पर भी मानों निकट' के समान चमकते हो' (कृ० १९७१७) अर्थात् दूर हो, किर निकट होने के समान दिखलाई पढ़ते हो ॥

वज्जनामानि उत्तराणि अग्रादश (निध० २।२०) । वज्ज
कस्मात् १ वर्जयतीति सरु । तत्र कुत्सः इत्येतत् कृत्तते । ऋषि
कुत्सो भवति—कर्त्ता स्तोमानामिति औपमन्यव । अनाप्यस्य
बघकमैव भवति । तत्सख इन्द्र शुच्छ जघानेति । ऐश्वर्यकर्मणि
उत्तरे धातवश्चत्वार (निध० २।२१) ईश्वरनामानि उत्तराणि
चत्वारि (निध० २।२२) । तत्र इत इत्येतत् सनित ऐश्वर्येण
इति वा, सनितम् अनेन ऐश्वर्यम् इति वा ॥ ११ ॥

इसके बाद अठारह वज्ज के नाम हैं । वज्ज कैसे ? चूंकि यह [प्राणियों को जीवन से] बलग करता है (\checkmark वज्ज) । उन नामों में 'कुत्स' \checkmark इत (काटना) से बना है । 'कुत्स' एक रूपि का भी नाम है, स्तोत्रों का कर्ता (बनाने वाला)—ऐसा औपमन्यव कहते हैं । इसमें भी इनका 'बध' अर्थ ही होता है वर्णोंकि उनके मित्र इन्द्र सूखा (अकाल, अनाशृष्टि) का नाश करत है । बाद के चार धातु ऐश्वर्य (उत्तरति) अथ वाले हैं । उसके बाद चार ईश्वर (अधिकारी) के नाम हैं । उन (नामों) में 'इन' [वा अथ है] जो उत्तरति से भरा हो या जिसने [दूसरे में] उन्ननि भर दी है ॥ ११ ॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेष विदथाभिस्वरन्ति ।

इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा स मा धीर-पाकमना विवेश ॥

(यत्र) जहाँ (नुशर्ण) सु दर पह्लवाले (अनिमेषम्) विना रुक्षे हुए—
पलक विना गिराय (विदया) स्तुति के द्वारा (अमृतस्य भागम्) जल या
अमृत के हिस्से को (अभि स्वरन्ति) बुलावे हैं; (इन) जौ, स्वामी (विश्वस्य
मुक्तनस्य) समूचे ससार का (गोपा) रथक है, (च) वह (धीर)

तृतीय-पाद

वहनामानि उत्तराणि द्वादश (३।१) । वहु कस्मात् ? प्रभवतीति सत् । हस्वनामानि उत्तराणि एकादश (३।२) । हस्वो हसरे । महनामानि उत्तराणि पञ्चविंशति । (३।३) । महान् कस्मात् ? मानेन अन्यान् जहाति इति शाकपूणि । मंहनीयो भवतीति वा । तत्र 'ववक्षिय' 'विवक्षसे' इत्येते—वक्तेवाँ, वहतेवाँ साभ्यासात् । गृहनामानि उत्तराणि द्वार्विंशति । (३।४) । गृहा कस्मात् ? गृह्लुन्ति इति सताम् । परिचरणकर्मणि उत्तरे धातवो दश (३।५) । सुखनामानि उत्तराणि विशति । (३।६) । सुखं कस्मात् ? सु हित खेभ्य । खं पुनः खनते । रुग्नामानि उत्तराणि पोडश (३।७) । रूप रोचते ॥

इसके बाद बारह 'बहु' के पर्याय हैं । 'बहु' कौने ? चूँकि अधिक परिवाण में उत्पन्न होता है । बाद के बारह नाम 'हस्व' के हैं । हस्व-हस् (घटना) से । बाद के पञ्चाश पर्याय 'महृ' (बठा) के हैं । 'महान्' कौने ? शाकपूणि कहते हैं कि जो अभिमान के कारण दूसरों को छोड़ देता है (मान + √हा) । या आदरणीय होता है (√मह्) । उनमें 'ववक्षिय' और 'विवक्षसे' में दो शब्द हैं जो √वच् (बोलना) या √वह (ढोना) से जन्माति (द्वित्व) परके बने हैं । बाद के बाईस नाम 'गृह' के हैं । 'गृह' कौने ? खूँहि ये सबों को पढ़ते हैं । बाद के दस धातु 'सेवा' (परिचर्या) अर्थं याते हैं । बाद के थीर मुख के पर्याय हैं । 'मुख' कौने ? खूँहि इन्द्रियों के लिए (ख) लाम दायक है । 'ख' तो √स्तु (सोइना) से बना है । रूप के सोलह पर्याय बाद में हैं । 'हा' √रच् (चमकना) से ।

प्रशस्यनामानि उत्तराणि दश (३।८) । प्रज्ञानामानि उत्तराणि एकादश (३।९) सत्यनामानि उत्तराणि पट् (३।१०) । मत्यं कस्मात् ? मत्सु तायते, मत्प्रभवं भवति इति वा । अट्टी उत्तराणि पदानि (३।११) पश्यति कमणिओ धातव , चायतिप्रभृतीनि च नामानि आमिश्राणि । नगोत्तराणि पदानि (३।१२) मर्वपदममाम्नानाय । अथात् उपभा । 'यत्

अतत् तत्सदृशम्' इति गाम्यं । तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रस्थाततमेन वा कनीयांसं वा अप्रस्थातं वा उपमिमीते । अयापि कनीयसा ज्यायासम् ॥ १३ ॥

बाद के दस 'प्रशसनीय' के पर्याय हैं । बाद के ग्यारह पर्याय बुद्धि के हैं । बाद के छह पर्याय सत्य के हैं । 'सत्य' कोसे ? यह अच्छे लोगों में फैलता है या अच्छे सोगों से उत्पन्न होता है । बाद के आठ पद 'देखना' अर्थवाले धातु हैं और 'चायनि' आदि (धातु) नाम (सना) में मिले हुए हैं । बाद के नौ पद सभी प्रकार के पदों के सम्मलन के लिए हैं ।

अब इसलिए उपमायें [कही जाती हैं] । गाम्यं का कहना है कि जब [एक वस्तु] दूसरी वस्तु से भिन्न हो किन्तु योद्धा सादृश्य रहे [तब उपमा होती है] । तब, इनका यह काम है कि किसी बड़े गुण के द्वारा या प्रसिद्ध गुण के द्वारा किसी छोटी या अप्रसिद्ध वस्तु की उपमा दी जाय । इसके अलावे छोटी वस्तु के द्वारा भी बड़ी वस्तु की [उपमा दी जाती है] ॥ १४ ॥

विशेष—अलझ्डारो के इतिहास के अध्ययन में यह स्थल बहुत सहायक है । यास्क ने उपमा की विलकुल ठीक परिभाषा उद्भृत की है । उपमा में दो भिन्न पदार्थों की तुलना किसी एक समान गुण को ही लेकर की जाती है । तुलना करें—
 (१) साम्यं वाच्यमेधाम्यं वाच्येव उपमा द्वयोः (साहित्यवर्णन १०) ।

(२) A simile consists in giving formal expression to the likeness said to exist between two different objects or events (J C Neisfield, English Grammar, P. 393) इस प्रकार उपमा की परिभाषा प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशों में समान आधार पर ही दी गई है ॥ १४ ॥

तनूत्यजेव तस्करा वनगूँ रशनाभिर्दंशभिरभ्यधीताम् ।

(वनगूँ) वन जानेवाले तथा ('तनूत्यजा') शरीर की बाजी लगाने वाले (तस्करा इव) दो चोरों के समान (दशभिः) दस ('रशनाभि') रस्सियों या अंगुलियों से (अभ्यधीताम्) सुरक्षित किया है (ऋ० १०।४।६) ॥

तनूत्यक् = तनूत्यजा । वनगूँ = वनगामिनी । अद्यिमन्थनौ वाहू तस्कराभ्याम् उपमिमीते । तस्कर.—तत्करोति यत्पापक-मिति नैरुक्ता । तनोतेर्वा स्यात् । सन्ततकर्मा भवति । अहो-रात्रकर्मा वा । 'रशनाभिर्दंशभिरभ्यधीताम्' । अभ्यधाताम् । ज्यायास्तत्र गुणोऽभिप्रेत ॥ १४ ॥

तनुरूपक्—गरीर को छोड़ने वाले (प्राप्तों की बाजी लगाने वाले) । बनगूँ = बन जाने वाले । ऐसे तस्करों से अग्निमन्त्रन करनेवाले बाहु की तुलना की गई है । तस्कर, जो पाप है उसे ही करता है—यह निष्ठकारों पा कथन है । या—तन् (फैलना) से बना हो वयोःकि इसके काम कई तहर के होने हैं या दिन-रात दोनों ही समय काम करता है । दस अङ्गुलियां से सुरक्षित किया है—[सुरक्षापूर्ण स्थान में] रख दिया है । इस तरह अधिक गुण का कथन है ॥ १४ ॥

विशेष—इसमें अधिकगुणवाले की उपमा छोटी चीज से दी गई है । अग्नि उत्तम करने वाले दोनों हाथ परिच हैं जिनकी तुलना छोरों से की गई है । पदापि दोनों में बहुत भेद है किर भी साटश है कि जैसे चोर बन में अपने अधीन परिक को धौधकर रख देते हैं वैसे ही दोनों हाथ भी दो लकड़ियों को धौधकर अग्नि उत्तम करते हैं ॥ १४ ॥

कुह स्विदोपा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोपतु ।
को वा शयुना विघ्वेव देवरं मर्यं न योपा कृणुते सधस्य आ ॥

(अश्विना) हे दोनों अश्विन ! (दोगा) रात में (कुह स्विद) रही थे, (वस्तो) दिन में (कुह) रही थे । (अभिपित्वं) अपने आवश्यक कार्य जैसे स्नान-भोजनादि (कुह) कही (करतः) आपने किया ? (कुह अयतु) कही दहरे थे ? (सधस्य वा) निषासन-स्थान में (वा) तुम दोनों को (शयुना) शम्भा पर (कः) कौन (कृणुते) ले जाता है ? (देवर विघ्वा इव) जैसे देवर को विघ्वा या (मर्यं योपा न) मनुष्य को पत्नी [शया पर से जानी है] (श्ल० १०४०१२) ॥

क स्वित् रात्री भवयः ? के दिवा ? क अभिप्राप्ति कुरुथ । ? क वसय । ? को वा शयने विघ्वेव देवरम् (देवर; कस्मात् ? द्वितीयो वर उच्चते) । विघ्वा विवातृका भवति । विघ्वनाद् वा विघ्व-बनाद् वा इति चर्मशिरा । अपि वा, 'घवः' इति मनुष्यनाम । तद्वियोगात् विघ्वा । देवरो दीयतिकर्मा । मर्यो मनुष्य । मरण-घर्मा । योपा यीतेः । आकुरते सहस्याने ॥

श्ल० में रही रहे ? दिन में रही ? अपने निष्यद्यमें रही किया ? रही रहने है ? देवर को विघ्वा है स्नान, आर दोनों की शम्भा, पर औत……? (देवर कौन ? यह दूषण वर कहलाता है ।) विघ्वा सीरदाढ़ से रहत

(विघ्ना) होती है अपवा कौपने के कारण { विघ्न } चर्मशिरा के अनुसार दीड़ने के कारण { विघ्नाप् } । अपवा 'धन' = मनुष्य, उत्तरे विपुक्त होने के कारण विषवा । देवर = सेलने वाला । मर्य = मनुष्य जिभा धर्म (लक्षण) मरना है । योपा (स्त्री) व्यु (जोड़ना) से । निवासन्त्वान मे रखता है ॥

विशेष— कोटाकित संषड निश्चिन रूप से प्रशेष है वयोंकि 'देवर' शब्द की दो पुस्तकियों का पृयक् होना अत्यन्त है । बुर्ण भी इसकी व्य रूपा नहीं करते । विषवा, देवर, मर्य और योपा का निर्वचन यास्क ने ऋग से दिया है, किंतु उतना पहले देवर वा चला जाना असम्भव प्रतीत होता है । 'विषवा' को वि + धवा मानना लौकिक अनुपत्ति (Folk Etymology) का खोलन है । बस्तुत यह शब्द अरने इसी रूप से अन्य सभान भाषाओं मे है—योक्त्वा eitheos, लैटिन Vidxo, Videlus, जर्मन Wittwe एं सं (O E) Widwe, अंग्रेजी Widow 'पव' पूरक कोई शाइर नहीं पा किंतु इसी पुस्तक से एक मध्या शाइर बन गया । इससी दृष्टि मे 'माधव' (मा = वद्मो का पव = पति) मिल गया जो बस्तुत मधु' से निष्पत्त रूप था । तभी यमरकीदा मे 'धव प्रिय पति भत्ता' (२।६।३५) तथा 'पति याति नरा धव' (३।३।२०७) मिलते हैं । विषवा के कौन्ते का अर्थ है पति की मृत्यु से बाद, उसका सुरक्षक हीन होने पर दौड़ना भी स्वामाविक है ।

अथ निपाता (३।१३) । पुरस्तादेव व्याह्याता (१।४-११)
यथेति कर्मोपमा—

'यथा यातो यथा वन यथा समुद्र एजति ।'

'आजन्तो अग्नयो यथा ।'

'आत्मा यद्यमस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ।'

आत्मा अततेर्वा, अप्तेर्वा । अपि वा, आस. इव स्याद् यावद् व्यासिभूत ।

'अस्मिन् ये आजसा स्वमवदास ।'

अस्मिन्दिव ये आजस्वन्तो स्वमवदास ॥ १५ ॥

अब निपातो का अर्थन है निन्दु इनकी व्याह्या पहले ही हो चुकी है (निष्क १।४-१६) । 'यथा' से कम की उपमा [समझी जाती है] जैसे— 'जैसे वासु, जैसे वन, जैसे समुद्र हिरण्ये हैं' (अ० ५।७।८), 'जैसे यमरै-

वाली अग्नि' (क्र० १५०।३); स्वरोग की आत्मा (जीवन) पहले ही समाप्त हो जाती है जैसे पकड़े गये प्राणी का [जीवन विना मारे ही समाप्त हो जाता है]' (क्र० १०।७।११) । 'आत्मा' √ अत् (चलना) से या √ आप् (पाना) से । अथवा इसे 'आप्त' (पाया हुआ) इसलिए कहा जाय कि यह व्याप्त है । 'स्वर्ण' के समान छाती वाले वे (सभी) चमक के फारण अग्नि के समान हैं' (क्र० १०।७।१२) । वे जो अग्नि के समान चमकनेवाले तथा सोने की छातीवाले (मण्डपण) हैं ॥ १५ ॥

चतुरश्चिद्दमानाद्विभीयादा निवातो ।

न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥

(आ निवातोः) जब 'तक वह [पासों को] न रहे तबनक (चतुर्) धारे ['पासों] को (ददमानात्) धारण करनेवाले अक्षि से (चित्) जैमे (विभीयात्) डरना चाहिये । (दुरुक्ताय) कठोर भावण की (न स्पृहयेत्) इच्छा नहीं करनी चाहिये । (क्र० १४।१९) ॥

चतुरोऽज्ञान-धारयतः इति तद्यथा कितवात् विभीयात्, एव-
मेव दुरुक्ताद् विभीयात् । न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित् ॥ 'आ'
इत्याकारः उपसर्गं पुरस्तादेव व्याख्यातः (नि० १।३) । अथापि
उपमायें इश्यते—'जार आ भगम्' । जार इव भगम् । आदि-
त्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेजंरयिता । स एव भासाम् । तथापि
निगमो भवति—'स्वसुजारि शृणोतु नः' इति । उपसमस्य स्व-
सारमाह, साहचर्यात् रसहरणाद्वा । अपि त्वयं मनुष्यजार-
एवाभिप्रेत् स्पात् । ऋभगः तथा स्यात्, भजतेः ॥

जिस प्रकार चार पासों को पारण करनेवाले जुगाड़ी (किनव) से ढारते हैं, यैसे ही कटु वाणी से ढरें । कटु वाण्य [बोलने के लिए] कभी उत्तमुक न हो ।

'आ' उपसर्गं की व्याख्या पढ़ते ही ही हो चुकी है । इसे उपमा के अद्य में भी देखते हैं—'जैसे भोक्ता अपनी भोग वस्तु पर'" (क्र० १०।१।१६) । अपनी भोग-वस्तु [पर जाने वाले] भोक्ता के समान । यही आदिय ही भोक्ता (जार) है, रात्रि का भोक्ता; यही प्रवाप वा भी ['भोक्ता'] है । ऐसे यदिर उद्दरण भी है—'वहन का भोक्ता हमारी (प्राथेना) मुने'

(अ० ६।५५।५) । ऊपा को इसकी वहन कहा है, साथ चलने के कारण, या रस लेने के कारण । अयता यह मानव-प्रेमी ही कहा गया हो, उस दशा में स्त्री का उपभोग समझा जाय, √भज् (उपभोग करना) से [नग बना है] ॥

मेपः इति भृतोपमा । 'मिषो भूतोऽभि यन्नय.' । मेपो मिषते., तथा पशु. पश्यते । अमिरिति रूपोपमा ।

'हिरण्यरूप. स हिरण्यसद्गपान्नपात्सेदु हिरण्यवर्णः ।'

हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम् । 'या' इति च (निव० ३।१३।१२) 'त प्रलथा पूवंथा विश्वयेमथा' प्रत्ने । इव, पूवें इव, विश्वे इव, इमे इव इति । 'अयम्' एततरोऽमुम्यात् । 'असौ' अस्ततर. अस्मात् । अमुया = यथा असो इति व्याख्यातम् । वत् इति सिद्धोपमा । ग्राह्यणवत्, वृपलवत्=ग्राह्यणा इव, वृपला इव इति ॥ १६ ॥

मेप (भेद) इत्यादि में भूत (रूप परिवर्तन) की उपमा है—'भेद का रूप बनाकर तुम आये हो' (अ० ८।२।४०) । मेप √मिष् (पलक गिराना) से, उसी प्रकार पशु √पश् (देखना) से । अग्नि इत्यादि में रूप (आकार) की उपमा है—'सोने के आकार का सोने के समान घमकनेवाला तथा सोने के रण का, जल का पुत्र देखा है' (अ० २।१५।१०) । सोने के समान उसका रूप है । 'या' भी [उपमा दिखाने के लिए आता है]—प्राचीन के समान, पहले के समान, सबके समान तथा इनके समान उसे [दूहते हो]' (अ० ५।४।४।१) । प्राचीनो-सा, पहले बालो सा, सबो-सा, इव (यजमानो)-सा । 'अयम्' (यह) = जो उससे निकटतर (√६) है । 'असौ' (वह) = जो इससे दूरतर (√मूर्) है । अमुया = जैसा वह—इसकी व्याख्या होनी है । 'वत् तिद्ध (पूरे काम) की उपमा है—ग्राह्यणवत्, वृपलवत् = ग्राह्यण-सा, निदनीय व्यक्ति-सा ॥ १६ ॥

विशेष—यास्त्र अपनी धून में 'असौ' और 'अयम्' जैसे सर्वनामों का भी निर्वचन करने से नहीं चूकते । सिद्ध का मतलब है कार्यसिद्धि जैसे वह ग्राह्यण के समान पढ़ना है ।

प्रियमेघवदत्रिवज्ञातवेदो विरूपवत् ।

अङ्गिरस्वन्महिन्तप्रस्कण्वस्य शुधो हवम् ॥

(महिन्त ['हे बड़े नियमो वाले ! (जातवेद) सभी जीव सुम्हारी सम्पत्ति के रूप में हैं, प्रियमेघ के समान, अत्रि के समान, विरूप के समान

तथा अगिरा के समान, प्रस्कण्ड-श्विं वो (हवम्) प्रार्थना (शुष्ठी) सुनो (क्ष० १४५।३) ॥

प्रियमेघ.—प्रिया. अस्य मेघा. । यथैतेषाम् ऋषीणाम् । प्रस्कण्डस्य शृणु ह्वानम् । प्रस्कण्ड—कण्वस्य पुत्र, कण्वप्रभव । यथा प्राग्रम् । अर्चिवि मृगु. सम्बभूव । मृगु मृज्यमानो न देहे । अङ्गरिषु अङ्गिरा । अङ्गारा. अङ्गना । 'अवैव तृतीयम् ऋच्छत' इत्यूचु । तस्मात् अत्रिः । न त्रय. इति । विखननात् वैखानसः । भरणात् भरद्वाज । विष्वप्त =नानास्त्वप् । महिव्रत =महाव्रतः इति ॥१७॥

प्रियमेघ=जिसे यह श्रिय है । जैसे इन श्वियों की [प्रार्थना सुनी], वैसे ही प्रस्कण्ड की प्रार्थना सुनो । प्रस्कण्ड = कण्ड का पुत्र, कण्व से उत्पन्न (प्रस्क + कण्ड) । जैसे 'प्राप्त' बनता है (प्र + अप) । मृगु उदालाओं से निकले । मृगु—भूजे जाने पर भी (√मृद्) जो न जाते । अगारो से अगिरा [निकले] । अगार = अक (विहृ) देने वाले । उन्होंने 'हा—हीसरे व्यक्ति को यही खोजो', इसी से 'अत्रि' (अप + तृतीय) बना । अपवा जो हीन नहीं है (अ + अवि) । अच्छी तरह खोइने के बारण 'देतावत्' । मरण (पालन, √भ्) करने से 'भरद्वाज' । विष्वप्त=वैष्व ग्रशार वा । महिव्रत=बड़े दूजों शाला ॥ १७ ॥

चतुर्थ-पाद

अथ लुतोपभानि अर्योपभानि इत्याचक्षने । तिह. व्याघ्रः इति पूजायाम् । शा काकः इति कुलायाम् । काक इति शब्दानुकृतिः । तदिद शकुनिषु वहुलम् । न शब्दानुकृति वियते—श्लोपमन्यव । याक अपकालयितव्यो भवनि । तित्तिरि तरणात् । तिलमायचिनः इति वा । कपिञ्जल कपिरिव जोणं, कपिरिव जवते । ईपस्ति-झांगे वा । कमनीय शब्द पिञ्जयति इति वा । शग्ग्न्युयायी, शवते. वा स्यात् गतिवर्मण । श्वसितेवा । सिहः महनात्, हिमेर्वा निपरीतस्य । सम्मूर्चस्य वा हन्ते । सहाय हन्ति इसि वा । व्याघ्रः व्याघ्रागान् । व्यादाय हन्ति इति वा ॥ १८ ॥

बव उन ('परो') का वर्णन करने हैं जिनके अर्थ से उपमा दी जाती है सत्य। जिसमें उपमा के वाचक (जैसे इव, यथा, वत् आदि) लुप्त रहते हैं। सम्मान के अर्थ में सिह, व्याघ्र से [उपमा दी जाती है]। कुत्ता, कौश्रा से निन्दा के अर्थ में। 'काक' यह [कोए के] शब्द वा अनुकरण है। यह विषि पञ्चियो [के नाम देने में] वहृष्टा देखी जानी है। औपमन्यव वा गिदान्त है कि शब्दानुकरण (Onomatopoeia) होता ही नहीं इसलिए काक वह है जो भगाने के लायक हो (\checkmark कल्); 'तितिर' फुटकने के कारण (\checkmark तृ), अयवा जिसमें तिल के आकार के ही चित्र (छाप) बने हो। 'कपिञ्जल' (francolin partridge) कवि के समान जीर्ण (वर्दि), या बन्दर जैसा तेज दीड़ता है (\checkmark जव), या थोड़ा भूरा होता है, या कमनीय शब्द बोलता है। कुत्ता (श्वा)—तेज खलने वाला (माणु \checkmark या), या गत्यर्थक \checkmark शब् से, या साँस लेने से। 'सिह' दमनशक्ति के कारण (\checkmark सह्) या \checkmark हिस् (मारना) उलट करके बना हो। या सम-पूर्वक \checkmark हन् से या जमा करके मारता है। 'व्याघ्र' सूंधने के कारण (वि वा \checkmark घ्रा) या अलग करके मारता है॥

विशेष—बव तक उपमा के उन भेदों से यास्क भिडे थे जिसमें वाचक शब्द रहते हैं, अब ये लुप्तवाचक पदों का वर्णन कर रहे हैं। शब्दों की उत्पत्ति में शब्दानुकरण का बहुत बड़ा हाथ है इसमें कोई संदेह नहीं। यास्क को यह मालूम या किन्तु उस सिद्धान्त का भी स्वरूप करने वाले औपमन्यव हैं जो पक्के मैदूक हैं। तुलना करें—मैं इसमूलर का शब्दानुकरण सिद्धान्त। \checkmark शब्—तुल० शवतिर्गतिकर्मा वस्त्रोजेऽव भाष्वते, विकारमस्यादेषु शब् इति ।' (नि० २१२)। 'इह' पर पाणिनि-मत है—

भवेद्वर्णगमाद्यो तिहो वर्णविषयंयात् ।

गृदोत्तमा वर्णविवृतेवर्णनामात्पूषोदरम् ॥

अर्चतिकर्मणि. उत्तरे धातुय चतुश्चत्वारिशत् (३।१४)। मेधा-विनामानि उत्तराणि चतुर्विंशति (३।१५)। मेधावी कस्मात् ? मेवया तद्वान् भवति। मेधा मती धीयते। स्तोतृनामानि उत्तराणि श्रयोददा (३।१६)। यज्ञनामानि उत्तराणि पश्चदश (३।१७)। यज्ञ. कस्मात् ? प्रस्त्यात् यजतिकम् इति नैरुक्ता। याच्जो भवति इति वा। यजुरुक्तो भवति इति वा। वहृवृष्णाजिन् इत्यीपमन्यव्। यजूपि एन नैयन्ति इति वा। ऋत्विङ्ग्नामानि उत्तराणि अष्टौ

(३।१८) । ऋत्विक् कस्मात् ? ईरण । नह्यपृष्ठा 'भवति इति शाकपूर्णि । ऋतुयाजी भवतीति वा ।

बाद के चौब्रालीस धातु पूजाथक है । बाद के चौबीस, मेघावी के पर्याय है । मेघावी कौसे ? चूंकि उस येषा से युक्त होता है । येषा = जिसे बुद्धि में धारण करें । बाद वे तेरह नाम स्तोता के हैं । बाद के प द्वाह नाम यज्ञ के हैं । यन कौसे ? निरुक्तार कहते हैं कि यह विग्यात पूजा का काम है । अथवा [देवता] इमकी याचना करते हैं, अथवा यजु के भ्रात्रों से छिड़का जाता है । बीपमन्त्रव के अनुसार—बहुत से काले मृगचर्मों वाला । अथवा यजु क मन्त्र इसका निर्देशन करते हैं । बाद के आठ नाम ऋत्विक् के हैं । ऋत्विक् कौसे ? [यज्ञ का] बढ़ाने वाला । शाकपूर्णि के अनुसार यह ऋग्वेद के द्वारा यज्ञ कराता है । अथवा उचित समय पर यज्ञ कराता है ।

याच्चाकर्मण उत्तरे धातव सप्तदश (३।१९) । दानकर्मण उत्तरे धातवी दश (३।२०) अध्येषणाकर्मण उत्तरे धातवश्चत्वार (३।२१) । स्वपितिसस्तीति द्वौ स्वपितिकर्मणो (३।२२) । कूप-नामानि उत्तराणि चतुदश (३।२३) । कूप कस्मात् ? कुपान भवति । कुप्यते वा । स्तेननामानि उत्तराणि चतुर्दश एव (३।२४) । स्तेन कस्मात् ? सस्त्यानमस्मिन् पापकभिति नेहका । निर्णीता-न्तर्हितनामधेयानि उत्तराणि पट् (३।२५) । दूरनामानि उत्तराणि पञ्च (३।२६) दूर कस्मात् ? द्रुत भवति । दुरय वा । पुराण-नामानि उत्तराणि पट् (३।२७) । पुराण कस्मात् ? पुरा नव भवति । नवनामानि उत्तराणि पटेव (३।२८) । नव कस्मात् ? आनीत भवति ॥ १९ ॥

बाद के सत्रह धातु मौणना' अथ वाले हैं । 'देना' अथवाले बाद के दस धातु हैं । बाद के चार धातु विनम्र प्रायना (entreaty) अथ वाले हैं । 'सोना' अथवाले दो धातु स्वपिति' और सस्ति' हैं । बाद वे खोदह नाम कूप के हैं । कूप कौसे ? इससे पानी पीना कठिन है (कु + √पा) या √कुप् (ओष चरना) से । बाद के खोदह ही नाम योर ने हैं । स्तेन कौसे ? निदक्कनारों के अनुसार इसम पाप छहरता है । बाद के छह नाम निश्चित दिय गये तथा डिने हुए ने हैं । बाद वे पर्याय दूर के हैं । दूर कौसे ? चूंति यह

खोचा हुआ है ($\checkmark\text{इ}$) या जहाँ पहुँचना कठिन है ($\text{दर}\checkmark\text{इ}$) वाद के छह नाम पुराण (प्राचीन) के हैं । पुराण वैसे ? पहले नया या । वाद के छह ही नाम नवीन का है । नव कैसे ? जूँकि सुरत का लाया हुआ है ॥ १९ ॥

द्विषा नामानि उत्तराणि (३।२९) । प्रपित्वे—अभीके इत्यासन्नस्य । प्रपित्वे=प्राप्ते, अभीके=अभ्यते ।

'आपित्वे न प्रपित्वे तूयमागहि', 'अभीके चिदु लोकृत्'

इत्यपि निगमी भवत ॥ दभ्रम्—अभंदम् इत्यल्पस्य । दभ्र दम्नोते ।

सुदम्भ भवति । अर्भवम् जगहृत भवति ।

'उपाप मे परामृश मा मे दध्राणि मन्यथा ',

'नमो महदभ्यो नमो अभंवेभ्य' इत्यपि निगमी भवत ॥
तिर—गत इति प्राप्तस्य । तिर तीर्ण भवति, सत गगुत भवति ।

'तिरश्चिदयंया परि यतियातिमदान्या', 'पाश्रेत्र भिन्दन्तमन एति रदस' इत्यपि निगमी भवत ॥

हरतेः विपरीतात्, धारयतेः वा स्यात् । उद्घृतं भवति ।
ऋणोते: वा स्यात् । कृद्धतमो विभागः ।

'पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति', 'नेमे देवा नेमेज्जुरा:-'
इत्यपि निगमौ भवतः ॥ कृक्षाः—स्तुभिः इति नक्षत्राणाम् ।
नक्षत्राणि नक्षते: गतिकर्मणः । 'नेमानि क्षत्राणि' इति च
ब्राह्मणम् । कृक्षाः उदीर्णानि इव स्यायन्ते । स्तुभिः तीर्णानि
इव स्यायन्ते ।

'अमो य कृक्षा निहितास उच्चा', 'पश्यन्तो द्यामिव
स्तुभिः' इत्यपि निगमौ भवतः ॥

(७-८) 'स्व' और 'नेम' आधा के अर्थ में । त्व=पूरा फैला हुआ
नहीं । नेम=पूरा नहीं लाया हुआ हो । अर्धं√ह (हरण करना) की उलटने
पर; या धारण करने से चूंकि यह निकाला हुआ होता है (उत्तर्ध्) ।
या√कृष् (बढ़ाना) मे वयोकि यह [एक के सभी] विभागों मे बढ़ा है ।
'आधे लोग निन्दा करते हैं, आधे प्रशासा' (श्व० ११४७१२); 'आधे देवता
हैं आधे राक्षस' (मंत्रा० सं० ११११९)—ये वैदिक उद्दरण हैं ॥ (९-१०)
'कृक्षा.' और 'स्तुभिः' नक्षत्रों के अर्थ में । नक्षत्र यत्पर्यक्तं√नक्ष् से । ब्राह्मण-
बाक्षय भी है—'ये (तारे) स्वर्ण (अत्र) नहीं हैं' । 'कृक्ष' (तारे) उठे हुए
मातृम पड़ते हैं । 'स्तुभिः' (तारे) [बाक्षाश मे] विकरे हुए दिखाई पड़ते
हैं । 'ये तारे जो ऊंचा पर रहे गये हैं....' श्व० १२४१० 'यानें तारों से मरे
आकाश को देखते हुए' (श्व० ४७१३)—ये वैदिक उद्दरण हैं ॥

वम्रीभिः—उपजिह्विकाः इति सीमिकानाम् । वम्रचः
वमनात् । सीमिकाः स्यमनात् । उपजिह्विकाः उपजिह्वयः ।

'यदत्युपजिह्विका यद्भ्रो अतिसर्पति'—इत्यपि निगमो
भवति ॥ ऊर्दरं—कृदरं इति आवपनस्य । ऊर्दरम् उद्दीर्ण भवति ।
ऊर्जे दीर्णमिति वा । 'तमूर्दरं न पृणता यवेन'—इत्यपि निगमो
भवति । तम् ऊर्दरमिव पूरयति यवेन । कृदरं कृतदरं भवति ।
'समिद्धो अज्ञन्कृदरं मतीनाम्' इत्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

(११-१२) 'वम्रीभिः' और 'उपजिह्विका.' चीटियों के अर्थ में । 'वम्री'
७ द्वि० नि०

बेमन करने के कारण । सीमिका रोगने के कारण । उपजिह्विका—सुंधने वाली । 'जब चीटी खाती है, जब चीटी चलती है' (शृ० ८१०२१२१)—यह वैदिक उद्धरण है । (१३-१४) 'उदंर' और 'कृदर' अग्रभडार के अथ मे । उदंर=ऊपर की ओर कटा हुआ या अग्र के लिए कटा हुआ । 'जो से अग्रभडार की भाँति उसे भरो' (शृ० २१४११)—यह वैदिक उदाहरण है । उसे अग्रागार की तरह जो से भरता है । कृदर=जिसमे छेद किया हुआ हो । 'जलने पर चुदि के अग्रभडार को प्रकाशित करते हुए ।' (म० स० ३१६१२)—यह उदाहरण है ॥ २० ॥

रम्भ—पिनाकम् इति दण्डस्य । रम्भ आरभन्ते एनम् ।

'आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा'—इत्यपि निगमो भवति ।

आरभामहे त्वा जोर्णि । इव दण्डम् । पिनाक प्रतिपिनष्टि एनेन । 'कृत्तिवासा. पिनाकहस्तोऽवततधन्वा'—इत्यपि निगमो भवति ॥ मेना—सा इति लीणाम् । लिय स्त्यायते. अपत्रपण-कर्मण । मेना=मानयन्ति एना । सा.=गच्छन्ति एना ।

'अमेनांश्चिज्ञनिवतश्चकर्थं', 'मास्त्वाकृन्तप्रपसोऽतन्वत्'
इत्यपि निगमी भवत ॥

(१५-१६) 'रम्भ' और 'पिनाक' इष्टे वे अथं म । रम्भ=इसे लोग पकड़ते हैं । 'बूढे जैसे लाठी को [पकड़ते हैं] वैसे ही तुम्हें हमने पकड़ा है' (शृ० ८४५१२०)—यह वैदिक उद्धरण है । हम तुम पर आवित है जैसे कमजूर [आदमी] इष्टे पर । पिनाक (हही)=जिससे पीस दे (नाश कर दे) । चमड़े को पहने हुए, हाथ मे विशूल लिये, तथा न सुहने वाला पनुप लिये हुए' (बाठक स० ११८)—यह वैदिक उद्धरण है । (१७।१८) 'मेना और सा' इत्यो वे अथं म । स्त्री/स्त्री—'हजाना' से । मना=लोग जिसे (एना) माने । सा=जिसके पास लोग जायें (√प्रथा) । 'पत्नीहीन को भी तुमने सपत्नीक बर दिया है' (शृ० ५।३११२) इत्यो ने तुम्हें कारा, कमनिष्ठों न पैदाया' (म० स० १।१४)—वैदिक उदाहरण है ॥

शेप—वैतम इति पुस्त्रजननस्य । शेप शपते स्पृशति-कर्मण । वैतस वितस्त भवति । 'यस्यामुशन्त प्रहराम शेपम्', 'त्रि' स्म मालः श्रयंयो वैतमेन'—इत्यपि निगमी भवत ॥ अया-एना

इत्युपदेशस्य०। 'अया ते अग्ने समिधा विधेम'—इति स्त्रिया । 'एना वो अग्निम्'—इति नपुसकस्य । 'एना पत्या तन्व स सृजस्व'—इति पुस ॥

(१९-२०) 'शेष' और 'वैतस' पुण्य के जननेन्द्रिय के अर्थ में । शेष 'झूठा' अर्थ बाले चाप से । वैतस मुरझाया हुआ होता है । [पुत्र की] कामना करते हुए हम जिसमें शेष का प्रदार करें (क्र० १०।८५।३७), [उवंशी पुरुरवा से वहती है—] 'तुमने दिन में तीन बार मुझ पर वैतस (इन्द्रिय) का प्रहार किया है' (क्र० १०।९५।५)—ये वैदिक उदाहरण हैं । (२१-२२) 'अया' और 'एना' उल्लेख करने के अर्थ में । 'हे अग्ने ! इस (अया) समिधा से हम तेरो पूजा करें' (क्र० ४।४।१५)—यहाँ स्वीलिंग (समिधा) में । 'हे अग्ने ! हमारे पास इसके द्वारा (एना)' (क्र० ७।१।१)—यहाँ नपुसकलिंग में । 'इस (एना) पति से अपने शरीर को मिलाओ' (क्र० १०।८५।३७)—यहाँ पुलिंग में ॥

सिपक्तु—सचते इति सेवमानस्य । 'स न सिपक्तु यस्तुर' । स न सेवता यस्तुर । 'सचस्वा न स्वस्तये' । सेवस्व न. स्वस्तये । स्वस्ति इत्यविनाशिनाम । अस्ति. अभिपूजित स्वस्तीति ॥ भ्यस्ते—रेजते इति भयवेपनयो । 'यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम्', 'रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्य'—इत्यपि निगमौ भवत ॥

द्यावापृथिवीनामधेयानि उत्तराणि चतुर्विंशति (३।३०) ।
तयोरेवा भवति ॥ २१ ॥

(२३-२४) 'सिपक्तु' और 'सचते' सेवा के अर्थ में । 'जो रेज (तुर) है वह हमारी सेवा करे' (क्र० १।१८।२)—जो पट्ट है वह हमारी सेवा करे । अपने कल्याण के लिए सेवा करो (क्र० १।१९)—अपने कल्याण के लिए सेवा करो । 'स्वस्ति' अविनाश का पर्याय है—सम्मान के साथ रहना, अच्छी तरह (सु) रहना है (अस्ति) । (२५-२६) 'भ्यस्ते' और 'रेजते' भय और वर्षण के पर्याय हैं । जिसकी साँस स शवग और पुष्पी ढर गये' (क्र० २।१२।१) है अग्ने । बढ़े बढ़े (मछों स) 'पुष्पी कृपती है' (क्र० ६।६६।९)—ये वैदिक उदाहरण हैं ॥

बाद के चौबीस नाम धावापृथिवी के हैं। उनके विषय म यह (ऋचा) है—॥ २१ ॥

कतरा पूर्वा कतरापरायो कथा जाते कवय को वि वेद ।

विश्व तमना विभूतो यद्य नाम विवर्तते अहनी चक्रियेव ॥

(अयो = अनयो) इन दोनों म (कतरा पूर्वा) कौन पहल की ओर (कतरा अपरा) कौन बाद की है ? (कवय) हे ऋषियो ! (कथा = कथ) कैसे (जाते) ये उत्पन्न हुईं (क विवेद) कौन जानता है ? (विश्व यद्य ह नाम) सभी चीजों को वे (तमना = आत्मना) अपने से (विभूत) धारण करती हैं, (अहनी) दोनों दिन (चक्रिया इव) चक्रके के समान (विवर्तते) घूमते हैं। (ऋ० १।१८५।१) ।

कतरा पूर्वा, कतरा अपरा, एनयो । कथ जाते १ कवय । क एते विजानाति ? सर्वम् आत्मना विभूतो यद् ह एनयो कर्म । विवर्तते च एनयो अहनी अहोरात्रे चक्रयुक्ते इव । इति धावापृथिव्यो महिमानम् आचष्टे आचष्टे ॥ २२ ॥

इन दोनों म कौन पहली है कौन बाद की ? वैसे उत्तर हुईं ? हे ऋषि गण ! इह अच्छी तरह कौन जानना है ? जो बुद्ध इवरा काम है उन सबों को अपने स धारण करती है इनके दोनों दिन अथात् रात और दिन चक्रों के समान घूमते हैं। इस प्रकार इवग और पूर्वों की महिमा का वर्णन हुआ है ॥

॥ इति निरुक्ते तृतीयो ध्याय ॥



चतुर्थ-अध्याय

प्रथम-पाद

ॐ एकार्थमनेकशब्दम्—इत्येतदुक्तम् । अथ यानि अनेकार्थानि एकशब्दानि तानि अतोऽनुक्रमिष्याम्, अनवगतसंस्कारांश्च निगमान् । तद् 'एकपदिकम्' इत्याचक्षते । जहा (निध० ४।१।१) जघानेत्यर्थः ॥

ऊपर उत्त [सप्रह] की व्याख्या हुई है जिसमें एक समान अर्थ धारण करने वाले अनेक शब्द हैं (= पर्यायवाची) । अब हम उन (पदो) को उपाख्या करेंगे जिनमें एक शब्द के अनेक अर्थ हैं तथा ये ऐसे वैदिक शब्द हैं जिनकी रचना (प्रकृति-प्रत्यय द्वारा बनावट) मात्रम् नहीं । इस (सप्रह) को लोग 'एकपदिक' [-काण्ड] (या नैगम-काण्ड) बहने हैं । 'जहा' = मारा (√हन + लिट) ॥ १ ॥

विशेष—निष्ठा के प्रथम हीन अध्यायो में पर्यायवाची शब्दों का संप्रह है जिसकी व्याख्या मञ्जिस-स्ट्रा से याहक ने निष्ठा के दूसरे और हीसरे अध्यायों में कर दी । उसे नैष्ठन्तुक काण्ड बहने हैं । निष्ठा के चतुर्थ अध्याय में स्वतन्त्र शब्दों का संप्रह है जिसमें प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ हैं तथा प्राय ऐसे शब्द हैं जिनके सहकार (Formation) छठिन हैं । प्रत्येक पद के स्वतन्त्र होने के कारण इस शब्द को ऐतरादिक बहने हैं और इसके पदों को व्याख्या निष्ठा के चतुर्थ, पञ्चम और दस्त अध्यायों में हुई है । नैष्ठन्तुक-काण्ड के शब्द Synonym तथा नैगम (ऐतरादिक)-काण्ड के शब्द Homonym कहलाते हैं ॥ १ ॥

को नु मर्या अमियित् सत्वा सत्त्वायमन्त्रवीत् । जहा को अन्मदीपते ॥

(मर्या) हे मनुष्यो ! (को नु) विम (मत्वा) मित्र ने (अवशीषु) रहा है नि [मिते] (अमियित) उड़िग्न हुए रिता, रिना कुछ नहीं ही (सत्त्वापम्) भरने मित्र को (जहा) मार दाण ? (को) चौत (अम्भु) हमारे पास मे (ईर्षे) मारना है ? (क्ष० लाप्ताराज्ञ) ।

मर्या, इति मनुष्यनाम । मर्यादाभिवान् वा न्यात् ।

[मर्यादा = मर्यै. आदीयते ।] मर्यादा—मर्यादिनो. विभाग । मेथति आक्रोशकर्मा । अपापक जघान कमह जातु ? कोऽस्मद्भूत. पलायते ?

'मर्यं' मनुष्य का पर्याय है या मर्यादा (सीमा) का नाम है । मर्यादा = जिसे मनुष्य विशिष्ट करे । मर्यादा = दो सीमित स्थानों का विभाग [फरने वाली रेखा] । √मेथ् = उत्तेजित करना, चिल्लाना । किस निरपराध की मैने कभी भी मारा है ? मुझसे ढरकर कौन भागना है ?

विशेष—पत्र के देवता का कहना है कि बिना किसी अपराध के मैने किसी को नहीं मारा, पापी को ही मैं मारता हूँ । यदि बाप भी शीघ्र निधार हो जाय तो नहीं भासूँगा । पाप न करनेवाल नहीं भागते—दुः । 'जहा' मेरू हनुमा वृहा (छोड़ना) की सम्भाइना है किन्तु निहत्कार वृहत ही खेते हैं ।

. निधा (२) पाश्या भवति । यन्निधीयते । पाश्या = पाशसमूह । पाश, पाशयते । विपाशनात् ॥ २ ॥

निधा = जाल (पाश्या) जिसे [तोचे] रखा जाय । पाश्या = जालों का समूह । पाश, √पश् (बोधना) से, व्योकि बोधा जाता है ॥ २ ॥

वय सुपर्णि उप सेदुरिन्द्र प्रियमेधा ऋपयो नाघमाना ।

अप ध्वान्तमूर्णुंहि पूर्णि चक्षुर्मुग्ध्यस्माद्विधयेव वदान् ॥

(सुर्णि) मुन्द्र ददृश्वते (वय) पश्यों के समान (प्रियमधा) यज्ञों के प्रसी, (नाघमाना) बाचना करते हुए (ऋपय) ऋद्विगण (इन्द्रम्) इन्द्र के पाप (उपसेदु) पढ़ूँचे । (ध्वान्तम्) हें हुए स्थान को (अप र्णुंहि) लोल दो (वधु) बोलें (पूर्णि) भर दो, (भस्मान्) हमारे—जैसे (निधया इव) मानो जाल से (वदान्) बंधे हुए लोगों को (सुपुर्णि) छोड़ दो (क्रह० १०।७।३।११) ॥

वय, वे, वदुवचनम् । सुपर्णि. सुपतना आदित्यरशमय । उपसेदु, इन्द्र याचमाना । अपोर्णुंहि आच्वस्त चक्षु । चक्षु-स्थाते. वा, चप्ते. वा । पूर्णि = पूरय, देहि इति वा । मुञ्च अस्मान् पाशैरिव वदान् ॥

वय = वि (पशी) वा बहुवचन । सुपर्णि अर्थात् अच्छी तरह पड़ने वाली सूखं वी किरणेः इन्द्र के पास याचना करती हुई बहुवी । हमारी पिरी हुई दृष्टि को लोल दो । चक्षु-√स्था (जामना) वा-√वध् (देलना) हो ।

पूर्वि = पूरा करो, या दे दो । मानो जालो से बंधे हुए हम लोगों को छोड़ दो ।
 'पाश्वर्तंश्श्रोणितः शितामतः' । पाश्वं पशुमयम् अज्ञं भवति । पशुं स्पृशते: । संस्पृष्ट्या पृथुदेशम् । पृथुं स्पृशते: । संस्पृष्टम् अज्ञैः । अज्ञम् अज्ञनात्, अज्ञनाद्वा । श्रोणिः श्रोणते: गतिचलाकर्मणः । श्रोणिः चलतीव गच्छतः । दोः शिताम (३) भवति । दोः द्रवते: । योनि शिताम इति शाकपूणिः । विपितो भवति । श्यामतः यकृतः इति तैटीकिः । श्यामं श्यायते: । यकृत् यथा कथा च कृत्यते । शितिमांसतः मेदस्त. इति गालवः (शितिः श्यते: । मांसं माननं वा, मानसं वा । मनः अस्मिन् सीदति इति वा । 'मेदः मेद्यते: ॥ ३ ॥

पैमुली से, कमर से और बाहुओं से (वाजस० स० २१।४३ का खण्ड) । पैमुली का भाग अर्थात् सन्धियुक्त शरीर । पशुं (पैमुली, सन्धि) √स्पृश (दूना) से, वयोकि पीछे के भाग को दूना है । 'पृष्ठ' √स्पृश से, वयोकि यह शरीर [के अन्य भागों] से दूधा जाता है । अग् √अज्ञ (चिह्नित होना) या √अच्च (झुकना) से । 'श्रोणि', 'आगे बढ़ना' अर्थं बाले √श्रोणि से, वयोकि चलने हुए (व्यक्ति) की कमर (नितम्ब) आगे बढ़ती हुई-सी प्रक्रीति होती है । शिताम = बाढ़ु (दोः) । दोः √द्रु (दोड़ना) से । शाकपूणि के अनुसार शिताम = योनि, वयोकि लुली हुई होती है । तैटीकि के अनुसार श्याम-बण होने के कारण इसका अर्थं यकृत् (Liver) है । श्याम √श्ये (घनीभवन) से (= घना रंग) । यकृत् जिस निसी तरह बटता है (बिना यत्न के-दुर्गं) । गालव के अनुसार काला मास होने के कारण इसका अर्थं मेद (घर्वा) है । शिति √शो (= तेज करना, पजाना) से । मास-माननीय (= आदरणीय व्यक्ति के लिए दिया जाय-दुर्गं) या विन्तनीय (मन से आनन्द लियो जाय—दुर्गं) । अयवा मन इसमे नष्ट हो जाता है । मेदस् √मिद (मोटा होना) से ॥

विशेष—दुर्गचार्य ने इस प्रसंग मे दस प्रकार के अनवगम (अर्थात् पदों के संस्कार व्यादि को न जानना) दिखलाये हैं । वे हैं—(१) पदजाति (Kinds of words) को न जानना जैसे 'ख' नाम है कि निपात ? (२) अभिधेय (meaning) जैसे शिताम । (३) स्वर (accent) जैसे वे न वा यो । (४) स्फूर्ति (formation) जैसे ईर्पन्तासः । (५) गुण (Quality) जैसे करुलती । (६) विभाग (Internal division) जैसे—मैहना (मेहना) ।

(७) क्रम (order) उपरयच्च मे वचते । (८) विक्षेप (Exclusion) चाया न पृथिवी । (९) बद्धाहार (Inclusion) दानमनसो नो मनुष्यान् । (१०) व्यवधान (Intervention) वायुश्च नियुत्वान् । इस प्रकार वैदिक पदो की व्याख्या मे ये दस प्रकार की विभिन्नाइयाँ आती हैं जिन्हें बोध भाषा मे Ten unknowables कहा जा सकता है ॥ ३ ॥

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिव ।

राघस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ॥

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत्) जो कुछ भी (चित्र) चुनने योग्य तथा (मेहना) प्रशसनीय धन है (अद्रिव) हे वज्रधारिन् । (त्वादातम्) तुम दे दो । विदद्वसो हे धन को लानने चाले । (उभयाहस्त्या) दोनो हाथो से (तत् राघ) उस धन को (न) हमे (आ भर) ला दो । (अ० ५।३१।१) ॥

विशेष—‘चित्र’ को महना का विशेषण मानना ठीक नहीं, उसमे सर्वानुदात्त होने से उसे सम्बोधन मानकर ‘इन्द्र’ का विशेषण लेना ठीक है । त्वादातम्—‘त्वया दातव्यम्’ का समास । अद्रिव—अद्रि + मनुष्—सम्बोधन मे अद्रिवन् ‘मनुष्वसो रु सम्बुद्धी छ इति (पा० म० ८।३।१) से अद्रिव । विदद्वसु—मैक्डोनल का Governing compound सम्बोधन मे विदद्वसो ॥

यदिन्द्र चायनीय महनीय धनमस्ति । यत् मे इह नास्ति
इति वा नीणि मध्यमानि पदानि । त्वया न तद् दातव्यम् ।
अद्रिवन् । अद्रि आद्वणति एनेन । अपि वा—अत्ते स्यात् ।
ति सोमाद् । इति ह विज्ञायते । राघ इति धननाम् । राघ्नु-
वन्ति एनेन । तत् त्व, वित्तधन । उभाभ्या हस्ताभ्याम् आहर ।
उभो समुद्ध्यो भवत ॥

हे इन्द्र ! जो कुछ भी मुँदर और आदरणीय धन है । अथवा य हीन मध्यम पद हों—जो मुझ यहीं नहीं है (मे ह ना) । आप हम वह दे दें । हे वज्र धारण करने वाल । अद्रि अर्यात् जिसस [इन्द्र पहाड़ो को] सोता है । अथवा √अद (स्वाना) से, वे सोम के सान वाले हैं (अ० १०।४।१) यह मालूम भी है । राघ धन का पर्याय है वयोकि इसी स लोग प्राप्त करत हैं । हे धन के जाता । वही तुम हमारे लिए दोनो हाथो स लाया । उभय = जा भरे हुए हो (√उभ्) ॥

दमूना॑ (४) दममना॒ वा, दानमना॒ वा, दान्तमना॒ वा ।
अपि वा, दम इति॑ गृहनाम्, तन्मना॒ स्यात् । मन मनोते ॥४॥

दमूना = दया की बुद्धि से युक्त दान करने की बुद्धि वाला या समय की प्रवृत्ति वाला । अथवा, दम = घर, अत एव उसी में प्रवृत्ति । मन' च मन् (सोचना) से ॥४॥

जुष्टो॑ दमूना॒ अतिथिदुर्गोण इम नो॒ यज्ञमुप याहि॑ विद्वान् ।

विश्वा॑ अग्ने॒ अभियुजो॑ विहृत्या॒ शत्रू॒ यतामा॒ भरा॒ भोजनानि॑ ॥

(अग्ने) हे अग्ने । (जुष्ट) सेवित होकर (दमूना) अपना घर समझ कर, या दया भाव से युक्त होकर (दुरोणे) निवास स्थान में (अतिथि) अतिथि के रूप में (विद्वान्) शान युक्त होकर (न) हमारे (इम यताम्) इस यज्ञ में (उपायाहि) आओ । (विश्वा) सभी (अभियुज) शत्रुसेवकों को (विहृत्य) नष्ट करके (शत्रू॒ यताम्) शत्रु बनाने वालों का (भोजनानि) अग्न या धन (भास्त्र = हर) से आओ = छीन लाओ । (अठ० ५।४।५) ॥

अतिथि अभ्यतितो॑ गृहान् भवति । अभ्येति॑ तिथिषु॑ पर-
कुलानि॑ इति॑ वा, गृहाणि॑ इति॑ वा । दुरीण इति॑ गृहनाम् ।
दुरवा॑ भवन्ति॑ = दुस्तर्पा॑ । इम नो॒ यज्ञमुपयाहि॑ विद्वान् ।
सर्वा॑ अग्ने । अभियुज विहृत्य शत्रू॒ यताम् आहर भोजनानि॑ ।
विहृत्य अन्येषा॑ वलानि॑ शत्रू॒ या॒ भवनादाहर भोजनानि॑ इति॑ वा॑
धनानि॑ इति॑ वा॑ ॥

अतिथि = जो घरों में जाता है (√ वर्त) अथवा जो [निश्चित] तिथियों में दूषरों के परिवार में या घरों में जाता है (√ इ + तिथि) । दुरीण = घर कर्गोंकि जिसे संतुष्ट करना कठिन है (दु॒ √ वर्त) या जिसे संभालना (देख भाल करना) कठिन है । जानते हुए हमारे इस यज्ञ य आओ । हे अग्ने । सभी अभियुक्तों को मार कर, शत्रु बनाने वालों के भोजन (धन) छीन लाओ = हमारे शत्रुघा का वर (सना) नष्ट करके, शत्रुओं के घर से भोजन या धन लाओ ॥

विशेष—दुर्गचाय घर की कठिनाई पर उद्धरण देते हैं—

'कुदुम्बतन्त्राणि॑ हि॑ दुर्भराणि॑ ।'

मू॒ प (६) । मू॒ पिका॑ इत्यर्थ । मू॒ पिका॑ पुन॑ मुप्पाते॑ ।
मू॒ पोऽप्येत्स्मादेव ॥ ५ ॥

मूप = मूषिक (चूहा) । अथ मूषिक/मुप् (चुराना), रो । मूप भी इसी (√मुप्) से ॥ ५ ॥

स मा तपन्त्यभित् सपत्नीरिव पर्शव ।

मृपो न शिश्रा व्यदन्ति माध्य

स्तोतारं ते शतक्रतो वित्त मे अस्य रोदसी ॥

(माम्) मुझे (अभित्) चारों ओर से (सपली इव) सपलियों के समान (पशव) इटे (सतपत्ति) राहाण दे रही हैं । (शतक्रतो) है शत शक्ति वाले इन्द्र । (ते) तुम्हारी (स्तोतार) स्तुति करने वाले (मा) मुख को (आध्य = आधय) मानसिक चिन्तायें (व्यदन्ति) ला रही हैं (मूपः शिश्रान्) जैसे चूना सूते को [ला जाता है] । (रोदसी) है स्वग और पुष्टि । (मे) मेरी (अस्य) इस [अवस्था] को (वित्तम्) दोनों जान को । (अ० ११०५१८) ॥

सतपन्ति माम् अभित् सपल्य इव इमा पर्शव कूप-पर्शव । मूषिका इव असनातानि सूत्राणि व्यदन्ति । स्वाङ्गाभिधान वा स्यात् । शिश्रानि व्यदन्ति इति । सतपन्ति मा आध्य, कामा स्तोतारं ते शतक्रतो । वित्त मे अस्य रोदसी = जानीत मेऽस्य द्यावापृथिव्यौ इति ॥ नित कूपे वरहितमेतत्सूक्त प्रतिवभो । तत्र व्रहा इतिहासमिथग् ऋड्मिथ गाथामिथ च भवति । त्रित तीर्णतमो मेघया वभूव । अपि वा—सख्यानाम एवाभिप्रेतम् । एकतो द्वित त्रित इति नयो वभूवु ॥ ६ ॥

ये इटे अर्थात् कुण्ड की इटे सपलियों (सोतिनो) के समान मुझ चारों ओर से कृष्ट देती हैं । जिस प्रकार धूहे चर्वीदार (या अप्स से युक्त = अप्स मिथ्याणि) सूतों को ला जाते हैं । या अपने बग या ही नाम हा—शिश अर्थात् अपने अपने को लाते हैं । उसी तरह है शत शक्ति वाले स्वामिन् । तुम्हारी स्तुति करने वाले मुझको चित्तायें या इच्छायें कृष्ट देती हैं । हे रोदसी !

* दुर्गाचार्य—कुछ पश्चियों वा स्वभाव है कि वे अपनी पूँछ को ही सा जाते हैं, वही प्रबार जूहे सौंरिलग्न वस्तुओं (तेल, धी) के गाढ़ में पूँछ ढाल कर उसे निरालने वै बाद लाते हैं । शिश—पैठृ ।

मेरी इस दशा को जानो—हे स्वर्ग और पृथ्वी”” ” । कुएँ मे गिरे हुए त्रित [—नामक ऋषि] को यह मूर्क प्रत्यक्ष हुआ था । इसके सम्बन्ध मे इतिहास से युक्त, ऋचा से युक्त तथा गाया (=द्राहृण प्रन्थो के पद्य) से युक्त स्तुति (ब्रह्म) है । त्रित बुद्धि मे बहुत तीक्ष्ण थे ($\checkmark \text{तृ}$) । अथवा [‘त्रित’ मे] सह्या विशेष का अर्थ हो । एक से दो से, तीन से इस तरह तीन हुए (एकत, द्वित और त्रित ये तीन भाई थे—दुर्यं) ॥ ६ ॥

इपिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव राय ।
सोम राजन्प्रण आयूपि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ॥

(इपिरेण) गतिशील (मनसा) मन से (ते) तुम्हारे लिए (सुतस्य) चूलाय गय सोम का (पित्र्यस्य) वैत्रिक (राय) धन (इव) के समान (भक्षीमहि) हम ग्रहण करें । (सोम राजन) हे राजा सोम ! (त) हमारी (आयूपि) आयु, को, जीवन को (प्रतारी) बढ़ाओ (वासराणि) श्रीष्मकाल के (अहानि) दिनों को (सूर्य इव) जैसे सूर्य [बढ़ाता है] । (क्र० ८।४८।७) :

ईपणेन वा, एपणेन वा, ऋषणेन वा । ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य । प्रवर्धय च न । आयूपि सोम राजन् ! ‘अहानीव सूर्यो वासराणि’—वासराणि=वेसराणि, विवासनानि गमनानीति वा ॥ कुरुतन (८) इति । अनर्थका उपजना, भवन्ति—कर्तन, हन्तन, यातन इति ॥ जठरम् (उदर) भवन्ति । जग्धमस्मिन् ध्रियते, धीयते वा ॥ ७ ॥

[गतिशील =] तेज, वाक्तिशाली या सुवुद्ध । ऐसे मन से तुम्हारे लिए चूलाय गये सोम का भोग (हम) वैत्रिक-धन वे समान करें । हे राजा सोम ! हमारी आयु बढ़ाओ । जैसे श्रीष्मकाल के दिनों को सूर्य । वासर=विविध रूप से चलने वाल (रात मे ठड़ और दिन मे गर्म यड़ने से) । या चमकने वाल (दुर्ग—नाश करने वाले) या जान वाल (विस्तृत) ॥ कुरुतन (बरो) । इन सबों मे (‘न’ का) आगम व्यर्थ ही हुआ है जैसे—कर्तन (करो), हन्तन (मारो), यातन (जाओ) । जठर=पेट वयोःकि सायो हृइ चीज इसम रखी जाती है ($\checkmark \text{पृ}$) या जपा की जाती है ($\checkmark \text{या}$) ॥ ७ ॥

विशेष—‘कुरुतन’ आदि के लिए पा० सू० ७।१।४८१ देखें—‘तप्तनभनय-

नाश्व' । इन सर्वों मे 'तन' प्रत्यय लाकर 'कुइन', तनप् से 'कत्तृ' (गुण हो जाने के बारण—सार्वपातुमपितु) इत्यादि ॥ ७ ॥

मरुत्वाँ इन्द्र वृपभो रणाय पिवा सोममनुष्वधं मदाय ।
आ सिंश्वस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम् ॥

(मरुत्वान्) मरुतो से युक्त और (वृपभः) वर्षा करने वाला (इन्द्रः) इन्द्र (रणाय) युद्ध के लिए है; (मदाय) आनन्द के लिए (अनुष्वधम्) अप्न अर्थात् भोजन के बाद (सोमम्) सोम (पिव) पी लो । (जठरे) पेट म (मध्व) मधु की (ऊर्मिम्) तरंग (आमिङ्गस्व) सीच दो, ढाल दो; (त्वम्) तुम (प्रदिवः) पहले के दिनों मे (सुतानाम्) उत्त्वन इत्येहृए सोमो वे भी (राजा असि) राजा हो । (कृ० ३।४७।१) ।

मरुत्वान्=इन्द्र । मरुद्धू तद्वान् । वृपभो वार्षिता अपाम् ।
रणाय=रमणीयाय सग्रामाय । पिव सोमम् । अनुष्वधम्=अन्त्व-
मम् । मदाय=मदनीयाय जैश्राय । आसिंश्वस्व जठरे मधुन-
ऊर्मिम् । मधु सोमम्—इत्योपमिकम् । माद्यते । इदमपि इतरत्
मधु एतस्मादेव । त्वं राजासि पूर्वेष्वपि अहसु सुतानाम् ॥ ८ ॥

मरुत्वान् इन्द्र = मरुओं के साथ या उनसे युक्त । वृपम् = जल वरहाने वाले । रण अर्थात् रमणीय (√रम्) सग्राम के लिए । सोम पी लो । अप्न के बाद = भोजन के बाद । मद अर्थात् आनन्ददायक दिवय के लिए । पेट मे मधु को तरण (प्रवाह) ढालो । मधु अर्थात् सोम को—यह अवधिरा (आनन्द देने मे दोनों समान है) है । √मद् मे । यह दूसरा मधु [वा अर्थ—मदिरा] भी इसी से बना है । पूर्वकाल के दिनों मे भी खुलाय हुए सोमी के तुम राजा हो [इसलिए तुम्हारा सोमपान करना सर्वथा समुचित है—दुर्ग] ॥ ८ ॥

द्वितीय-पाद

तितउ (१०) परिपवन भवति । ततवद्वा । तुद्रवद्वा ।
तिलमावतुम्भम् इति वा ॥ ९ ॥

तितउ+पवित्र करने वाली (चलनी) । चमडे (तत) ढकी हुई, पा छेद (तुम्भ) से युक्त । अथवा तिल के समान छेदवाली ॥ ९ ॥

सकुमिव तिसउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैपां लक्ष्मीनिहिताधि वाचि ॥

(तिसउना) चलनी के द्वारा (सखुमिव) सत् के समान (पुनन्तः) पवित्र करते हुए (यत्र) जहाँ (धीराः) बुद्धिमान् लोग (मनसा) मन के द्वारा (वाचम्) वाणी को [पवित्र] (बक्त्वा) करते हैं । (अत्र) वहाँ (सखायः) मित्र लोग (सख्यानि) मित्रता को (जानते) पहचानते हैं (एषाम्) इनकी (अधि वाचि) वाणी में (भद्रा) कल्पाण करने वाली (लक्ष्मीः) लक्ष्मी, शोभा (निहिता) रहती है । (अ० १०१७१२) ॥

विशेष—इस मंत्र का व्याकरण में बढ़ा महसूपूर्ण स्थान है । पनडूलि ने महामात्र के पश्चात्तात्त्विक में इसका उद्धरण देकर स्थाप्य की है । प्रग्नवेद में यह विद्या-मूर्त्ति भी है । इसमें विद्वानों की प्रशंसा की गयी है । मित्र का अभिशाय है एक समान शाहत पढ़ने वाले जैसे वैद्याकरणों के मित्र वैद्याकरण, नैहस्तों के नैहस्त । वे एक दूसरे के विज्ञान-प्रश्नां (मित्रता) को भली-माँगि जानते हैं । निहस्त की व्याख्या नीचे देखें ॥

सकुमिव परिपवनेन पुनन्तः । सत्तः सत्ततेः । दुर्घावो
भवति । कसतेः वा स्याद् विपरीतस्य । विक्सितो भवति । यत्र
धीरा मनसा वाचमकृपत प्रज्ञानम् । धीरा: प्रज्ञानवन्तः ध्यान-
वन्तः । तत्र सखायः सख्यानि संजानते, भद्रैपां लक्ष्मीनिहि-
ताधि वाचि ॥

गानों चलनी से सत् को चालते हुए । ‘सत्’ √सत् (शट जाना) से, ऐसे थोना कठित है । अथवा √वस् (धमत्वा) से यस्-विषयं द्वारा हो गया हो क्योंकि यह पूरा खिला हुआ होता है । जहाँ बुद्धिमान् लोग मन के द्वारा वाणी अर्थात् ज्ञान को चालते हैं । धीर=ज्ञानमुक्त, विचारक । वहाँ मित्र लोग मित्रता को पहचानते हैं । इनकी वाणी में कल्पाणो शोभा निहित है ॥

भद्रं भगेन व्याख्यातम् (३।१६) भजनोयम्, भूतानाम्
अभिद्रवणीयम् । भवत् रमयति इति वा, भाजनवद्वा । लक्ष्मीः
लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यनाद्वा, लाङ्घनाद्वा, लपते: वा स्याद्
प्रेष्वाकमंणः । लग्यते: वा स्यादाश्लेषकमंणः । लब्नतेर्वा स्याद्
लाघाकमंणः ॥ शिष्ठे (११) इत्युपरिपृष्ठ भ्यास्यास्याम्
(६।१७) ॥ १० ॥

'भद्र' की व्याख्या 'भग' (ऐश्वर्य) से हो गई है (देखिये, पि८० ३१६)। जिसमें आनन्द मिले, जिसे प्राणी प्राप्त करें। या उत्तमित्यन् होकर आनन्द दे, या अपने [कृपा-] पात्रों के पास रहे (√भज्.√भू+√दु.√भू+√रम्. √भज्) लक्ष्मी (चिह्न) लाभ होने से, निर्देश करने से, पाने की इच्छा से, या चिह्न करने से। या इच्छार्थक् √लघ् से, या 'सदना' अर्थं वाले √लग् से, या 'प्रभासा न करना' अर्थं वाले √लज्ज् से (= जिनके पास लक्ष्मी रहती है वे अपनी प्रभासा नहीं करते हैं) ॥

'शिप्रे' की व्याख्या बाद में (६।१७) होगी ॥ १० ॥

तत्सूयंस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोविततं सं जभार ।

यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्राश्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥

(सूयंस्य) सूयं का (तद्) यही (देवत्वम्) देव-भाव है, (तद्) यही (महित्व) महिमा है कि (कर्तों) कार्य के (मध्या) बीच में ही (विततम्) चारों ओर फैले हुए [प्रकाश को—सायण, अन्धकार को—आधुनिक-मत] (स जभार) समेट लेता है, नष्ट कर देता है। (यदा इत्) जब उसने (सधस्थात्) पृथ्वी से, अश्वशाला से (हरितः) प्रकाश को, घोड़ों को (अयुक्त) स्त्रीब लिया, जोत लिया (आत्) तभी (रात्रि) रात्रिदेवी (सिमस्मै) सबों के लिए (वासः) अपने कपड़ों को (तनुते) फैलाने लगी, फैला रही थी। (अ८० १।११५।४) ॥

विशेष— उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या में भारतीय (सायण) और आधुनिक-मत (विदेशी) में पर्याप्त अन्तर है। सायण और यास्क इसे सायंकाल का वर्णन मानते हैं—सासार में होने वाले अनन्त कर्मों के बीच में ही सूर्य सन्दर्भ में अपनी फौलों हृई किरणों को समेट लिया करते हैं। जब वे अपनी किरणों को पृथ्वी (सहस्र) से हटा लेते हैं तो रात्रि का आवरणात्मक-कार्य आरम्भ हो जाता है। सायण वा व्याख्यन है कि जब वे रथ (सहस्र) से घोड़ों को अन्धव्र बीच देते हैं (अयुक्त) तब रात्रि होती है। इसके बिन्दु आधुनिक-विद्वान् प्रस्तुत मन्त्र के पहले ओर बाद के मन्त्रों के सादृश्य से (१।११४।३ और ५) इसमें प्रातःकाल वा वर्णन मानते हैं—अन्धकार के प्रसार कार्य के बीच में ही सूर्य ने सारे अन्धकार को नष्ट कर दिया (सजहार)। अस्तवल से जब उन्होंने घोड़ों को रथ में जोन् दिया उस समय रात्रि अपना काय कर रही थी। 'अयुक्त' का अर्थ जो सायण ने 'अन्धव्र युत्तान् करोति' किया है, यह वस्तुतः स्त्रीब-तान्

{ far fetchedness) है, इसे सीधा 'जोत दिया' के बर्थ में ही लेना ठीक है। रौप्य ने भी सायण का ही बर्थ लिया है।

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणा क्रियमाणानां
विततं संहित्यते । यदासौ अयुक्त हरणान् आदित्यरश्मीन् ।
हरितः अश्वान् इति वा । अथ रात्री वासः तनुते सिमस्मै ।
वेसरम् अहः अवयुवती सर्वस्मात् । अपि वा उपमार्थं स्यात् ।
रात्रीव वासः तनुते इति । तथापि निगमो भवति—‘पुनः
समव्यद्वितं वयन्ती’ । समनात्सीत् ॥ ११ ॥

सूर्य का देवत्व इसीमें है, यही महिमा है कि किये जाते हुए कर्मों के बीच
में चन्होने (समस्त) फैली हुई [वस्तु] का सहार कर लिया है (= सिक्षोड
लिया) । जब उन्होने रस-हरण करने वाली आदित्य-किरणों को जोत लिया,
या हरित = पीड़ों को । अब रात्रि सबों के लिए वस्तु फैलाती है । चमकने वाले
दिन-दिन को सबों से पृथक् कर देती हुई ॥ । अद्यवा तुलना के बर्थ में यह
प्रयुक्त हुआ है—रात्रि के समान ही वह अपना वस्त्र (किरणें) फैलाता है ।
वैदिक प्रयोग भी है—‘फैली हुई (वस्तु) को बुनती हुई उसने किर बुना’
(श्ल० २।३८।४) अर्थात् उसने सप्रह कर लिया ॥ ११ ॥

इन्द्रेण सं हि इक्षसे संजग्मानो अविभ्युपा । मन्दू समानवर्चसा ॥

(अविभ्युपा) भयरहित [गण] के साथ (संजग्मान) जाते हुए,
(हि) वास्तव में (इन्द्रेण) इन्द्र के साथ (सदृशसे) दिव्यलाई पढ़ते हो ।
तृष्ण दोनों (मन्दू) आनन्दयुक्त रथा (समानवर्चसा = सौ) समान बल वाले
हो (श्ल० १।६।७) ॥

इन्द्रेण हि संदृश्यसे, संगच्छमानः अविभ्युपा गणेन (१३)
मदिष्णू युवा स्य । अपि वा, ‘मनुना तेन’ इति स्यात् । समान-
वर्चसा इत्येतेन व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

निर्भय गण (मरुतों) के साथ जाते हुए, इन्द्र के साथ दिव्यलाई पढ़ने
हो । तुष्ण द्वीतीं बान-दण्ड से हरे से तुक्त होते । जपकार ‘उत्ता अस्मान-गण ते ताप’
इस प्रकार का अर्थ हो । ‘समानवर्चसा’ (तुल्य बल के साथ)—इसकी भी
वही गति है । [मन्दू—इसका वैत्तिक अर्थ है मनुना (तृष्णा ए० व०) ।
इसमें मनु+टा होने से ‘मुग्न सुनुश्चूर्वसवर्णच्छेयाहाहपायाजाल’ (पा०

मू० ७।१।३९) वे द्वारा पूर्वं सवर्णं होकर 'पन्दू' हो गया है । 'मस्तुता = मरह-
गणेन (दुर्गं)] ॥ १२ ॥

ईर्मन्तास सिलिकमध्यमास सं शूरणासो दिव्यासो अत्या ।
हमा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिपुदिव्यमज्जमश्वा ॥

(ईर्मन्तासः) सुनिमित अन्त भाग वाले या विशाल नितम्ब वाले तथा
(सिलिकमध्यमास) चिकुड़ी हुई वर्धान् पतली कमर वाले, (शूरणास)
बीरता से भरे हुए, (दिव्यास) दिव्यशक्ति सम्बन्ध (अत्याः) दौड़ाहे
(श्रेणिश) पक्षि मे बंधे हुए (हसाः इव) हसों के समान (स यतन्ते)
एक साथ प्रयास करते हैं, (यदा) जब कि (अश्वा) घोड़ो ने (दिव्यम्)
दैवी (अज्जम्) भागं को (अक्षिपु) पाया है । (अ० १।१६॥१०) ।

ईर्मन्ता = समीरितान्ता [सुसभीरितान्ता], पृथ्वन्ता वा ।
सिलिकमध्यमा = समृतमध्यमा, शीर्षमध्यमा. वा । अपि वा,
शिर आदित्यो भवति, यत् अनुशेते सर्वाणि भूतानि, मध्ये च
एषा तिहुति । इदमपीतरत् शिर. एतास्मादेव । समाश्रितानि
एतत् इन्द्रियाणि भवन्ति । 'स शूरणासो दिव्यासो अत्या' ।
शूर — शवते गतिकर्मण् । दिव्या. दिविजा । अत्या अतना ॥

सुनिमित अन्तभाग वाले = निकले हुए, [अच्छी तरह निकले हुए]
या विशाल नितम्ब से गुरुत्व (= सूर्य के घोटो का विठला भाग विशाल है) ।
सुधटित कमर वाले = जिनकी कमर चिकुड़ी है या जिनका प्रधान बीच में
रहता है (= सूर्य या प्रधान घोड़ा) । अश्वा, शिर से सूर्य का मतलब है
क्योंकि सभी जीवों में [प्राण रूप में] यह निवास बरता है और उनके बीच
में रहता है । यह दूसरा शिर (मनुष्य का) इसी तरह बना है क्योंकि
सभी इन्द्रियाँ इसी पर आवित हैं । 'बीरतायुक्त दिव्य दौड़ाहे (दौड़ने वाले)
एक साथ' । शूर गत्यर्थक शु से । दिव्य = स्वर्ग मे उत्पन्न । अत्या = दौड़ाहे
(अत्) ॥

'हसा इव श्रेणिशो यतन्ते' । हसा हन्ते., अन्ति अध्वानम् ।
श्रेणिश इति॑ श्रेणि श्रवते । समाश्रिता भवन्ति । यदा अक्षिपु =
यदा आपन् । दिव्यम् अज्जम् = अज्जनिम् = आजिम् । अश्वा ।

अस्त्यादित्यज्ञुतिः अश्वस्य । आदित्यादश्वो निस्ताप्त इति । 'सूरा-
दश्वं वसवो निरतप्त' । इत्यपि निगमो भवति ॥ १३ ॥

'पक्षि मे वंचे हस्तो के समान वे प्रणाम करते हैं' । हस्तहन् (मारना) से, ये रास्तो को समाप्त बरने हैं । शेषो मे वंचकर । शेषिधि (मिलाना) से, ये मिली हुई रहती है । जब पहुँचे = जब पाया । दिव्य अजम = मार्ग = , धेनु को घोड़ो ने । सूर्य की स्तुति अश्व वी ही स्तुति है । सूर्य से अश्व निमित्त हुआ है । 'हे वसुओ ! तुमने घोड़े को सूर्य से बनाया' (ऋ० ३।१२) — यह भी उदाहरण वेद मे है ॥ १३ ॥

विशेष—उपर्युक्त मंत्र मे सूर्य के घोड़ो का वर्णन है । उनकी किरणो को ही वेद मे घोड़ा कहा गया है । इन घोड़ो के आकार का वर्णन करने के बाद इनके ! दिव्य-मार्ग पर चलने का उल्लेख किया गया है ।

कायमानो वना त्वं यत्मात्तरजगन्नपः ।

न तत्ते अग्ने प्रमूर्ये निवर्तनं, यद्दूरे सञ्चिहाभव ॥

(यदि) जब (त्वम्) तुम (बना-नि) जगलो को, लकड़ियो को (कायमान) चाहते हुए (अपः मातृः) जलरूपी माताओं के पास (अजग्न्) गये हो, (अग्ने) हे अग्नि ! (ते) तुम्हारा (तत् निवर्तनम्) वह लीटना (प्रमूर्ये) भूलने योग्य (न) नहीं (यदि) जब कि (दूरे सन्) दूर होकर भी (इह) यहाँ (अभव) चले आते हो । (ऋ० ३।१२) ।

विशेष—अग्नि की उत्पत्ति बनो ये भी होती है, जल से भी (बन्दूत भी) । निवर्तनं = बिदूत के रूप मे लौटना, जल से निष्कलने वाले अग्नि (बन्दूत) का यज्ञ मे अरणि-मन्त्रन से उत्पन्न हो जाना ।

कायमानः (१५) कायमानः, कामयमानः इति वा,
वनानि । त्वं यत् मातृः अपः अग्नमः, उपशाम्यन् । न तत् ते
अग्ने ! प्रमूर्यते निवर्तनं दूरे यत्सन् इह भवसि जायमानः ॥

कायमान = देखते हुए, या जगलों की दृष्टिकरते हुए । तुम जब जल-
रूपी माताओं के पास गये = बुझ गये । हे अग्ने ! तुम्हारा वह लौटना भूला
नहीं जाता जब कि दूर रहने पर भी उत्तर्न होकर यहाँ पहुँच जाने हो ।

'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः' = लुब्धम् ऋषिपि नयन्ति
पशु मन्यमानाः । 'शीरं पावकदोचिष्म' = पावकदोस्तिम् ।
अनुशासिनम् इति वा, आसिनम् इति वा ॥ १४ ॥'

'पशु समझ कर, लोभी को बे ले जाते हैं' (श० ३ ५३।२३)—पशु समझ कर लोभी अृषि को ले जाते हैं। 'पवित्रहारक उच्चला वाले अभिन को' (८।१०।२।११)। जिसका प्रशांत पवित्र है, यह सबों में शयन करता है या सधों को ध्यात करता है।

विशेष—पहले मन्त्र की पूरी अृच्छा का उद्धरण देकर दुर्ग बहते हैं कि 'यस्मिन् तिगमे एष रात्र ता यमिष्ठद्वैषिषो नृहृ० अह चकाणिष्ठलो वासिष्ठ'। अतस्ता न निर्वृत्वीमि ।' इससे दुर्गाचार्य के वश का कुछ पता मिलता है। देखिये—भूमिका ॥ १४ ॥

कनीनकेव विद्रघे नवे द्रुपदे अर्भके । वभू यामेपु शोभेते ॥

(नवे) नवीन तथा (विद्रघे) छेदों से युक्त, (अर्भके) छोटे (हुपदे) स्लकड़ी के आसन पर थैठी (कनीनकेव) गुडियों के ममान (यामेपु) रास्तों में (वभू) भूरे घोड़े (शोभेते) शोभते हैं। (श० ४।३२।२३)।

कनीनके कन्पके । कन्या कमनीया भवति । केयं नेतव्या इति वा (कमनेनानीयते इति वा) । कनते, वा स्यात् कान्ति-कमंण् । कन्ययो, अधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानि इति शाकपूणिः । विद्धयोः दास्याद्वोः । दाह इणातेः वा, द्रूणातेः वा । तस्मादेव द्रु । नवे = नवजाते । अर्भके = अरूढ़े । ते यथा तदधिष्ठानेपु शोभेते एवं वभू यामेपु शोभेते । वर्ड्वो, अश्वयो, संस्तवः ।

दो गुटियायें (dolls) = दो कन्यायें । कन्या = जिसकी कामना की जाय (√कृम्) । अथवा 'इसे किस व्यक्ति को दिया जाय'—इससे यना हो । (अथवा, कामना करनेवाले पति के द्वारा लायी जानी है) । अथवा 'सप्तमा धर्यवाले √वन् से यना हो । शाकपूणि वा कहना है इ [उपर्युक्त मन्त्र में] दोनों कन्याओं के आसन से सम्बद्ध रात्र (= विद्रघे, नवे, द्रुपदे, अर्भके—दुर्ग) सप्तमी के एकवचन में है । विभूषित काण्डासनों पर । 'दाह' √दृ (जाडना) से या √दु (मारना) से । इसी धातु से 'दु' भी यना है । नव = नवोत्पन्न । अर्भके = जो बढ़ा न हो । वे जैसे अपने आसनों पर दोभती हैं वैसे ही भूरे घोड़े रास्तों में शोभने हैं । यह दो भूरे घोड़ों वा सम्मिलित धर्णन हैं ।

इदं च मे॒भ्रादि॒द च मे॒ज्ञादि॒ति अृषि, प्रमंस्याय आह—'सुवा-स्त्वा अधि तुग्वनि' । सुवास्तु, नदी । तुग्व (२०) तीर्थं भवति ।

तूष्णमेतदायान्ति । 'कुविन्नसन्ते मरुतः पुनर्न्' । पुनः न. नमल्ले मरुतः । नसन्त (२२) इति उपरिएतद् (निह० ७।१७) व्याख्यास्यामः । 'ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मधम्' । ये ते मदा. आहनवन्तः वचनवन्तः तैः इन्द्रं चोदय दानाय मधम् ॥ १५ ॥

'मुझे यह दिया, मुझे यह दिया'—इस प्रकार की गणना करके 'हयि ने कहा—'मुशास्तु-नदी के तट पर' (ऋ० ८।१३।३७) । मुशास्तु एक नदी है । 'तुम्ह' लट को कहते हैं वयोऽकि छोग इसके पास शीघ्र आते हैं (दान करने के लिए—हुए) ।

'मदृग सम्बद्ध इमारे लिए फिर जूके' (ऋ० ७।५८।५) = इमारे लिए मदृगण फिर जूकने हैं । 'नसन्त' की व्याख्या बाद में (७।१७) में करेंगे ।

'जो तुम्हारे पास अनेन्द्रग्रद, योहुङ (आहनस = नीसते योग्य) और महान् (सोम) है उससे हनुम को पन देने के लिए प्रेरित करो' (ऋ० ४।४५।५) । तुम्हारे पास जो मादर, आहनन में युक्त = डगने जाते (मोहन) [सोम हैं] उससे हनुम को पन देने के लिए प्रेरित करो ॥ १५ ॥

उपो अदर्शि दुन्ध्युबो न वक्षो नोधा इवाविरकृतं प्रियाणि ।
अद्यसन्नं ससतो वोषयन्ती द्यश्वत्तमागात्युनरेयुपीणाम् ॥

[ऊग] (शुभ्रुद.) गुद करने वाले जादित्य के (वभः न) वक्त स्थल के समान (उप उ अर्ति) दिक्षार्थी वही । (नोधा) पायह (इव) के समान उसने (प्रियाणि) प्रिय वस्तुएँ (अविः अहृत) दिखायी हैं । (अद्यसन्नं) अन्त माटनेवाली स्त्री के समान (ससत.) सोये हुए लोगों को (शोषयन्ती) जगाती हुई (पुन) फिर (एपुषोगात्) आनेवाली सभी देवियों में (शश्वत्तमा) सदैव अधिक नियम का पालन करनेवाली (आगात्) आयी है । (ऋ० १।१२४।४) ।

उपादर्शि । दुन्ध्युवः । दुन्ध्युः आदित्यो भवति । शोधनात् । तस्यैव यक्ष. भासः । अध्यूढम् । इदमपि इतरद् वक्षः एतस्मा-देव । अध्यूढ काये । शकुनि. अपि दुन्ध्यु. उच्यते, शोधनादेव । उदकचरो भवति । आपोऽपि दुन्ध्यवः उच्यन्ते । शोधनादेव । नोधा: क्रयि. भवति । नवनं दधाति । स यथा सुत्या कामा-नाविष्कुरुते, एवमूपा रूपाण्याविष्कुरुते । अन्दसद—अद्य अन्नं भवति । अद्यसादिनी इति वा, अद्यसानिनी इति वा । 'ससतो

*गनावाली झज्जा यो है (इर्ण)—अदान्मे पीहुत्तयः पञ्चाशन वस्त्रसुवैर्भूतान् । महिषो अर्द्धं सुत्पतिः । (ऋ० ८।१३।३६)

वोधयन्ती शाश्वतमागात् पुनरेयुपीणाम् ।' स्वपत्तौ [वोधयन्ती शाश्वतिकतमा आगात् पुनः आगामिनीनाम् ॥

दिखलाधी पड़ी । पवित्र करने वाले के । शुभ्यु = आदित्य, शुद्ध करने से । उसी के बदास्थल अर्थात् ज्योति के समान । जो (ज्योति) काफी बहुत हुई है । यह दूसरे अर्थवालों (छाती) वक्ष भी इसी से बना है । जो शारीर में निकला हुआ है । (√वह) । पक्षी को भी शुभ्यु कहते हैं, शुद्ध करने से । यह जल में चलता है (वष्टिं बहुत शुद्ध रहता है—दुर्ग) जल को भी शुभ्यु कहते हैं, शुद्ध करने से ही । 'नोवा' अर्पि को कहते हैं क्षेत्रिक स्तुति घारण करता (बनाता) है । जैसे स्तुति के ढारा वह अपनो इच्छाओं का प्रदर्शन करता है, उसी तरह ऊपर अपने हड का आविहार करती है । अथसद् = 'अथ' अन्न को कहते हैं, जो अन्न पर बैठे या अन्न प्राप्त करे (माता या स्त्री) । सोये हुए लोगों को जगाती हुई फिर आनेवाली सभी देवियों ने सर्वाधिक नियम का गालन करनेवाली (ऊपर) आयी है ।

विशेष—अथसद् = अन्न बांटनेवाली याता । जैसे ग्रात काल माता अपने पुत्रों को दूध, अन्न आदि देने के लिए जगाती है वैसे ही ऊपर भी जगाती हुई आती है । अन्तिम में 'सप्तोऽ' इत्यादि मूल शब्दों का उद्धरण देकर यात्रा ने उसके शब्दों के प्रतिशब्द दिये हैं । मैंने दोनों वा अलग-अलग अनुवाद निरर्थक समझकर छोड़ दिया है ।

'ते वाशीमन्त इष्मिणः' । ईपणिनः इति वा । एपणिनः इति वा । आर्यणिनः इति वा । 'वाशी' इति वाङ्नाम (निः० ११११११) वास्यते इति सत्या ।

'वे लोग बुद्धि से युक्त और इच्छाओं से युक्त हैं' (अ० १८७१६) । पत्तिमान्, या इच्छा से युक्त, या सबों का साकारकार करनेवाले । वाशी=वाणी क्षेत्रिक इसे बोला जाता है । (वाश् = विलागः; तुलनीय—'दिभ्यस्यन्तो वा'—सिरे—नि० १११०) ।

- 'शंसावाध्वर्यों प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम्' अभिवहनस्तुतिम् । अभिवरणप्रवादां स्तुति भन्यन्ते । ऐन्द्री त्वेव शस्यते । परितव्या (२७) इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः (निः० ११२५) ॥

हे अधर्यो ! (मे प्रति गृणीहि) मेरे सामने योन गांओ, हम दोनो उमड़ी प्रसासा करें (वसाव), इन्द्र के लिए प्रिय स्तुति (वाहः) की रचना करें (अ० १५८१३) । कुछ लोग इसे जावाहन भी स्तुति मानते हैं, दूसरे इसे सोम पीसने का वर्णन समझते हैं । सफापि यह इन्द्र की स्तुति के हप में है । 'परितव्या' की व्याख्या वाद में होती ॥ १६ ॥

विशेष—अभिवहन = दुलाकर से आना, स्तोत्र ही देवताओं को लाता है । **अभिपवण प्रैवाद** = सौम पीसने के विषय में ।

तृतीय-पाद

सुविते (२८) । सु इते । सूते । सुगते प्रजायामिति । वा । 'सुविते मा धा.' इत्यपि निगमो भवति । दयति. (२९) अनेककर्मा । 'नवेन पूर्वं दयमाना. स्याम'—इत्युपदयाकर्मा । 'य एक इद्विदयते वसु'—इति दानकर्मा वा विभागकर्मा वा । 'दुर्वन्तुर्भासो दयते वनानि'—इति दहतिकर्मा । दुर्वन्तुं = दुर्वार । 'विद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्'—इति हिंसाकर्मा ॥

मुविते = सु + इते, या सूते अर्थात् सुन्दर ढङ्ग से जाना, या उत्पन्न करना । 'सुन्दर हयान म सुजे धारण किरो' (मैत्रा० स० १।२।७, त० स० १।२।१०।२)—यह भी वैदिक उद्धरण है । 'दयति' के अनेक अर्थ हैं । क 'नय से हम प्राचीन की रक्षा करते रहें'—(मैत्रा० स० ४।१।३।७) यहाँ रक्षा के अर्थ में । 'अकेले ही जो धन का वितरण करता है' (ऋ० १।८।४।३)—यहाँ दान या विभाजन के अर्थ में । 'वह अवारणीय तथा भवद्वूर बमकर दर्शों को जलाता है' (ऋ० ६।६।५)—यहाँ जलाने के अर्थ में । दुर्वन्तु = दिएका वारण बरना कठिन है । 'धन को जानेवाला अपने शत्रुओं वा नाश करते हए'" (ऋ० ३।३।४।१)—यहाँ हिंसा के अर्थ में ॥

इमे सुता इन्दव. प्रातरित्वना सजोपसा पिवतमधिना तान् ।
अयं हि वामूतये वन्दनाय मा वायसो दोपा दयमानो अवृद्धत् ॥

प्रात इल मे आनेवाले उपा मपन यल (जोप) वाले, हे अश्विन् युगल ! ये सौम पीसे गये हैं, इन्ह वी ले । यह आप दोनों की रक्षा और वन्दना बरन के लिए है, प्रात काल (दोपा) मे उडववाले (दयमान) कोए न मुझे जगा दिया है ।

विशेष—इन कृत्ता वा रथान नहीं मिल सकता है किन्तु यह भी स्वर के चिन्हों के साथ पाया गया है जैसे ऋग्वेद के अन्य उद्धरण । सम्भव है कि ऋग्वेद की सुन वाल्ल दास्ता मे यह हो ।

दयमान. इति ॥ नूचित् (३०) इति निपात. पुराणनवयो ।

• जैसे सुविते इन्द मे भिन्न शत्रुओं से दाढ़ या खण्ड करके अनेक अर्थ किये गये हैं, उस प्रवार दयति मे नहों । यह शत्रु ही अनेकार्थक है । 'एकप्रहृतिरेवाय शश्वोऽनेकर्यो भवनीत्वेनस्य विशेषस्यापद्येतनार्थमुदाहरति'—दुर्वन्ते ।

नू च (३१) इति च । 'अद्या चिन्मू चित्तदपो नदीनाम्' । अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम् । 'नू च पुरा च सदनं र्योणाम्'-अद्य च पुरा च सदनं र्योणाम् । रयिः इति धननाम् । रातेः दानकर्मण् ॥

दयगान = (उठते हए) ॥ 'नू चित्' निपात है तथा पुराने और मरे वे अधी मे आता है । 'नू च' भी देखा हो रहा है । 'आज और पहले भी नदियों वा पहली कर्म (अप.) है' (अ० ६।२०।३)—(नू=पहले) । 'धनो वा अपुनिक और द्राष्टीन निवारणश्चात्' (अ० १।९६।७)—(नू=आज) । रयि = धन, च च देना, से ॥ १७ ॥

'विद्याम तस्य ते वयम् कूपारस्य दावने'—विद्याम तस्य ते वयम् अकुपरणस्य दानस्य ।

हम तुम्हारे उग अमीम दान वो जाने (अ० ५।३३।२, ३।० २।५२।१) । अकुपरण = जिसका पाराकार न हो । दावन = दान । विद्याम = पाये ।

आदित्योऽपि अकूपार उच्यते, अकूपारो भवति = दूरपार । समुद्रोऽपि अकूपार उच्यते, अकूपारो भवति = महापार । कच्छपोऽपि अकूपार उच्यते, अकूपार. = न पूपमुच्छति इति । कच्छप = कच्छं पाति । कच्छेन पाति द्रष्टि वा । कच्छेन पिवति इति वा । कच्छ. = सच्छ., गच्छद् । अपमपीतरो नदीवच्छ. एतम्मादेव । कम् = उदवम् । तेन छायते ॥

मूर्य वो भी अकूपार दृष्टे है, वह अकुपित (गु.दा) [मात्र वो] वा दूरपार है (वह अमीम है, वाम पार करना व छिन है) गमुद वो भी अकूपार दृष्टे है, वह अमीम है, उमरी भीमा (दा) विद्याम है । बगुआ भी अकूपार (अ-कूप-पार) विद्याम है, अकूपार-पूर्णे म नहीं चरणा (जामामाव ही—हुर्म) व एहार ल अरने भैर्व भी रक्षा वरणा है, अदरा अपनी धीट व हाथा (ए-प्रव मुहुपार) रामा वरणा है, या घैर्व ने योगा है (चूवा) ; वरा (रूर वा दूर दा दीट) = वाह अकूपित वो आर वा (व्याम) वो दृष्टे (च + चूर्व) । १।० १।१८ दृष्ट दुग्धा 'मरी चूर्व' वारा वर्द भी दृष्टे वो जाया है । च = चूर्व, दग्धा विद्या है (चूर्व१) ॥

'शिशीने गृह्णे रथने चिनिके' = निश्चयनि गृह्णे रथनी चिनिश्चयनाय । रथ. = रथित यम् अन्मान् । गृह्णनि धरणीनि इनि वा । गार्णी नधरे इनि वा । 'अग्नि. गुरुर्. गुरुवेनि-रसै.' । गुरुर्दन्. गुरुरने. इनि वा । गुप्रजा. गुप्रजोनि. इनि वा । 'गुप्रादनाः अग्निमन्द्यः विभवन्नाम्' । गुप्रगमनाः ॥ १८ ॥

'रक्षणों के विनाश के लिए अपनी दोनों सीरों को तेज करते हैं' (श० ५।२।९)—वैही वर्ण । रक्षा—जिससे अपनी रक्षा करनी चाहिए, या जो एकान्त में (रहस्) आक्रमण करे (√क्षण), या जो रात में पहुँचे (√नक्ष).

'बलदान अग्नि बलदान् अश्वो के द्वारा ' (श० १०।३।९)—तेज (अग्नि) तेज (शोडो) के द्वारा, या सुन्दर सन्तान (स्वण) * वाले (अग्नि) सुन्दर फूल में उत्पन्न (शोडो) के साथ ।

'तेज चलने वाले (लोग) इस यज्ञ में विश्राम करें' (वा० स० २८।५) सुन्दर (या तेज) गति दाले ॥ ३८ ॥

देवा नो यथा सदमिद्वये असन्नप्रायुक्ते रक्षितारो दिवे-
दिवे ।

(यथा) जिससे (न) हमारे लिए (देवा) देवता लोग (सदम् इत) सदा ही (दिवेदिव) प्रतिदिन (अश्रायुव) विना प्रसाद किये हुए तथा (रक्षितार) रक्षा करते हुए (वृथे) वृद्धि करने में (असन्) लग जायें—लेट लकार (श० १।८।१) ॥

देवा. न. यथा सदा चर्घनाय स्यु । अप्रायुव.=अप्रमाद्यन्त,
रक्षितारश्च अहनि अहनि ।

जिससे देवताण इमारी निरन्तर वृद्धि करें । अप्रायुव = दिना भूलन्त्वक
किये हुए, वे प्रतिदिन रक्षा करें ।

च्यवन् (३८) ऋषि भवति, च्यावयिता स्तोमानाम् ।
'च्यवानम्' इति अपि अस्य निगमा. भवन्ति—

'युव च्यवान सनय यथा रथ पुनर्युवान चरथाय तक्षयु ।'

युवा च्यवानं, सनय = पुराण, यथा रथ पुन, युवानं
चरणाय तत्क्षयु । युवा=प्रयोति कर्माणि । तक्षति. करोति कर्मा ॥

च्यवन एक ऋषि का नाम है जो स्तोत्रों का संपूर्ण करने वाले हैं । 'च्यवान' के हप म भी इस शब्द क वैदिक प्रयोग है—'आप दोनों न वृद्ध च्यवान को फिर युवक बना दिया है रथ वौ तरह उ ह चलने लायक कर दिया है' (श० १०।३।१।४) । सनय = पूराने । (योग वही अथ) । युवा = जो बायों का मिथ्य (सम्पादन √यु) करता है । √तक्ष = करना ।

रज. (३९) रजते । ज्योति. रज. उच्यते । उदक रज.
उच्यते । लोका. रजासि उच्यन्ते । असूगहनी रजसी उच्यते ।
(रजासि चित्रा वि चरन्ति तन्यव —इत्यपि निग्रमो भवति) ।

* अग्नि की सन्तान रक्षण है—तुल० हिरण्यरेता अग्नि, अग्नेरपत्य प्रेषम सुदर्गन् ।

'हरः (४०) हरते: । ज्योतिः हरः उच्यते । ,उदकं हरः उच्यते । लोका हरांसि उच्यन्ते । (असृगहनी हरसी उच्येते । 'प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि'—इत्यपि निगमो भवति ।)

रजस्/रज्ज् (रेगना) से । प्रकाश को रज कहते हैं, जल को रजस् कहते हैं सभी लोकों को रज कहते हैं । रक्त तथा दिन वो भी रज कहते हैं । [रग-विरगे और गरजने वाले स्वेक विभिन्न दिशाओं में जाते हैं (शृ० ५। ६३।३)—यह वैदिक उद्दरण है ।] हर/ह (ले लेना) से । प्रकाश को हर कहते हैं जल को हर कहते हैं, लोडों को हर कहते हैं । [रक्त तथा दिन वो भी हर कहते हैं । 'हे अग्ने, इस प्रकाश को अपने प्रकाश रो मिला दो' (शृ० १०।८७ २५)—यह भी वैदिक उद्दरण है ।]

'जुहुरे वि चितयन्तः' = जुहिरे विचेतयमानाः । व्यन्तः (४२) इत्येष अनेककर्मा । 'पद देवस्य नमसा व्यन्तः'—इति पश्यतिकर्मा । 'वीहि घूर पुरोद्धाशम्'—इति खादतिकर्मा । 'वीतं पानं पयस उस्त्रियाया'—अस्नीतं पिवतं पयस, उस्त्रियायाः । उस्त्रिया इति गोनाम । उस्त्राविष्य, अस्या भोगाः । (उस्त्रा इति च) ॥

'ज्ञानियो ने यज्ञ दिया' (शृ० ५।१९।२) अर्थात् यथार्थ ज्ञानवालों ने यज्ञ दिया । 'थनः' के अनेक अर्थ है । 'देवता के चरण को नमस्कार के द्वारा देखते हुए'" (शृ० ६।१।४)—यही देवते के अर्थ में । हे धीर, इस दिये हुए पदार्थं (पुरोद्धाश) 'तो स्वीकार करो' (शृ० ३।४१।३)—यही जाने के अर्थ में । 'गाय का दूध लाओ, पीओ' (शृ० १।१५।३।४)—(वहीअर्थं) उस्त्रिया = गाय वयोकि इससे भोग्य पदार्थ दिखलते हैं । (उस्त्रा का भी वही अर्थ है) ॥

'त्वामिन्द्र मतिभि. मुते सुनीथासो वसूयव. । गोभिः प्राणा अनुपत ॥' गोभि, कुर्वाणा: अस्तोपत ।

हे इन्द्र, सुद्धि के साथ सोम दीपने वे बाह मुन्दर रहनि करने वाले (सुनीयाः) और पन के इच्छुक (यमुष्यम्) लोगों ने वाणी से तुम्हारी रुक्ति की है । वाणी का [प्रयोग] करते हुए रुक्ति भी ॥

'आ तू पिश्च हृरिमी द्रोस्मस्ये वाशीभिस्तक्षताशमन्मयीभिः ।' आसिश्च हरि द्रो, उपस्ये । द्रुममयस्य । हृरिः सोमो हृरितवर्णः । अयमपीतरो हृरि एतस्मादेव । 'वाशीभिस्तक्षताशमन्मयीभिः' ॥। वाशीभि, अयममयीभि, इति वा । वाशीभिः इति वा ॥ ॥

'सोम को काष्ठगात्र के मध्य में गिराओ, इसे पत्थर की सिल पर तैयार करो' (१०।१०।१।१०) । सुनहवे रस (सोम) को लकड़ियों की गोद म चुमाओ । जो लकड़ी का बना हो । हरि = सोम, हरे रंग का । हरि का यह द्रूपरा अर्थ (वन्दर) भी इसी से आया है ।^{५३} 'पत्थर की सिल पर (या छेनी से) इसे तैयार करो (काटो)'—पत्थर की सिल से, या स्तुतियों से ।

'स शर्वदर्यो विष्णुस्य जन्तोर्मा शिश्रदेवा अपि गुरुर्हृतं न ॥' स उत्सहता यो विष्णुस्य जन्तोऽविष्मस्य । मा शिश्रदेवा । अन्नहृचर्यां । शिश्र श्रथते । अपि गुरुर्हृतं न । सत्य वा यज्ञ वा ॥ १९ ॥

'वही स्वामी सभी जीवों की रक्षा करे, लिङ्ग की पूजा करने वाले हमारे यज्ञ में न आंवे' (अ० ७।२।१५) । यह विभिन्न अर्थात् दुष्ट (विषम) जीवों पर धात्रण करे । लिङ्ग को देवता समझने वाले, अनाधारी—शिश्रन् इत्य (ऐश्वर्य) मे—लोग हमारे श्रृङ्खल अर्थात् सत्य या यज्ञ में प्रवेश न करें ॥ १९ ॥

आ धा ता गच्छानुत्तरा युगानि यन जामय शृणवन्नजामि ।

उप वर्वृहि वृपभाय वाहुभन्यमिच्छस्व सुभगे पर्ति मत् ॥

(४) निष्पत्ति ही (ता) वे (उत्तरा) बायामी (युगानि) युग (आ-गच्छान्) आवेगे (यज्ञ) जब (जामय) स्वजन भी (अजामि) परजन या अज्ञात—जैसा (कृष्णवन्) ड्यवहार करेंगे । (सुभगे) हे सुदर्शि, (वाहुभन्य) अपनी श्वाहो को (वृपभाय) अपने पनि के लिए (उप वर्वृहि=उपर्वृहि) तत्त्विय यना दो भीर (मत्) मेरे अलावे (अन्यम्) द्रूपरे (पतिम्) पनि को (इच्छाम्) चाहो । (अ० १०।१०।१०) ॥

विशेष—श्वारेद के प्रशिद्ध यम यमी सवाद-सूक्त का यह मत्र है । यमी ने यम से रति की याचना की, तो यम ने बस्त्रीदार करते हुए कहा कि यह युग ऐसा नहीं, यह सो सत्ययुग है । एक युग आवेगा जब भाई बहन विवाह कर लेने । इस लिए, हे सु-दर्शि, सुश पति माता बनाओ । मैं तुम्हारे तुल वा ही हूँ । दूसरे कुछ वा पति चुनो । श्वारेद की सामाजिक-व्यवस्था पर इस मत्र से अन्या प्रशास पड़ता है । विद्वी-विद्वान् इस युक्ति को नाटक वा आदि हर मानते हैं ।

आगमिष्यन्ति तानि उत्तराणि युगानि यन जामय वरिष्यन्ति अजामिकमर्णि । जामि अतिरेवनाम । धालिदास्य वा । अम-

* दूसरा रंग होने के बारें बन्दर को हरि कहते हैं । दुर्गाबांदि ने रामाया के नाम से दूसरा रंग दिया है—दिरीदुमुमपक्ष्वा देवितिव्रूपद्वजा ।

मानजातीयस्य वा मिः उपजन । उपधेहि वृपभूय वाहुम् ।
अन्यमिच्छस्व सुभगे पर्ति मत्-इति व्याख्यातम् ॥ २० ॥

बादवाले ऐसे युग बाँधे जब बहनों के न करने थोग्य काम करेंगी ।
जामि = पुनरुक्ति, या गूँड़, या दूसरी जाति । 'मि' प्रत्यय है । उस पति के
लिए बाँहों को तकिया बनाकरो । मेरे अलावे किसी दूसरे को पति बनाकरो—
यह स्पष्ट है ॥ २० ॥

विशेष—बालिङ्ग = मूँख जो घर्षादि कारणों में बालकों के समान सोया
रहता है । असमान=दिसी की बहन दूसरे व्यक्ति के लिए परजाति की ही होती है ।

द्यौमे पिता जनिता नाभिरत्र वन्धुमें माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्बोर्योनिरन्तरत्वा पिता दुहितुगंभंमाधात् ॥

(धौ.) स्वर्गलोक (मे) मेरा (पिता, जनिता) पिता अर्थात् उत्पन्न
करने वाला है, (वन्धु) यहीं पर (नाभिः यन्पुः) नाभि या गर्भं सम्बन्धी
यन्पु लोग हैं, (इय) यह (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी (मे) मेरी (माता) माँ
है । (उत्तानयो) फैले हुए दोनों (चम्बोः) कटोरो अर्थात् गोलांडों के (अन्तः)
बीच मेरी (योनि) गर्भान्ति है, (अत्र) यहीं (पिता) पिता ने (दुहितु) पुत्री को
(गर्भम्) गर्भं (आपात्) धारण कराया । (अ० ११६४।३३) ।

द्यौः मे पिता (४७)=पाता वा, पालयिता वा । जनयिता ।
नाभिः अत्र वन्धुमें माता पृथिवी महती इयम् । वन्धुः सम्बन्ध-
नात् । नाभि, सम्बन्धनात् । नाभ्या सम्बद्धा गर्भा जायन्ते—इत्याहु ।
एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभयः इति आचक्षते, सवन्धवः इति च ।
ज्ञाति, संज्ञानात् । 'उत्तानयोश्चम्बोर्योनिरन्तः'—उत्तानः=उत्तानः,
ऊर्ध्वंतानो वा । तत्र पिता दुहितुः गर्भं दघाति=पञ्जन्यः पृथिव्याः ॥

स्वर्गं मेरा पिता अर्थात् रक्षण (√पा) या पालक है, वही उत्पन्न करने
वाला है । यहीं गर्भं मेरे सम्बन्ध रक्षनेवाले (नाभि) यन्पु लोग हैं, पहले वही
पृथिवी मेरी माँ है; 'यन्पु' एक साध बंधे होने के बारण और 'नाभि' एक बंधन
में होने के बारण (√नह्) । इहां गया है कि गर्भं [मे रहने वाले बच्चे]
माभि (नाल) से बंध हुए उत्पन्न होत है । इसी गे निकट दे सम्बन्धयो
रो मनाभि (ममान नाभि या वन्धनवाले) अदवा राम्यु रहते हैं । योनि =
भृष्णी तरह जानने के आरण । गर्भान्ति दोनों फैले हुए कटोरों (गोलांडों)
मेरी बीच में हैं । उत्तान=चारों ओर फैला हुआ, ऊपर तट पंचाहा हुआ । यहीं
पिता पुत्री को गर्भं देता है अर्थात् गेष पृथिवी को [गर्भं देता है] ॥

[शंयुः (४८) सुखंयुः] 'अथा नः शं योररपो दधात्' रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः । शमनं च रोगाणां, यावनं च भयानाम् । अथापि शंयुः वार्हस्पत्यः उच्यते । 'तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यजपतये'—इत्यपि निगमो भवति । गमनं यज्ञाय गमनं यजपतये ॥

[शान्ति का इच्छुक या सुख का इच्छुक ।] 'अब हम लोगों को पाप-रहित शान्ति और सुख प्रदान कीजिये' (ऋ० १०।१५।४) । 'रपस्' और 'रिप्र' दोनों पाप के पर्याय हैं । (शंयुः =) रोगों को शान्त करनेवाला (√शम्) और भय से बचानेवाला (√यु) । दृहस्पति के वर्षज वो भी शमु बहो हैं—'यज्ञ में जाने के लिए, यज्ञपति के पास जाने के लिए हम शमु की प्रार्थना करते हैं' (मंत्रा० ४।१३।१०, तं० सं० २।३।१०।२, श० शा० १९।१।२६)—यह वैदेश-प्रयोग है । यज्ञ में जाना, यज्ञपति के पास जाना ॥ २१ ॥

चतुर्थ-पाद

अदितिः (४९) अदीना । देवमाता ॥ २२ ॥

अदिति = जो दीन म हो, देवताओं की माता ॥ २२ ॥

अदितिर्दीर्घदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जटिमदितिर्जनित्वम् ॥

अदिति स्वर्गी है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, वह रिता है, वह पुत्र है । सारे देवता तथा पाँच जन (जातियाँ) भी अदिति है, सभी उत्तम षष्ठीं अदिति है तथा होनेवाले (भावी) षष्ठीं भी अदिति है । (ऋ० १।८।१०, या० स० २५।२३; अष० ३।६।७) ।

इत्यदितेः विभूतिमाच्छेऽ । एनानि अदीनानि इति वा ॥
'यमेतिरे भूगवः'—एतिरे०(५०) इति ईर्ति उपसृष्टः अन्यस्तः ॥२३॥

इस प्रशार अदिति की महिमा का वर्णन है, व्यक्ता ये सभी वस्तुयें अदीन (ममद) हैं । 'जिसे भूगुच्छियों ने उदाया' (ऋ० १।१४।३।४) । 'एतिरे० ईर्ति में ईर (उठाना) का अर्थात् (डिल्क) तथा ['ला'] उत्तमयं लगा है ।

विशेष—'एतिरे०' में हो रकार अन्यास से नहीं आये हैं । निन् लकार में 'ला' (आत्मनेर अन्यासूल वहृचन वी विभक्ति) में ल्यान में 'ईरे०' आदेन हो जाता है । देखिये पा० मू० 'एतिरस्तामोरेतिरेष् १।३।४।८) ॥

उत स्मैनं वक्षमध्यि न तायुमनु ग्रोहन्ति द्वितयो भरेषु ।
नीचायमानं जसुर्व न द्वेनं अवश्चाच्छा पशुमध्यं यूयम् ॥

(उन स्म) और (एनम्) इस इन्द्र को (धिनय) मनुष्य लोग (भरेपु) युद्धो म (अनुकोणित) पुकारते हैं (वहनमधि तायु न) जैसे वस्त्र चराने वाले चोर को [पुकारते हैं], या (नीचायमान) नीचे आते हुए और (जमुरि) यूने हुए (इयन न) बाज को जैसे [पुकारते हैं] (अन्धा च) अथवा (पशुपत) पशुयुक्त (थव) प्रशसनीय (यूषम्) पृष्ठ को [पुकारते हैं] । (कृ ४३८१५) ॥

अपि स्म एन वस्त्रमयिमिव = वस्त्रमायिनम् । वस्त्र वस्ते । तायु इति स्तेननाम । सस्त्यानम् अस्मिन्यापत्रमिति नैहता । तस्यते वा स्यात् । अनुब्रोशन्ति क्षितय सग्रामेषु । भर इति सग्रामनाम । भरते वा, हरते वा । नीचायमानम्=नीचै अय-मानम् । नीचै=निचित भवति । उचै=उचित भवति । जस्त-मिव इयेनम् । इयेन शसनीय गच्छति । श्रवश्चाच्छा पशुमध्यम् । श्रवश्च अपि पशुमध्य यूथम् । प्रशसा च यथ च । धन च यूथ च इति वा । यूथ यौते, समायुत भवति ॥

और उस वस्त्रमधि अर्थात् वृषभ चूराने वान के समान । वस्त्र^{वृष} (पहरना) स । तायु और वा पर्याय है वर्णोनि इमम् वाप भरे हुए रहा है—जमा निरक्षणांगे वा बहना है । अपया^{वृष} (वाता वाना) वा है । मनुष्य लोग यद्दो म उम पुकारते हैं । भर युठ वा पर्याय है । वृष् (पारन बरना) वा^{वृष} (हरण बरना) है । नीचायमान=नीचै वी और वान हूँ । नीचै=नीचे की ओर जाना । उचै=उचित की ओर जाना । यौ हूँ (जर्त) वान गा । इयन=जो प्रशसनीय दण ऐ खल । इयना पशुयुक्त प्रशसनीय त्रृष्ण वा [पुकारते हैं] । प्रशसनीय पशु ममूँ हो । प्रशसा ताना गमूँ हो । या धन तथा समूह हो । यूथ^{वृष} (जारना) से वर्णोनि या पर्याय (मधिक्षण) होता है ॥

'इन्धान एन जरते व्याधी' = गृजाति । मन्दी (५३) मन्दने मनुतिर्मनं । 'प्र मन्दिन पिनुमदचंता वर' = प्राचंत मन्दिने नितुमद वर । गी (५४) व्याधान ॥ २४ ॥

प्रशसन वस्त्र यूथ मृग वृष्टि वाना मनुष्य उमरी नुति वाना है

१ इन के अनुसार जन्मवा अर्हे है बड़म् अद्याइ दैव जने पर वात उद नर्स राहन् और नीचै वृष्टि वृष्टि वाना है । नीचै यह अमानु अर्हे है वर्णोनि दैवा इयन वाट अभि प्रवर्त अभि वाना है । इमल क्षय कुम इत्यादा मन्द ।

(क्र० १०।४५।१) = प्रशसा करता है । मन्दो (प्रशंसय) = स्तुत्यथंक् √ मन्द से । 'प्रशंसनीय (इह) की बन्धुक वाणी में स्तुति करो' (क्र० ११०।१।१) । [वही अर्थ ।] यो की व्याख्या हो चुकी है ॥ २४ ॥

'अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इथा चन्द्रमसो गृहे ॥' अव ह गोः सममंसत आदित्यरशमयः स्वं नाम अपीच्यम् अपगतम् । अपचितम्—अपिहितम्—अन्तर्हितम् । अमुत्र चन्द्रमसो गृहे ॥

'सचमुच इस स्थान पर [लोगों ने] किरणों को (गोः) सूर्य से पूरक् (अपीच्यम्) ही समझा है; यहाँ पर चन्द्रमा के घर मे' (क्र० १।८।१५) ॥ इस स्थान पर सचमुच गो अर्थात् सूर्यकिरणों को अपने हृप मे पूरक् या असम्बद्ध समझे । हटाया हुआ, अलग या छिपा हुआ । वहाँ चन्द्रमा के घर मे ॥

गातुः (५५) व्याख्यातः (४।२१) ['गातुं कुण्वन्लुपसो जनाय'—इत्यपि निगमो भवति] ॥ दंसयः (५६) कर्माणि । दंसयन्ति एनानि । 'कुत्साय मन्मन्त्राश्च दंसयः' इत्यपि निगमो भवति ॥ 'स त्रूताव नैनमश्रोत्यंहतिः' । स त्रूताव । नैनम् अंहतिः अश्वोति । अंहतिः च, अंहः च, अंहुः च हन्ते निष्ठोपधात् विपरीतात् ॥

'गातु' की व्याख्या हो चुकी है (निहक ४।२१) । ['उपाश्रो ने मनुष्य मे गति (उत्तरम्) दर दी' (क्र० ४।५।१।१)—यह भी वंदिक-प्रयोग है ।] दंसयः = कार्य, क्योहि लोग हरहे समाज बरते हैं (√दंस्) । 'विशान के लिए वासी को (कृपि कर्ता को), [सफल] समझते हुए मेघ मे निवास करने वाले (अहा) [जल को तुमने छोड़ा]' (क्र० १०।१।३।१।१)—यह भी वंदिक उदारण है । 'वहू बढ़ाता है, उसके पास पाप नहीं पहुँचता (ध्यास वर्ता)'—(क्र० १।९।१।२) । यह बहुता है । उसके पास पाप नहीं पहुँचता है । अहूनि, अह और अहु दाद्वृहन से बने हैं त्रिसमे उपया को (हन् के अ को) निवाल कर [हन् वचो का] त्रिपर्यंत कर दिया जाता है (=हन> अहू> अनहू> अमहू=अह) ॥

पिशेष—तूताव = गुणाव √तु (चड़ाना) । देविये— तुजाशीनों पीपोः-भ्यागस्य (पा० गु० ६।१।७) । निष्ठौराष्ट्र = त्रिसभी दापा निष्ठू चुक्षी हों । 'अक्षरमूपशातो निष्ठूप्य लाली इत्या, तनो हृषारनैरारो विश्वंदेव मनः'—तुग्न ।

'यहस्यते चयस इत्प्रियाएम्'—यहस्यते यंत् चातयसि देव-पीयुम् । पीयतिः हिंसाकर्म ॥ वियुते (५९) घावापृथिव्याँ ।

वियवनात् । 'समान्या वियुते दूरे अन्ते' । समान समानमात्रं भवति । मात्रा मानाद् । दूर व्याख्यातम् (३।१९) । अन्तः अतते ॥ ऋधक् (६०) इति पृथग्भावस्य प्रवचन भवति । अथापि क्रृष्णोत्यर्थं दृश्यते—'ऋधगया ऋधगुताश्चमिष्टा.' ऋधनुवन् अयाक्षीः ऋधनुवन् अशमिष्टा. इति च ॥

'हे बहस्यते ! आप हिस्क का विनाश करते हैं' (ऋ० १।९०५) = हे यूहस्यते, जब आप देवताओं के हिस्क (यज्ञ करनेवाले, स्वभोग प्रणान व्यक्ति) को मारते हैं । √वीय = मारना । वियुते = दावापृथिवी क्योंकि एक दूसरे से पुयक् है । एक ही तरह से स्वर्ग और पृथिवी दूर पर समान होते हैं' (ऋ० ३।५४।३) । समान = जिसकी नाप (मात्रा) एक समान हो । मात्रा = जो नापी जाय । 'दूर' की व्याख्या हो चुकी है (निष्कृत ३।११) । अन्त चक्र (चलना) से ॥ 'ऋधक्' मिस्रता दिल्लाने के बद्य में होता है । दृढ़ि के बद्य में भी इसका प्रयोग देखा जाता है—'समृद्ध होकर तुमने यह किया । अथा ।' और समृद्ध होकर [यज्ञ की] शान्ति की' (वा० ८० ८।२०, वा० ८० ३।१०) = समृद्ध होते हुए यह किया; समृद्ध होते हुए ही थम किया ।

'अस्या' (६१) इति च अस्य (६२) इति च उदात्तं प्रथमादेशे, अनुदात्तम् अन्वादेशे । तीव्रायंतरम् उदात्तम् । अल्पीयोर्थंतरम् अनुदात्तम् ॥

'अस्या' और 'अस्य' इन दोनों में, पहली बार बहने वे समय, उदात्तं स्वर होता है । दूसरी बार बहने के समय (द्वितीय-प्रयोग) अनुदात्त स्वर होता है । अधिक दल दिये गये अर्थ में उदात्त तथा वाम बल दिये गये अर्थ में अनुदात्त होता है । 'बकरे नी सवारी बरने वाले [हे पूर्ण], इसे पाने के लिए, प्रोप न करते हुए, और दान करते हुए हमारे पास आओ' ।

१. दुर्गाचार्य ने इस श्लोक के दिल्लाने के लिए निष्प्रकृत्या देकर व्याख्या दी है—
यदिन्द्र दिवि पौर्यं द्यूपस्पदा र्वे स्त्रैने यम भासि ।
जहाँ नो यद्मवमे नियुत्वान्सदोत्ता लाहि गिरैयो मरडिं ॥ (४।४०।१)

(अ० १।१३८।५) [हे वजाश्व, कीनिमान् बतो] । इसे पाने के लिए हमारे पास आओ । अहेडपान = घोष न करते हुए । ररिवान् (दयालु) में √अ (देना) का अभ्यास हुआ है । 'वजाश्व' यह गूणा को कहा गया है—करने को घोड़ा (बाहन) समझने वाले । करने ही उनके दीड़ा है (√अ॒) है ॥

विशेष—प्रथमादेश = किसी वाक्द का पहले-पहल प्रयोग । अन्तवादेश = एक बार प्रयोग कर लेने के बाद दूसरी बार का प्रयोग । उपर्युक्त उदाहरण में 'अस्या' का दूसरा वर्ण (Syllable) उदात्त है तथा इसे ऋग्वेद की रीति से अस्याः लिखेंगे । भगले उदाहरण में दोनों वर्ण अनुदात्त होने से अस्याः होगा ।

अथ अनुदात्तम् । 'दीर्घप्युरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्' । दीर्घप्युः अस्याः यः पतिः, जीवतु स शरदः शतम् । शरद्=शृता अस्याम् औपद्यो भवन्ति, शीर्णः आपः इति वा । अस्य इति अस्याः इत्येतेन व्याख्यातम् ॥ २५ ॥

अब अनुदात्त ['अस्या' का उदाहरण लें] — 'उसका पति जो दीर्घांगु है, सो शरद-ऋतुमें तक जीवित रहे' (अ० १०।८।४९) — वही अर्थ । शरद् = जिसमें बीघे पक जाते हैं या जल बढ़ा रहता है । 'अस्या' से ही 'अस्य' की भी व्याख्या हो गई ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यक्षः ।

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यापरयं विश्वति सप्तपुत्रम् ॥

(अस्य) इस (वामस्य) भद्र भौर (पलितस्य) पालन करनेवाले (होतुः) होता वा, (तस्य) उसका (मध्यमः भ्राता) मंत्रला भाई (अस्तः अस्ति) विद्युत् है; (अस्य) इसके (तृतीयो भ्राता) तीसरे भाई यी (पृतपृष्ठः) बीठ दी की बनी है, (अतः) यहाँ (सप्तपुत्रम्) सात पुत्रों वाले (विश्वनिम्) संतार के स्वामी को (अपश्यम्) मिले देला (अ० १।१६।४।१) ॥

अस्य वामस्य = वननीयस्य । पलितस्य = पालयितुः । होतुः = ह्रातस्यस्य । तस्य भ्राता मध्यमोऽस्ति अस्तनः । भ्राता भरते: हरतिकामणः । हरते भरगम् । भरतंव्यः भवति इति वा । तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठः अस्य अयमस्मिः । तत्रापरयं भवंस्य पातारं वा पालयितारं वा विश्वतिम् । सप्तपुत्रं = सप्तपुत्रम् । सर्पणपुत्रम् इति वा । सप्त सप्ता संस्या । सप्त आदित्यरद्दमयः इति वदन्ति ॥ २६ ॥

इग वाम अर्थात् गम्भीनीय वा । वलिन अर्थात् पालन करने वाले वा । होता अर्थात् पुरारने योग्य (पुरप) वा । विद्युत् उग्रा मंत्रला भाई

है। भ्राता वृभृ = हरण करना, से। वह [पैतृक-सम्पति का] एक भाग ले, लेता है। या भरण-पोषण करने लायक है। इसका तीसरा भाई घी की पीठ वाला है—वह अग्नि है^१। वहाँ पर मैंने सबों की रक्षा या पालन करने-वाले सासार के स्वामी को देखा है। सात पुत्र वाले = सातवें पुत्र वाले को या सर्वंतीमामी पुत्रों वाले। सप्त = बढ़ी हुई ($\sqrt{\text{सृष्ट}}$) सत्या। कहते हैं कि सूर्य की सात किरणें हैं॥ २६॥

सप्त युज्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्यु॥

(एकवक्त रथम्) एक पहिये वाले रथ को (सप्त) सात [किरणें] (युज्जन्ति) जोतनी हैं, (सप्तनामा) सात नामों वाला (एकः अश्वः) एक घोड़ा (वहति) उसे खोचता है। (चक्रम्) पहिया (त्रिनाभि) तीन नाभियों वाला, (अजरम्) अनश्वर और (अनवंम्) अश्विहत है (यत्र) जहाँ (इमा-नि) ये (विश्वा-नि) सारे (भुवना-नि) सासार (धधि तस्यु) ठहरे हैं। (अट० ११६४१२) ॥

सप्त युज्जन्ति रथम् एकचक्रम् = एकचारिणम्। चक्रं चकते-वा, चरते-वा, क्रामते-वा। एक. अश्व. वहति सप्तनामा = आदित्य। सप्त अस्मै रथमय. रसान् अभिसनामयन्ति। सप्त एनम् ऋष्य पत्नुवन्ति इति वा। इदमपीतरत् नाम एतस्मात् एव। अभिसनामात्॥

सातो एक पहिये वाले रथ को अर्थात् एक (पहिये) रट जलने वाले (रथ) को जोतते हैं। चक्र-चक्र (हटाना) से, या-चर (चलना) से, या-क्रम (जाना) से। सात नामों वाला एक घोड़ा खोचता है अर्थात् आदित्य। इसके लिए सात विरेण्ये रसों को ले जाती है। अर्थवा सात ऋषि इयकी स्तुति करते हैं। यह दूसरे अर्थं वाला 'नाम' भी इसी से बना है ($\sqrt{\text{नम्}}$) वयोऽसि खींचा जाना है॥

विशेष—नाम अभिसनामात्—नाम (सत्ता) भी अपने अर्थं का वो पराने के लिए श्रियापद के मुख्य या गोण अर्थं में लिया जाता है—दुर्गं॥

संवत्सरप्रवानः उत्तरोऽर्धचर्चं। त्रिनाभि चक्रम्। ऋतुः संवत्सर-ग्रीष्म., वर्षा., हेमन्त इति। संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि। ग्रीष्म. = ग्रस्यन्ते अस्मिन् रमा। वर्षा. = वर्षति आसु पर्जन्य।

१. द्यूते वायुदे मन्त्रे—रातु, आदित्य, अग्निः—इत्येव परिस्तर्याय वायोररुपी-योद्धक्षिण्यंति—दुर्गां।

हेमन्त् = हिमवान् । हिमं पुनः हन्ते: वा, हिनोते: वा । अजरम् = अजरग्रहमणिम् । अनर्वम् = अप्रत्यूतम् अन्यस्मिन् । यत्र इमानि सर्वीणि भूतानि अभिसंतिष्ठन्ते, तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति ॥

शब्दों के उत्तरार्थ में संवत्सर की प्रधानता है—तीन नाभियोवाला पहिया अर्थात् तीन शृङ्गओं वाला वर्ण = श्रीष्ट, वर्षा, हेमन्त । संवत्सर = जिसमें सभी जीव एक साथ निवास करते हैं । श्रीष्ट = जिसमें रसों की खींचा जाय । वर्षा = जल में धूप दरसे । हेमन्त = हिम से भरा हुआ । हिम भी √हन् (मारना) से पा, √हि (शोध्रता करना) से । बजर = भिसका न नाश होना वर्म है अनर्व = दूसरे पर आश्रय न लेने वाला । यहाँ ये सारे जीव ठहरते हैं, उस संवत्सर की सब तरह से स्तुति करता है—॥

‘पञ्चारे चक्रे परि वर्तमाने’—इति पञ्चतुंतया । पञ्चतंवः संवत्सरस्य इति च व्राह्मणम् । हेमन्तशिशिरसमासेन । ‘पञ्चर आदुर्पितम्’—इति पञ्चतुंतया । अराः प्रत्यूताः नाभौ । पट् पुनः सहते: । ‘द्वादशारं न हि तज्जराय’, ‘द्वादशप्रवयश्चक्रमेकम्’—इति मासानाम् । मासाः मानात् । प्रविः प्रहितः भवति ॥

‘पौव बराओं (Spokes) वाले पहिये के चल पढ़ने पर...’ (ऋ० १।१६४।१३)—यहाँ पौव शृङ्गओं के होने से । व्राह्मण में भी कहा है—वर्ष में पौव शृङ्गयें हैं (तुल० ऐ० व्रा० १।१, श० व्रा० १।३।४।१)—हेमन्त और पिशिर को एक मानने पर । ‘छह बराओं वाले (रथ) में ही अवित किया हुआ कहते हैं’ (ऋ० १।१६४।१२)—यहाँ छह शृङ्गओं के होने से । अरायें (घुरे) नामि में अन्वर्भूत हैं । पट् √सह (सहना) से । ‘वह बारह बराओं वाला कभी मष्ट होने की नहीं है’ (ऋ० १।१६४।१), ‘बारह घुरे और एक पहिया ...’ (ऋ० १।१६४।४८)—इसमें मासों का वर्णन है । मास नापने के कारण (√मा) । [महीने वर्ष को नापते हैं] प्रवि (घुरा) यह सुरक्षित होता है ॥

‘तस्मिन्त्साकं विशता न शङ्कवोर्पिताः परिन्नं चलाचलास ।’ परिः च ह वै श्रीणि च शतानि संवत्सरस्य अहोरंग्रा इति च व्राह्मणम् । समासेन ॥

उसमे एक साथ ही मानो तीन सौ छड़े (Spokes) और एक दूसरे के पीछे चलनेवाली साठ अधिक (छठे) रखी गई हैं (अ० ११६४४५) । प्राह्ण मे भी कहा है कि साठ और सीन सौ दिन (३६० दिन) एक वर्ष मे होते हैं । [दिन और रात को] एक मे लिया जाता है ॥

विशेष—तस्मिन् + सारम्=तस्मिन्तसारम् । देखिये पा० सू० 'नश्व' (दा० ३०) जिसके अनुसार पदान्त न् के बाद स् होने से धुट (ध-त) का आगम हो जाता है । अप्रेक्षी मे इसे (Clide sound) कहते हैं । Cf-
humble > humble, लैटिन-humilis इत्यादि । यही बीच मे b आया है । वेद मे चान्द्रवर्ष के ३६० दिनो की गणना का उल्लेख महत्वपूर्ण है ।

'सप्त शतानि विशतिश्च तस्युः' । 'सप्त च वै शतानि विशतिश्च संबत्तरस्य अहोरात्रा' इति च प्राह्णम् । विभागेन विभागेन ॥ २७ ॥

'सात सौ और बीस हुए ये' (अ० ११६४११) । प्राह्ण मे भी है (ऐ० २१७)—'सात-सौ-बीस दिन और रात साल मे होते हैं ।' [यही दिन और र त] अलग-अलग लिये गये हैं ॥ २७ ॥

विशेष—अध्याय के अंत मे 'विभागेन' की द्वितीक्त हूई है ॥ २७ ॥

॥ इति निष्ठते चतुर्थोऽध्यायः ॥

हिन्दी-निरुक्त

सप्तम अध्याय

प्रथम-पाद

अथातो दैवतम् । तत् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीना
देवतानां तत् दैवतमिति आचक्षते । सा एषा देवतोपरोक्षा ।
यत्कामः कृष्णियस्या देवतायाम् आर्थपत्यम् इच्छन् स्तुति प्रयुड्क्ते,
तदेवतः स मनो भवति । ता त्रिविद्या कृच—परोक्षकृता:,
प्रत्यक्षकृता:, आध्यात्मिक्य च । तत्र परोक्षकृता सर्वाभि.
नामविभक्तिभि युज्यन्ते, प्रयमपुरुषैश्च आख्यातस्य ॥ १ ॥

अब देवन-काण्ड [आरम्भ होता है] । जिन नामों से मुहूर्घण से
देवताओं का वर्णन है [उनका संग्रह] 'देवत' कहलाता है । आगे (इस
काण्ड में) देवताओं की पूरी परीक्षा (वर्णन) है । [किसी मन्त्र में] कोई
कामना लेकर, कोई कृष्णिय, जिस देवता का प्रधान अर्थं चाहता हुआ, स्तुति
करता है—उसी देवता का वह मन्त्र होता है । तो, ये कृचार्य (मन्त्र) तीन
संरह की है—परोक्षत कही गई, प्रत्यक्षत कही गई और स्वयं कही गई ।

(१) परोक्षत कही गई कृचार्य नाम की सभी विभक्तियों में उपया किया
के प्रयम (= अर्थ) पुरुष में रहती है जैसे—॥ १ ॥

'इन्द्रो दिव, इन्द्र ईरो पृथिव्या' । 'इन्द्रमिद गायिनो वृहत्'
'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविपाणा' । 'इन्द्राय साम गायत' । 'नेन्द्र-
द्धते पवते धाम किचन' । 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्' । 'इन्द्रे
कामा अयसत' इति ॥

'इन्द्र स्वर्गं और पृथ्वी पर शासन करते हैं' (कृ० १०।८९।१०),
'गायक गण इन्द्र की उच्च द्वर से ...' (कृ० १३।१) । 'इन्द्र के साथ ये
कर्मेण तृत्सुण्ण ...' (कृ० ७।१८।१५) । 'इन्द्र के लिए सूप गांवो' (कृ० ८।
१८।१) । 'इन्द्र के विना कोई ज्योति स्थान पवित्र नहीं' (कृ० १।६९।६) ।
'मैं अब इन्द्र के थीरमों को बहूंगा' (कृ० १।३२।१) । 'इन्द्रमें कामनाये
स्थिर हैं' ॥

विशेष—इन उद्धरणों में प्रथमा, द्वितीया आदि में उदाहरण दिखाकर परोक्ष मे कही गई ऋचाओं का स्पष्टीकरण हुआ है ॥

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगः । त्वमिति च एतेन सर्वनाम्ना । 'त्वमिन्द्र बलादधि' । 'वि न इन्द्र मृधो जहि' इति । अथापि प्रत्यक्षकृता स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । 'मा चिदन्यद्वि शसत' । 'कण्वा अभि प्र गायत' । 'उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्' इति ।

(१) प्रत्यक्षत कही गई ऋचायें मध्यमपुरुष मे होती हैं = 'तुम' सर्वनाम से संयुक्त रहती हैं जैसे—'हे इन्द्र, तुम बल से उत्पन्न...' (अ० १०।१५॥१२) 'हे इन्द्र हमारे शत्रुओं को मारो' (अ० १०।१५॥१४) ।

कहीं कहीं स्तुति बरनेवाले प्रत्यक्षत कहे जाते हैं और स्तोत्राद्य वस्तुएं परोक्षत कही जाती हैं जैसे—'दूसरो वी स्तुति मत करो' (क्र० ८।१।१); 'हे कप्ववशवाले, माओ' (अ० १।३७।१) है कुतिरो, पहुँचो, सावधान रहो' (अ० ३।५॥३।११) ॥

अथ आध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा, अहमिति च एतेन सर्वनाम्ना । यथा एतत्—'इन्द्रो वैकुण्ठ' । लवसूक्तम् । वागाभ्युणीयम् इति ॥ २ ॥

(२) स्वयं कही गई ऋचायें उत्तम पूरुष मे होती हैं = 'मैं' सर्वनाम से संयुक्त रहती हैं जैसे—'इन्द्रो वैकुण्ठ' से आरम्भ होनवाला सूक्त (अ० १०।४८), लव सूक्त (१०।११९) वागाभ्युणीय-सूक्त (१०।१२५) ॥ २ ॥

—**विशेष**—इन सूक्तों मे भगव देवता स्वयं बोलते हैं । उदाहरण के लिए वागाभ्युणीय सूक्त ('वावसूक्त' या 'देवीसूक्त') मे—अह रहेभिवंसुभिश्वरामि ।

परोक्षकृता प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिषु, अल्पश आध्यात्मिका । अथापि स्तुतिरेव, नाशीर्वाद—'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रबोचम्' इति यथा एतस्मिन् सूक्ते । अथापि आशीर्वाद, न स्तुति.—'सुचक्षा अहम् अक्षीभ्या भूयासम्, सुवर्चा मुग्वेन, सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' इति । तदेतत् बहुलम् आध्ययवे यज्ञेषु च मन्त्रेषु ।

परोक्षनः और प्रत्यक्षन. कही गई श्रृंखायें बहुत अधिक हैं, स्वयं कही गई श्रृंखायें बहुत कमे हैं।

(१) [इसी श्रृंखा में देवता की] स्तुति ही होती है, कामनाएँ [का वर्णन] नहीं जैसे—‘मैं अब इन्द्र के बीर कमों बो कहूँगा’ (श० १३२१)। इस (मंथनाले) मूल गे ।

(२) कही-कही कामना ही रहती है, स्तुति नहीं जैसे—‘मैं आंखों से अच्छी तरह देखूँ, मुख से सुन्दर ज्योतिवाला बनूँ, बानों से अच्छी तरह मुजू़ू’ (मानव द० १११२५)। ऐसा अधिकाशनः यजुर्वेद में भीर यात्रिक-मंत्रों में होता है ॥

अथापि शपथाभिशापी—‘अद्यां मुरीय यदि यातुषानो अस्मि’। ‘अवा स वीरैर्देशभिविष्यूयाः’ इति । अथापि कस्यचिद् भावस्य आचिस्यासा—‘न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि’ । ‘तम आसीत्तमसा गृह्यमन्त्रे’ । अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात्—‘सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्’ । ‘न विजानामि यदि वेदमस्मि’ इति । अथापि निन्दाप्रशंसे—‘केवलाघो भवति केवलादी’ । ‘भोजस्येदं पुष्करिणीव वेशम्’ इति । एवम् अश्मूके द्यूतनिन्दा च कृपिप्रशंसा च । एवम् उच्चावचैः अभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्ट्यः भवन्ति ॥ ३ ॥

(३) कही-कही शपथ खाता और अभिशाप देता भी रहता है—‘यदि मैं मायावी राशन हूँ तो आज ही मरूँ’ (श० ७।१०४।१५); ‘नहीं तो उसके दूर घोर पुत्र अलग हो जायें = मर जायें’ (श० ७।१०४।१५) ।

(४) कही-कही इसी अवश्या-विद्येय के वर्णन की इच्छा रहती है—‘उस शपथ न मृत्यु यो और न अमरता’ (श० १०।१२।१२); ‘पहले देवत अन्धकार में अन्यतार छिरा हुआ था’ (श० १०।१२।१३) ।

(५) कही-कही इसी अवश्या-विद्येय से ज्ञान उत्तम होता है—‘ये मुख्य देवता आओ ऐसा उछे कि फिर न लीडें’ (श० १०।१५।४); ‘मैं नहीं आनंदा कि यहा मैं यही हूँ’ (श० १।१६।४७) ।

(६) कही-कही निन्दा और प्रज्ञाता रहती है जैसे—‘अलेना जानेवाला ही एकमात्र पाती है’ (द० १०।११।३४); ‘विज्ञानेवाले (दानो) का यह

मानों कमलों से भरा सरोवर है' (१०।१०।७।१०) । इसी प्रकार अथ-सूक्त (१०।३४) में चूत की निन्दा और इषि की प्रशस्ता हुई है ।

इस प्रकार मन्त्र के विषय में इषियों की दृष्टि भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से रखती है ॥ ३ ॥

तत् ये अनादिगृदेवता. मन्त्राः, तेषु देवतोपपरीक्षा । यदे-
वतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा, तदेवता. भवन्ति । अथान्यम्
यज्ञात्-प्राजापत्या. इति याज्ञिकाः, नाराशंसा. इति नैरत्ता ।
अपि वा, सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वा । अस्ति हि
आचारो वहुल लोके—देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यम्, पितृदे-
वत्यम् । याज्ञदेवतो मन्य इति । अगि हि, अदेवता. देवतावत्,
स्तूयन्ते । यथा, अश्वप्रभूतीनि ओपधिपर्यन्तानि । अयाति अर्था-
द्वन्द्वानि ॥

जिन मन्त्रों में देवता [१] । उत्तेषण मही, उनके देवता वा निर्णय करते हैं ।
जिन देवता वा दग्ध हो, वा दग्ध वा गृह भी हो—उन्हीं देवता के ये (मन) होते हैं । यहाँ में भिन्न-स्थानों में—पातिकों पर अनुपार इत्यापति [मन २]
देवता होते हैं, निरन्द्रियों पर अनुपार नराशम । अद्यता ये ऐसिए देवता
या देवताओं के गम्भीरे [शिर] हों । समाज में गम्भीर या इष्टहार
देवते में द्वारा है इस देवता के लिए, अनिवार्ये शिरों के शिर
परिव वात् [दीर्घी है] । मन उप देवता वा है शिरों शिर दार [२],
रित्यु अ-देवता की रक्तिभी देवता के गम्भीर होनी है । और—पोटे में शिर
धोयाय तर (निष्ठ ४।१।१।२२) और खाट जाके भी (निष्ठ ५।१।२९।११) ॥

न न भव्येत आगम्बून् द्य अर्यान् देवनानाम्, प्रत्यथ-
देवत्यम् एतद् भवति । माहानाम्यान् देवनाया. एव. आत्मा दृष्ट्या
न्त्यमते । एव अत्मन अन्ये देवा. प्रत्यत्तृनि भवति । अरि-
न, मत्त्वाना प्रत्यतिमूर्मभि श्रुत्य. मनुवन्नि देवाह । प्रत्यति-
रावनाम्याद्य दत्तगेनरजन्मान. नवनि । दत्तगेनप्रत्यत्य, रम-
जन्मान., आत्मजन्मान. । आत्मा एव एष रघु भवति, आत्मा
अश्व, आत्मा आद्यम्, आत्मा दृष्टा., आत्मा गर्व देवत्य
देवत्य ॥ ४ ॥

कोई देवता-विषयक वर्ण को विलक्षण न मान से, यह तो प्रत्यक्ष रूप से देखने की जीड़ है—देवता की बड़ी महिमा के कारण एक ही आत्मा की स्तुति (वर्णन) भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। अन्य देवता एक ही आत्मा के भिन्न भिन्न अंग है। अथवा, जैसा लोग कहते हैं—वस्तुओं (नामों) की प्रकृति (धातु) की विभिन्नता के कारण और उसकी संबंधापक्षता के कारण त्रृप्ति गण स्तुति करते हैं। वे एक दूसरे से जन्म पाने हैं (जैसे—दश > बदिति > दश), वे एक दूसरे की प्रकृति (वर्ततिस्थान) हैं। उनका जन्म कर्म से भी और आत्मा से भी होता है; आत्मा ही इनका रूप है, आत्मा शस्त्र है, आत्मा वाण है—आत्मा ही देवताओं का सब कुछ है ॥ ४ ॥

द्वितीय-पाद

तिस्र. एव देवता—इति नैरुक्ता। अग्नि. पृथिवीस्थानः
वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, गूर्हो घुस्थान्। तासां गाहा-
भाग्यात् एकैकस्या। अपि वहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा,
कर्मपूर्यक्त्वात्। यथा होता, अव्यर्थुः, ब्रह्मा, उदगाता इति, अपि
एकस्य सतः। अपि वा, पृथगेव स्युः, पृथक् हि स्तुतयः भवन्ति।
तथा अभिधानानि ॥

निष्कृतारों के मध्य से तीन ही देवता हैं—(१) पृथ्वी जो रहनेवाला
अग्नि, (२) अम्तरिक्ष में रहनेवाला वायु या इन्द्र, (३) स्वर्ण में रहनेवाला
मूर्य । इनकी बड़ी महिमा के कारण इनमें प्रत्येक के बहुत से नाम हैं। अथवा
उर्म अलग-अलग होने के कारण,—जैसे एक को ही होना, अध्यर्थ, दक्षा और
उदगाता कहते हैं। अथवा, ये अलग-अलग ही हैं क्योंकि इतुनियाँ और उनके
नाम भी अलग-अलग हैं ॥

यथो एतत्—‘कर्मपूर्यक्त्वात्’ इति, वहवोऽपि विभज्य
कर्माणि कुर्युः। तत्र संस्थानैकत्वं, संभोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम्।
यथा, पृथिव्या मनुष्या, पशुवो, देवाः इति स्थानैकत्वं संभोगै-
कत्वं च दृश्यते। यथा, पृथिव्या पर्जन्येन च, वाय्वादित्याभ्या
च संभोगः। अग्निना च इतरस्य लोकस्य। तत्र एतत्
नरराष्ट्रमिव ॥ ५ ॥

यह जो कहा है ‘उर्म अलग-अलग होने के कारण [एक के अनेक नाम
है]’, तो बहुत्ये लोग भी सो आपस में बैट्टर बे हो कर सहते हैं?

ऐसी दशा में उन्हें अधिकार-देव और भोग क्षेत्र की समानता देखनी चाहिए जैसे मनुष्यों, पशुओं और देवताओं का पृथ्वी-विषयक अधिकार-साम्य और भोग-साम्य देखते हैं। पुन मेघ द्वारा पृथ्वी का भोग, वायु और आदित्य के साथ [देखते हैं], इन्हु दूसरे लोग का [भोग] अग्नि के साथ। यहाँ ये सभी मनुष्यों के राज्य के समान ही है ॥ ५ ॥

अय आकारचिन्तन देवतानाम् । पुरुषविधा. स्यु इत्ये-
कम् । चेतनावद्वत् हि स्तुतयो भवन्ति, तथा अभिधानानि ।
अथापि पौरुषविधिकै. अङ्गै. सस्तूयन्ते—‘ऋष्वा त इन्द्र स्यवि-
रस्य वाहू’। ‘यत्सगृभ्णा मधवन् काशिरिते’। अथापि पौरुप-
विधिकै. द्रव्यसयोगै—‘आ द्वाभ्या हृसिभ्यामिन्द्र याहि’। ‘कल्या-
णीजर्या सुरण गृहे ते’। अथापि पौरुषविधिकै कर्मभि—‘अढोन्द्र
पिव च प्रस्त्यितस्य’। ‘आश्रुत्वर्णं श्रुधी हवम्’ ॥

इदं देवताभों का स्वरूप वा वर्णन होगा। कुछ स्तोत्रों के विचार से पै
मनुष्य का समान है यथोऽि (१) इन्ही रत्नियों और सम्बोधन भी वरन
जीवों के समान होते हैं। पुन्, (२) इन्ही रत्नियों मनुष्यों के अङ्गों से
(इहै) समुक्त वरने हाती है जैसे—‘ह इङ्ग, बलवान् ये तुम्हारे हाथ भट्ठे
हैं वे तेरी कलाहि हैं’ (अ० ३४७३८), ‘ह यनरनि, जिस [आवान्युविशि] वो तुमन वरहा
है वे तेरी कलाहि हैं’ (अ० ३१३०५)। पुन्, (३) मनुष्यों की वस्तुओं के
मनुक्त वरने [इन्ही रत्नियों हानी है] जैस—‘ह इङ्ग, दो पोटा वर भाजो’
(अ० २१८१४), ‘तुम्हारे घर म गु-दरी रत्नों और रसगोद वस्तुयें हैं (अ०
३१५३१६)। पुन् (४) मनुष्यों के वामों से समुक्त वरने [रत्नि होनी है]
जैस—‘८८ रघु (गाम), वो, इङ्ग, निया भाजो तुम’ (अ० १०११११),
‘दे गुनन आयत बानवान, मरी आवाज गुना’ (अ० १११०१) ॥

अपुरुषविधा स्यु—दत्यपरम् । अपि तु यद् दृश्यते, ॥ ६ ॥
अपुरुषविधि तन् । यया, अग्नि, वायु, आदित्य, पूर्णिमा, चन्द्र-
मा. इति ॥

कुछ स्तोत्रों के विचार म [दत्या] मनुष्यों के समान नहीं है यथोऽि
(इन्हें विद्यम) जो दत्यन् है, ॥ ६ ॥ हह मनुष्यों वा मिथुन है जैस—भूमि,
वायु, आदित्य, पूर्णि, चन्द्रमा दत्यादि ॥

यथो एतत्—‘चितनावद्वत् हि स्तुतयो भवन्ति’ इति, अचेतनानि अपि एव स्तूयन्ते यथा—अक्षप्रभूतीनि ओपधिपर्यन्तानि ॥ यथो अतत्—‘पौरुषविधिकै. अङ्गैः सस्तूयन्ते’ इति, अचेतनेषु अपि एतद् भवति—‘अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभि.’ इति ग्रावस्तुति. ॥ यथो एतत्—‘पौरुषविधिकै. द्रव्यसयोगै’ इति, एतदपि तादृशमेव—‘सुखं रथ युयुजे सिन्वुरश्चिनम्’ इति नदीस्तुति. ॥ यथो एतत्—‘पौरुषविधिकै. कर्मभि.’ इति एतदपि तादृशमेव—‘होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत्’ इति ग्रावस्तुति. एव ॥

यह जो कहा कि ‘अचेतन के समान स्तुतियाँ होती हैं’, वैसी तो अचेतन की भी स्तुतियाँ होती हैं जैसे—पाते से चक्र औपधि ठक की (निष्ठु खा३१४-२२) ।

(२) यह जो कहा कि ‘इनकी स्तुतिया मनुष्यों के अङ्गों से समुक्त परके होनी है वैसी तो अचेतन की भी होती है जैसे—‘अ॑नै हरे मूँह से चिह्नाते हैं’ (१०१४५२)—यह पापान की स्तुति है ।

(३) यह जो कहा कि ‘मनुष्यों की वस्तुओं से समुक्त करके [स्तुतियाँ होती हैं]’, वैसी तो यही (अचेतन में) भी है जैसे—‘सिंधु ने धोड़े का गुबद रथ जोता’ (अ० १०१७५१९)—यह नदी की स्तुति है ।

(४) यह जो कहा कि ‘मनुष्यों के शामो से समुक्त करके [स्तुतियाँ होती हैं]’, वैसी ही को यही भी है जैसे—‘होता के ही शामने भोज्य हृदि लाया’ (अ० १०१९४२) यह भी पापान की स्तुति है ॥

अपि वा, उमयविधा. रथुः । अगि वा, अपुरुषविधानाग् एव सत्ता कमलिमान. एते स्तुः । यथा, यज्ञो यजमानस्य । एव च आस्पानसमय ॥ ७ ॥

अबका ये (देवता) दोनों तरह के हैं अपना ये मनुष्यों में न पाई जानेयासी [वृदिकी यादि वस्तुओं] के बाये से रथ में हैं जैसे—यज्ञ यजमान वा [वर्ग.रस्त] है । यह यज्ञ का में प्रबोध सोयों का है ॥ ७ ॥

तृतीय-पाद

तिसः एव देवता. इत्युक्तं पुरस्तात् । तसां^० लक्षिसाहृव्यं

व्याख्यास्याम् । अथ एतानि अग्निभक्तीनि—अयं लोकः, प्रातः सवनम्, वसन्तः, गायत्री, त्रिवृत् स्तोमः, रथन्तरं साम, ये च देवगणाः समाज्ञाताः प्रथमे स्थाने, अग्नायी पृथिवी इला इति लिय । अथास्य कर्म—वहनं च हविपाम्, आवाहनं च देवता-नाम् । यच्च किंचिद् दार्त्तिविषयकम्, अग्निकर्म एव तत् ॥

पहने वहा जा चुक है कि तीन हो देवता हैं । हम उनके विभाग (Jurisdiction) और सहबरों की व्याख्या करेंगे ।

(१) अग्नि के ये विभाग हैं—यह लोक (पृथिवी), प्रात काल का सवन, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, तीन दार का स्तोम (प्रार्थना), रथन्तर नाम का साम, प्रथम स्थान में गिनाये गये देवता-गण; अग्नायी, पृथिवी, इला—ये स्थितीय । इनके बाम हैं—हवि पहुँचाना और देवताओं को बुलाना । जो कुछ दृष्टि विषयक है, वह अग्नि का हो काम है ।

अथास्य संस्तविका. देवा—इन्द्रः सोम., वरुण, पर्जन्य. ऋतव. । आग्नावैष्णव च हवि । न तु ऋक् संस्तविकी दशत-पीषु विद्यते । अथापि आग्नापीष्ण हवि., न तु संस्तव. । तथ एता विभक्तस्तुतिम् ऋचम् उदाहरन्ति ॥ ८ ॥

इनके साथ स्तुति किये जाने वाले देवता ये हैं—इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतुर्दै । अग्नि और विष्णु को समुक्त हवि देते हैं, किन्तु [समुक्त] स्तुति की ऋचा [ऋग्वेद के] दस भागों में कही नहीं । इसी प्रकार अग्नि और पूर्णा को समुक्त हवि देते हैं, किन्तु वैसी स्तुति नहीं है । इनकी अलग-अलग स्तुति दिलानेवाली ऋचा का उदाहरण देते हैं ॥ ८ ॥

पूरा त्वैतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुभुवनस्य गोपाः ।

स त्वैतेभ्य. परि ददत्पितृभ्योऽग्निदेवेभ्य. सुविदत्रियेभ्यः ॥

(अनष्टपशुः) जिसके पशु नष्ट नहीं होते, (मुवनस्य गोपा) पृथिवी का जो पालक है, (विद्वान्) वह जानो (पूरा) पूरा नामक देवता (त्वा) तुम्हें (इन्) यहाँ से (प्रच्यावयतु) च्युत करे । (स) यह (अग्नि) अग्नि देवता (त्वा) तुम्हें (एतेभ्य) इन (वितृभ्य) पितृरा को, और (सुविद-त्रियेभ्यः) सुन्दरत्वन देने वाले (देवेभ्यः) देवताओं को (परिददा॒) दे दे । (अ० १०।१७।३) ॥

पूपा त्वा इत प्रच्यावयतु, विद्वान्, अनटपशु, भुवनस्य गोपा इति । एष हि सवपा भूताना गोपायिता आदित्य । 'स त्वैतेभ्य परि ददतिपतृभ्य'—इति साशयिक तृतीय पाद । पूपा पुरस्तात्, तस्य अन्वादेशा—इत्येकम् । अग्निं उपरिष्टात्, तस्य प्रकीर्तना—इत्यपरम् । अग्निं देवेभ्य सुविदत्रियेभ्य । सुविदत्र घन भवति । विन्दते वा एकोपसर्गत्, ददाते वा स्यात् द्व्युपसर्गत् ॥ ९ ॥

पूपा तुम्हें यहाँ से न्युत करे वह नानी है उसके पशु नष्ट नहीं हुए हैं, वह सासार का रक्षक है । वह आदित्य ही सभी जीवों का पालक है । वह तुम्हें इन गिररों को दे दे—यह तीसरा पाद सदिग्द इति है । पूपा वा नाम पहल वा चूपा है इसमें उड़ी का बाद में उत्सेव है—यह एक मत है । दूसरा मत है कि अग्निं का नाम बाद में आता है उड़ी का उत्सेव यहाँ है । अग्नि उदार देवताओं को [तुम्हे दे दें] । सुविदत्र = घन । एक उपसग (मु) के बाद √ विद (पाना) से, या दो उपसगीं (मु वि) के बाद √ दा (देना) से घना है ॥

अथ एतानि इन्द्रभक्तीनि—अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवनम्, ग्रीष्म, निष्टुप्, पञ्चदश स्तोम, वृहत् साम, ये च देवगण समान्नाता मध्यमे स्थाने याश्च स्थिय । अयास्य कर्म—रसानुप्रदान, वृत्रवध, या च का च वलकृति इन्द्रकर्म एव तत् । अथ अस्य सस्तविका देवा—अग्नि, सोम, वरुण, पूपा, वृहस्पति, व्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु । अयापि मित्र वरुणेन सस्तूयते । पूर्णा रुद्रेण च सोम । अग्निना च पूपा । वातेन च पर्जन्य ॥

(२) य इन्द्र के विभाग हैं—ज उत्तरिक्षलोक दोषहर वा (माध्यन्दिन) मवन श्रीष्ट ऋतु त्रिष्टुप् छ द प द्रह वार का स्तोम वृद्ध नाम का साम भवन श्रीष्ट ऋतु त्रिष्टुप् छ द प द्रह वार का स्तोम वृद्ध नाम का साम भवन मध्य स्थान मे गिराय गये देवगण और स्थियहै । इनका काम है—रस दान वरना और वृत्र को मारना । जो कुछ वल का काम है वह इनका हा काम है । इनके साथ स्तुति किये जाने वाल देवता ये हैं—अग्नि गोम वहग पूपा है । इनके साथ स्तुति किये जाने वाल देवता ये हैं—अग्नि गोम वहग पूपा है । व्रह्मणस्पति व्रह्मणस्पति पवत बृत्स विष्णु और वैयु । पुन मित्र की स्तुति वहग मे साथ होती है सोम की पूपा और रद्र के साथ द्वारा जो अग्नि के गाय और पर्जन्य की वात के साथ ॥ १० ॥

अथ एतानि आदित्यभक्तीनि—असौ लोक., तृतीयसवनम्, वर्षा; जगती, सप्तदश स्तोम, वैरूपं साम, ये च देवगण। समाप्नाता. उत्तमे स्थाने, याश्च लिय। अथास्य कर्म—रमादान, रश्मिभिश्च रसधारणम्, यच्च किञ्चित् प्रवल्हितम् आदित्यकर्म एव तत्। चन्द्रमा वायुना सवत्सरेण इति सस्तव। ॥

(३) ये आदित्य के विभाग हैं—वह लोक (स्वम्), तीसरा (साप) सवन वर्षा और जगती-छन्द, सतरह बार का स्तोम वैरूप नाम का साम, छठम स्थान मे गिनाय गये देवता और रितियाँ। इनके काम हैं—रस प्रदान करना और किरणों से उसे धारण करना। जो कुछ गुप अथ है, वह आदित्य का ही नाम है। इनकी स्तुति चन्द्रमा, वायु और सवत्सर के साथ ही जाती है॥

एतेषु एव स्थानव्यूहेषु ऋतुच्छन्द स्तोमपृष्ठस्य भक्तिप्रप्तम् अनुकूल्यीत। शरद्, अनुष्टुप्, एकविंश. स्तोम., वैराज साम—इति पृथिव्यायतनानि। हेमन्त, पट्टकि., त्रिणवः स्तोम, शाक्वर साम—इति अन्तरिक्षायतनानि। शिशिर, अतिच्छन्दा, चयंलिंश स्तोम, रैवतं साम—इति द्युभक्तीनि ॥ ११ ॥

स्थान के इन्हीं विभागों मे ऋतु, छन्द स्तोम-भाग [आदि] के अवधिय अशो का विभाजन कर ले जैये—शरद् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, इक्कीस बार का स्तोम, वैराज नामक साम—ये पृथक्की के विषय हैं। हेमन्त ऋतु पति-उद, सत्ताईस (३×९) बार का स्तोम, शाक्वर नामक साम—ये अन्तरिक्ष के विषय हैं। शिशिर ऋतु, अतिच्छन्दा छन्द, सेनीस बार का स्तोम, रैवत नामक साम—ये स्वग से सम्बद्ध हैं॥ ११ ॥

विशेष—स्थान तो तीन ही हैं—पृथक्की, अन्तरिक्ष, स्वगं जिन्हें ऋतु, छन्द, स्तोम में बल तीन ही नहीं, दूर हैं—उन्हें भी इसी प्रकार इन्हीं तीन स्थानों में अत्यंत भूत करना है इसलिए यात्रक ने वाकी बचे हुए ऋतु, छन्द आदि का भी विभाजन समान रूप से कर दिया है॥ ११ ॥

मन्त्रा मननात्। छन्दासि छादनात्। यजुः यजते। साम समितम् ऋचा। अस्यते वा। ऋचा सम भेने—इति नैदाना। गायत्री गायते स्तुतिकर्मणा। विग्रहता वा विपरीता। गायतो

मुखात् उदैपतत् ॥ इति च ग्राह्यणम् । उच्छिक् उत्सनाता भवति । स्तिर्यते: वा स्यात् कान्तिकर्मणः । उच्छीपिणो इव—इति औप-मिकम् । उच्छीपं स्नायते ॥

मन्[॒] मन्[॑] (विन्तन) से; छन्द[॒] छन्द[॑] (विचारो का ढैरना, सीमित करना) से; यजु[॒] यज्[॑] (पूजा) से; साम, ऋचा द्वारा समान रूप से सीमित होने के कारण (सम्[॒]मा[॑]); या[॒] बस्[॑] (फैरना) से । वैदिक-छन्दों में निष्ठात (नैदान) लोगों का बहना है—‘इसे ऋचा के समान समझा’ । गायत्री[॒] गी = ‘स्तुति करना’ से, या त्रि[॒]गम्[॑] (तीन बार जानेवाली) उलट पर बनी हो । ग्राह्यण में रहा है—‘गाते गाते [बहुगा के] मुख से गिर पड़ो’ । उच्छिक् ‘ऋग्र से स्नान किये हुए’ (उत्तरस्ना); या[॒]स्तिर्यह = ‘शोभा’ से । उपमा के विचार से—मानों वगड़ी से समुक्त (उच्छीपिणी) है । उच्छीप (वगड़ी) वृद्धै[॒] (बैरना) से ॥

ककुप् ककुभिनो भवति । ककुप् च कुब्जः च कुजते । वा, चब्जते: वा । अनुष्टुप् अनुष्टोभनात् । ‘गायत्रीमेव त्रिपदां सती चतुर्येन पादेन अनुष्टोभति’—इति च ग्राह्यणम् । वृहती परिवर्हणात् । पंक्तिः पञ्चपदा । त्रिष्टुप् स्तोभति उत्तरपदा । का तु त्रिता स्यात् ? तीर्णतमं छन्दः । त्रिवृत् चब्जः । तत्य स्तोभनी इति वा । ‘यत् त्रिः अस्तोभत् तत् त्रिष्टुभः त्रिष्टुप्त्वम्’—इति विज्ञायते ॥ १२ ॥

ककुप् आनन्द से पुक्त (ककुभिनी) है, ‘ककुप्’ और ‘कुब्ज’ होनो[॒] कुदूर[॑] (वक) या[॒] डान्ज (दराना) से । ‘अनुष्टुप्’ अनु[॒]स्तुम् (पीछे स्तुति करना) हो । शाकाश में रहा है—‘यह (अनुष्टुप्) तीन घरणों वाली गायत्री का, अपने थोथे घरण से रखन बरते हुए, अनुष्टुप्त करना है’ । ‘बैरनी’ भरनी परिवृद्धि के वारण (वृद्धै[॒]) ; ‘पंक्ति’ पैक पाद होने के कारण । त्रिष्टुप् च उत्तर-गद, स्तुति (वृस्तुम्) के कारण । परन्तु इस त्रिष्टुप् का वया धर्म है ? यह गदसे तैत्र छाद है (वृत्) । अपदा, तीन आवरण वाले वय्य की स्तुति करना है (वृस्तुम्) ; ‘जो तीन बार स्तुति की, वही त्रिष्टुप् की विमोरण है’—यह मात्रूप होता है ॥ १२ ॥

जगती गततमं छन्दः । जद्वरणतिः या १, ‘जल्गल्प्यमानः अगुजरै’ इति च ग्राह्यणम् । त्रिराट् त्रिराजनान् वा, त्रिराघ-

नात् वा, विप्रापणात् वा । विराजनात् संपूर्णक्षिरा, विराघनात् ऊनाक्षरा, विप्रापणात् अधिकाक्षरा । पिपीलिकमध्या इत्यौप-
मिकम् । पिपीलिका पेलते: गतिकर्मण् ॥

जगती सबसे अधिक दूर तक यथा हुआ उन्द है (√गम्), या जलचा की गतिवाला है । ब्राह्मण में कहा है—' [ब्रह्मा ने] सुष्टि की इच्छा न रखने हुए इसे बनाया । 'विराट्' वि√राज् (अविश्वार) से, वि√राघ् (विरोध) से, या वि प्र√ब्राप् (विस्तार) से । अक्षरों के पूरे होने पर वि√राज् से, उनके कम होने पर वि√राघ् से और उनके अधिक होने पर वि प्र√ब्राप् से । उपमा वी दृष्टि से इसे पिपीलिक मध्या (जिसके बीच में अधर उसी प्रकार कम हो जैसे खीटी का विचला भाग) कहते हैं । 'पिपीलिका'√पेल् = 'जाना' से ॥

इति इमा. देवताः अनुक्रान्ता —गूक्तभाजः, हविभजिः,
ऋग्भाजश्च भूयिष्ठा । काश्चित् निपातभाजः ॥ अथ उत अभिधानै सयुज्य हविश्वोदयति—इन्द्राय वृत्रध्ने, इन्द्राय अंहोमुचे
इति । तानि अपि एके समामनन्ति, भूयासि तु समाम्नानात् ।
यत् तु सविज्ञानभत स्यात् प्राधान्यस्तुति, तत् समामने ॥ अथ
उत कर्मभिः ऋषि. देवता. स्तौति—वृत्रहा, पुरन्दर इति । तानि
अपि एके समामनन्ति, भूयासि तु समाम्नानात् । व्यञ्जनमात्रं
तु तत् तस्याभिधानस्य भवति । यथा ब्राह्मणाय वुभुक्षिताय
ओदनं देहि, स्नाताय अनुलेपन, पिपासते पानीयम् इति ॥१३॥

इम तरह इन देवताओं का वर्णन हुआ । गूक्त-द्वारा सम्बोधित, हवि को
पानेवाले तथा ऋचाओं द्वारा सम्बोधित (देवता) सबसे अधिक हैं । कुछ
आवृहिमय (निपात = यम) रूप से भी वर्णित हैं ।

कही-कही उनके नाम से व्युत्क वरके हवि देते हैं जैसे—वृत्र को मारने
वाले इन्द्र के लिए, दुर्व से बचानेवाले इन्द्र के लिए । कुछ लोग इनका भी
सप्रह वर लेते हैं, किन्तु ये सप्रह इये जाने से अविद्य हैं । मैं उसका ही
सप्रह वरता हूँ जो (नाम) रुद्र हो गया है और जिसके द्वारा मुख्य वर से
स्तुति की जाती है (देवताओं के विशेषणों का सप्रह नहीं बहेगा) ।

पुनः, ऋषिगण देवताओं की स्तुति उनके रूप का उत्त्वेत वरते हुए वरने

हैं जैसे—वृत्र की मारनेवाला, पुर का नाशक (= इन्द्र) । कुछ लोग इनका भी सप्तह वर लेते हैं, परन्तु ये सप्तह किये जाने से अधिक हैं । ये (विशेषण) उनके नाम का केवल प्रकाशन करते हैं जैसे—भूखे ब्रह्मण को भात दो, नहाये हुए को अनुजेपन (तेल आदि), प्यासे को पानी ॥ १३ ॥

चतुर्थ-पाद

अथातः अनुक्रमिव्यामः । अग्निः पृथिवीस्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः । अग्निः कस्मात् ? अग्निः भवति, अग्नं यज्ञेषु प्रणोदते, अङ्गं नयति संनममानः । अवनोपनः भवति—इति स्पौलाष्टीविः । न क्नोपयति = न स्नेहयति । विभ्य आख्यातेभ्यः जायते—इति शाकपूणिः । इतात्, अंकात् दग्धात् वा, नीतात् । स खल्च एते: अकारम् आदत्ते, गकारम् अनक्तेः वा दहते, वा, नी परः । तस्य एपा भवति ॥

बद हृष क्रपश, बर्णन करेंगे । अग्नि का इधान पृथकी मे है, उसकी व्याख्या पहले करेंगे । (१) 'अग्निं' कैसे ? ये अग्नी (नेता) हैं (√ नी) यज्ञो मे सबसे पहले लाये जाते हैं, कोई बस्तु दी जाने पर उसे अपना वंग बना लेते हैं । स्पौलाष्टीवि कहते हैं कि ये दोपक हैं (अ—वनुप्) । नहीं मिगाते, स्त्रियों नहीं करते । शाकपूणि कहते हैं कि [यह शब्द] तीव्र त्रियांओ से बना है— √इ (जाना), √अ—ज् (चमकना) या √दह् (जलाना), और √नी (ले जाना) से । √इ से अकार, √अज्ज् या √दह् (दग्ध) से गकार और सबसे अन्तिम वर्ण √नी से बना है । यह उनको (अक्षा) है ॥ १४ ॥

अग्निमीक्लेपुरोहितं, यजस्य देवमूत्तिवजम् । होतारं रत्नधातमम् ।
 (पुरोहितं) पुरोहित स्वरूप, (यजस्य) यज्ञ के (देवम्) देवता, (ऋत्विजम्) ऋत्विज = समय पर यज्ञ करानेवाले, (रत्नधातमम्) सबसे अधिक धन देनेवाले (होतारम्) हृत्यन करनेवाले (अग्निम्) अग्नि को (ईले) समस्कार करता हूँ । (ऋ० १।१।१) ॥

अग्निम् ईले=अग्निं याचामि । ईलिः अध्येपणाकर्मा, पूजाकर्मा वा । पुरोहितः व्याख्यातः । यज्ञ. अ । देवः दानाद् वा, दीपनाद् वा द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवति इति वा । यो देवः, सा देवता । होतारं=हृतारम् । जुहोते: होता इति और्णवामः ।

रत्नधातमम्-रमणीयाना धनानां दातृतमम् । तस्य एषा
अपरा भवति ॥ १५ ॥

अभिनम् ईले = अभिन से माँगता हो । √ईद् = आराधना या पूजा । पुरोहित
(२।१२) और पञ्च (३।१९) की व्याख्या हो चुकी है । 'देव' √दा (देना),
√दीप् (चमकना) या √चुत् (जलना) से । अथवा स्वर्ग में स्थान होने
के कारण । जो देव है वही देवता भी है । होवार = बुलानेवाले को । शोर्णवाम
के मत से 'होता' √ह (पक्ष करना) से बना है । रत्नधातम = रमणीय धनों
के सबसे बड़े दाता को । उनकी यह दूसरी (ऋचा) है ॥ १५ ॥

अग्नि पूर्वेभिकृष्टिपिभिरीडयो नूतनैरूत । स देवां एह वक्षति ।

(अग्नि) अग्नि (पूर्वेभि) प्राचीनकाल के (उत्) और (नूतनैः)
नये (कृष्टिपिभि) कृष्टियों के द्वारा (ईडय) पूजनीय है (स) वे (देवान्)
देवताओं द्वारा (इह) यहाँ (आवश्यकता) से बाहरे । (ऋ० १।१।२) ॥

अग्नि. य पूर्वे. कृष्टिपिभि ईडितव्य=वन्दितव्य, अस्माभिः
च नवतरै, स देवान् इह आवहतु इति । स न मन्येत, अयमेव
'अग्नि.' इति, अपि एते उत्तरे ज्योतिपी 'अग्नी' उच्च्येते । ततो
नु मध्यम ॥ १६ ॥

अग्नि जो पूर्वेकालिक कृष्टियों के ईडितव्य = वन्दनीय है, और हम-जैसे
मवीन [कृष्टियों] के भी । वे देवताओं को यहाँ लायें । ऐसे यह न समझे कि
फेंकल यही (पायिव) अग्नि ['अग्नि' बहलाता] है । बत्ति ये कठार के दोनों
ज्योति पञ्ज (विजली और सूर्य) भी 'अग्नि' बहलाते हैं । तो [यह ऋचा]
मध्यम (अग्नि = विजली) की है ॥ १७ ॥

अभि प्रवन्त समनेव योपा वल्याण्य. स्मयमानासो अग्निम् ।

घृतस्य घारा. समिधो नसन्त ता जुपाणो हर्यति जातवेदा ॥

(समना) एह समान बुद्धि या मनवाली, (वल्याण्ड) सु-दरी तथा
(स्मयमानास) मुस्कुराती हुई (योपा) स्त्री (इव) के समान [वे विवरियाँ]
(अग्निम्) अग्नि वो { अभि प्रवन्त } उत्तरन करें, या उनके प्रति इड़ें ।
(घृतस्य) यो की (घारा) घारायें (समिध) समिधाओं से (नसन्)
मिल जायें, (ता) उन्हें (जुपाण) पीता हुआ (जातवेद) जातवेद नाम
अग्नि (हर्यति) भ्रसन्होता है । (ऋ० ४।६।१८) ।

अभिनमन्त समनस इव योपा । ममन् समननात् वा,

संमाननात् ज्ञा । 'कंल्याण्यः स्मयमानासो अग्निनम्'—इत्यौपमि-
कम् । धूतस्य धाराः = उदकस्य धाराः । समिव.—नसन्त ।
नसतिः आप्नोतिकर्मा वा, नमतिकर्मा वा । 'ता जुपाणो हर्यतिं
जातवेदा.' हर्यतिः प्रेप्सांकर्मा, अभिहर्यति इति ॥

समन मने वाली स्त्रियो के समान (वे) ज्ञुके । समन = साय-साथ साम
ज्ञेनेवाली (सम् व भूत्) या साय-साथ सोचनेवाली (भूम् व मन्) 'मुन्दरी'
मुकुराती हुई [स्त्रियो के समान] अग्नि के प्रति ॥—यह उपमा है ।
पूत की धारायें = जल की धारायें । समिधा (लहड़ी) से मिलें । व नस् =
'पाना' या 'झुकना' । 'उनका आनन्द सेता दुमा, जीवहवी घन घारण करने
वाला (जातवेद) देव प्रसन्न होता है ।' व हर् = पाने की इच्छा अर्थात् वह
घारन्वार पाने की इच्छा करता है ॥

'समुद्रादूर्मिर्घुमाँ उदारत्' इति आदित्यम् उक्तं मन्यन्ते ।
समुद्रादद्वेषोऽदभ्यः उदेति'—इति च ग्राह्यणम् । अथापि ग्राह्यणं
भवति—'अग्निः सर्वा देवता.' इति । तस्य उत्तरा भूयसे
निर्वचनाय ॥ १७ ॥

'सागर से है मधुमय तरग डठ आई' (ऋ० ४५६।१) —यहाँ आदित्य
या वर्णन मानते हैं । ग्राह्यण वाक्य भी है—'यह समुद्र और जल से निरक्षिता
है' (कौपी० शा० २५।१) । और भी ग्राह्यण-वाक्य है—'अग्नि सभी देवता
है' (ऐ० शा० ६।३ इत्यादि) । इसके बाद की [ऋचा] स्पष्टतर उक्तावरण
के लिये है ॥ १७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरत्यो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

[लोग उसे] इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि कहते हैं, और वह दिव्य
गरुत्मान् मुन्दर वंशो से युक्त है । एक ही सत्य को ग्रहिण वहुधा प्राप्त रूप से
कहते हैं—अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं । (ऋ० १।१६।४६) ॥

इममेव अग्निं महान्तम् आत्मानम्, एकम् आत्मानं वहुधा
मेधाविनो वदन्ति = इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निं दिव्युं च गरुत्म-
न्तम् । दिव्यः = दिविज । गरुत्मान् = गरुणवान् । गुर्वात्मा,

महात्मा इति वा । यस्तु सूक्त भजते, यस्मै हवि निष्प्यते, अयमेव स अग्निः । निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ १८ ॥

इसी महान आत्मा को, एक आत्मावाले अग्नि को मेघावी शोण नाम प्रकार से पुकारते हैं—इन्द्र, मित्र, वहश तथा दिव्य गृहत्मान । दिव्य = द्वयं मे उत्तम । गृहत्मान् = प्राप्तेना ($\checkmark \text{गृ}$) से युक्त, गृह आत्मावाला या महात्मा जो सूक्त पाता है (= जिसके लिए सूक्त है) तथा जिसे हवि मिलता है वह यही (पार्थिव) अग्नि है । ये ऊपर के दोनों ज्योति पृच्छा (सूर्य और विद्युत्) । इस नाम से कभी कभी ही पाते हैं ॥ १८ ॥

पञ्चम पाद

जातवेदा कस्मात् ? जातानि वेद । जातानि वा एन विदु । जाते जाते विद्यते इति वा । जातवित्तो वा=जातधन । जातविद्यो वा=जातप्रज्ञान । 'यत् तत् जातः पशून् अविन्दत् तत्त्वात्वेदसो जातवेदस्त्वम्'—इति ग्राह्यणम् । 'तस्मात् सर्वान् अत्तून् पश्वव. अग्निम् अभिसर्गन्ति'—इति च । तस्य एषा भवति ॥ १९ ॥

(२) जातवेदः क्षेत्रे ? सभी उत्तम वस्तुओं को जानता है, या उत्तम वस्तुएँ उसे जानती हैं, या वह प्रत्यक्ष उत्त्वप्रबस्तु में विद्यमान है, या उत्तम वस्तुएँ ही उसके लिए वित्त = पन है, या उत्तम वस्तुएँ उसके लिए विद्या = ज्ञान है । शाक्तग में कहा है—'उग्ने जन्म सेते ही पशुओं को पाया, यद्यु जातवेदा की विद्येषता है' (मंत्रा० स० १।१।२) यह भी कहा है (मंत्रा० स० १।१।२) वि 'इसीलिए सभी ऋतुओं में यजुर्वल अग्नि के पास जाते हैं । उसकी यह (अखा) है ॥ १९ ॥

प्र नूनं जातवेदमसद्व हिनोत वाजिनम् । इदं नो वर्हिरासदे ॥

(नून) सचमुच (वाजिन) वलशाशी (अद्य) घोटा के समान (जातवेदगम्) जातवेद को (न) हणारे (इद) इष (वहि) कृष पर (आमदे) बैठने के द्वारे (प्र हिनोत) वेरित करो । (अ० १०।१८।१) ॥

प्र हिष्णु जातवेदम् कर्मभि, ममश्वुगानम् । अपि वा, उपमार्यं स्यात्—अश्वमित्र जातवेदमम् इति । इदं नो वर्हि आमीदतु

इति ॥ तदेतत् एकम् एव जातवेदसं गायत्र तुचं दशतयोपु
विद्यते । यत्तु किञ्चित् आमेयं तत् जातवेदसानां स्थाने युज्यते ॥

जातवेद को धरने कर्मों से प्रेरित करो, जो सर्वव्यापक है (✓षष्ठा.)
अथवा, उत्तमा के बर्थ में है—घोड़े के समान जातवेद को । हमारे इस कुण्डासन
चर बैठे । [शृङ्गेद के] दश खण्डों में, जातवेदा को सम्बोधित, तीन चरणों
वाली गायत्री (छन्द) का यह एक ही यत्र है । जो कुछ अभिन का है, वह
जातवेद के स्थान में भी ठीक-ठीक बैठा है ॥

स न मन्येत अयमेव असि, इति । अपि एते उत्तरे ज्यो-
तिपी जातवेदसौ उच्येते । ततो नु मध्यम.— अभि प्रवन्त
समनेव योपा ॥ इति । तत्पुरस्तात् व्याख्यातम् । अथ असी
आदित्यः—‘उदुत्यं जातवेदसम्’ इति । तत् उपरिष्टात् व्याख्या-
स्यामः । यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हवि. निरप्यते, अयमेव स
अभिः जातवेदाः । निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिपी एतेन नाम-
धेयेन भजेते ॥ २० ॥

कोई यह न सोचे कि केवल यही अभिन [जातवेदा रहलाते हैं], बहिक
कार के दोनों ज्योति पुञ्ज भी जातवेदा रहलाते हैं । [यह शृङ्गा] मध्यम-
अभिन (विश्वली) की है—‘समान मन वाली विद्यो के समान वे शुक्रे (शृङ्गा
४१५८८) । इसकी व्याख्या क्षपर हो गई है (३१७) । अब वह आदित्य—
‘रुच जातवेदस् की क्षपर’ (शृङ्गा १५०१)—इसकी व्याख्या नीचे होगी
(१३१५) । जो सूक्त पाना है, जिसे हवि मिलता है, वह यही (पादिव)
अभिन जातवेदा है । क्षपर के ये दोनों ज्योति पुञ्ज इस नाम से कभी-कभी ही
पाते हैं ॥ २० ॥

पट-पाद

वैश्वानर, कस्मात् ? विश्वान् नरान् नयति । विश्वे एनं
नराः नयन्ति इति वा । अपि वा, विश्वानर एव स्यात्, प्रत्यूतः
सर्वाणि भूतानि । तस्य वैश्वानरः । तस्य एपा भवति ॥ २१ ॥

(३) वैश्वानर कैसे ? सभी मनुष्यों को ले जाना है, या इसे ही सभी
मनुष्य से जाते हैं । अथवा ‘विश्वान् + वर’ (सबकी व्याप्त करने वाला)
से इन ही व्योक्ति सभी जीवों को व्याप्त करता है—उसी से वैश्वानर हुआ ।
दूसरी यह (शृङ्गा) है ॥ २१ ॥

महात्मा इति वा । यस्तु सूक्त मजते, यस्मै हवि निष्प्यते, अयमेव स अग्निः । निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिपी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ १८ ॥

इसी महान् आत्मा को एक आत्मावाले अभिन्न को मेघावी लोग नाना प्रकार से पुकारते हैं—इन्द्र, मित्र वरुण तथा दिव्य गृह्यतान् । दिव्य = द्वयं मे उत्पन्न । गृह्यतान् = प्रार्थना (चृथं) से युक्त, गुरु आत्मावाला या महा मा जो सूक्त पाता है (= जिसके लिए सूक्त है) तथा जिसे हवि मिलता है वह यही (पार्थिव) अभिन्न है । ये ऊपर के दोनों ज्योति पृच्छ (सूर्य और विश्वा) । इस नाम से कभी कभी ही पाते हैं ॥ १८ ॥

पञ्चम-पाद

जातवेदा वस्मात् । जातानि वेद । जातानि वा एन विदु । जाते जाते विद्यते इति वा । जातवित्तो वा=जातधन । जातविद्यो वा=जातप्रज्ञान । 'यत् तत् जात पश्नून् अविन्दत् तत्रातवेदसो जातवेदस्त्वम्'—इति व्राह्मणम् । 'तस्मात् सर्वान् ऋत्यून् पश्व अग्निम् अभिसर्णन्ति'—इति च । तस्य एषा भवति ॥ १९ ॥

(२) जातवेदा वंसे ? उभी उत्पन्न वस्तुओं को जानता है, या दृश्य वस्तुऐं वसे जानती हैं, या वह प्रत्येक उत्पन्न वस्तु में विद्यमाना है, या दृश्य वस्तुऐं ही उसके लिए वित्त = पथ हैं, या दृश्य वस्तुऐं उसके लिए दिव्य = ज्ञान हैं । व्राह्मण में यहा है—‘उपने ज म सेते ही पशुओं को पाया, यद्यों जातवेदा की विद्येषता है’ (वैत्री० स० १।८।२) यह भी यहा है (मंत्रा० स० १।८।२) वि ‘इसीलिए सभी प्रत्युषों में पशुगण अग्नि के पास जाते हैं । उमरी यह (ऋचा) है ॥ १९ ॥

प्र नून जातवेदममद्य हिनोत वाजिनम् । इद नो वर्द्धिरासदे ॥

(नून) सचमुच (वाजिन) वर्णाणी (अ॒व) घोडा के समान (जातवेदम्) जातवेद हो (न) हमारे (इद) इस (यहि) युध पर (धामदे) बैठने के लिए (प्र हिनोत) प्रेरित चरो । (यह० १०।१८।१) ॥

प्र हिष्पुन जातवेदमवर्मन्मि, ममश्चुगानम् । अपि वा, उपमाये म्यात्—अश्वमिव जातवेदमम् इति । इद नो वर्हि आसीदतु

मैं वृपभ भेदानि जल वरसानेवाले की, महीत्व = प्रधानता वा वरणा
फहेंगा। पूरख' = पूनि के योग्य वर्षा की कामनावाले एसे मनुष्य, जिस
वृक्षठण = मेघनाशक की सत्रते = सेवा करते हैं। दस्तु ~ दस = नाश
से वयोंकि इसमें रस न प्र हो जाते हैं तथा यह [मेघ अपने अमावस्ये] का सो
को नष्ट कर देता है। उस, अद्वित वैश्वानर न मारकर काण्डा = जल को
हिलाया शम्बर = मेघ को फाड़ दाता ॥

अय असौ आदित्य —इति पूर्वे याज्ञिका । एषा लोकाना
रोहण, मग्नाना रोह आम्रात् । रोहात् प्रत्यवरोह चिकीपित् ।
ताम् अनुकृति होता आग्निमास्ते शङ्खे, वैश्वानरीयेण सूक्तेन
प्रतिपद्यते । मोऽपि न स्तोनियम् आद्रियेत् । आग्नेयो हि भवति ।
तत आगच्छति मध्यस्थाना देपता रुद्रं च मर्तश्च । तत
अग्निम् इहस्थानम् । अत्रैव स्तोनिय शासति ॥

प्राचीन धारिको के मत स वह आदित्य ही है। कहा गया है कि लोकों के दृष्टि परम स सद्यन (सोम चुम्बना) का भी वृद्धिकरण होता है। वृद्धि के अम के बाद हाम का प्रम (प्रत्यक्षरोह) भी वहा जाना है। यजर्णवी (होता) इस प्रम (अनुरूपि) को अग्नि और महात्म वे आवाहन [के समय] में वेदान्तर गूक हैं द्वारा सम्पादन करता है। वह भी स्तोत्र पर अधिक दल न दे यथोऽकि दह अग्नि का है। तद वह मध्यम स्थान + देवता—दह और महादृग पर आता है तब इस समार म स्तिति अग्नि पर आता है। यही वह स्त्री-प्राठ दरता है ॥

अयापि वैश्वानरीयो द्वादशकपाला भवति । एतस्य हि द्वादशविध वर्म । अयापि ग्राहण भवति—'अनीं ग आदित्योऽग्निर्यैश्वानर' इति । अयापि निवित् सौर्यवैश्वानरो भवति—'आ यो द्या भात्या पृथिवीम्' इति । एष हि द्यावापृथिव्यी आभासयति । अयापि द्यान्द मिक सूत्ता सौर्यवैश्वानर भवति—'दिवि पृष्ठो अरोचत इति एष हि दिनि पृष्ठो अरोचत इति । अयापि हृविष्णान्तोय मूला मौर्यवैश्वानर भवति ।

पून वैश्वनर थे [हरि] बारह पात्र गणोंमें मिलता है वह हि उसके शारह तरह से वास है। इसक अपारे बाह्य वापर भी है—वह बाणिध ही अग्नि देवतानार है (मं० सं० ३११२)। तुत, तितितु (पात्र तादृ की

- वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानाग्मिश्रोः ।
इतो जातो विश्वमिदं वि चटे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥

(वैश्वानरस्य) वैश्वानर वी (सुमतौ) भक्ति या श्रद्धा मे (स्याम) हम सब रहे, जो (राजा) राजा है तथा (भुवनाना) सभी जीवों का (अभिश्रीः) आध्यय-स्थान है (हि वं) X. (इतो) इस स्थान से (जात) उत्पन्न होकर (इद) इस (विश्वं) पूर्वं पृथ्वी वो (वैश्वानरः) वैश्वानर नामक अग्नि (विचष्टे) देखता है तथा (सूर्येण) सूर्यं के साथ (यतते) घलता है । (श० १९८१) ॥

इतो जात सर्वमिदम् अभिविष्यति । वैश्वानरः संयतते सूर्येण । राजा य सर्वेषां भूतानाम् आश्रयणीय, तस्य वय वैश्वा-नरस्य कल्याण्या मतौ स्याम । तत्क. वैश्वानर ? मध्यम् इति आचार्या । वर्पकमंणा हि एनं स्तौति ॥ २२ ॥

इस (ससार) से उत्पन्न होकर वह इस सारे विश्व का विरीक्षण करता है, वैश्वानर सूर्यं के साथ घलता है । जो राजा और सभी जीवों का आध्यय है, उस वैश्वानर की कल्याण करनेवाली इच्छा मे हम रहे । तो यह वैश्वानर कीन-सा है ? आचार्यों का वहना है कि यह मध्यम-स्थान का अग्नि है क्योंकि वर्षा के अर्थ से मिलाकर इसकी स्तुति होती है ॥ २२॥

प्र नू महित्व वृपभस्य बोच य पूरवो वृत्रहण सचन्ते ।
वैश्वानरो दस्युमन्तिर्जंघन्वाँ अधूनोत्काण्डा अव शम्वर भेत् ॥

(नू) अव [मै] (वृपभस्य) शूष के समान बलवान् वो (महित्वं) महिमा (प्र बोचम्) कहता हूँ, (य) { जिस (वृत्रहण) वृत्रमायाव की (पूरव) पूर्ति चाहनेवाले लोग (सचन्ते) सेवा करते हैं, (वैश्वानर) वैश्वानर नाम वे (अग्निं) अग्नि ने (दस्यु) दस्यु वो (जप-वान्) मारवर (काण्डा) जल को (अधूनोत्) हिला दिया तथा (शम्वरं) मेघ वो (अव भेत्) काढ दिया । (श० १५९१६) ॥

प्र व्रवीमि तत् महित्व=महाभाग्यम्, वृपभस्य=वर्पितुः
अपाम्, य पूरव=पूरयितव्या मनुष्याः, वृत्रहणं=मेघहनं,
सचन्ते सेवन्ते वर्पकामा । दत्युः दस्यते: क्षयार्थात् । उपदस्यन्ति
अस्मिन् रस्ता,, उपदासयति कर्मणि । तम् अग्निः वैश्वानरो
धन् अवाधूनोत् अप काण्डा । अभिनत् शम्वरं=मेघम् ॥

विना स्वर्गं करेये धारण करता है, तब वह जलता है। तभी वह (अग्नि) उत्तम होता है। कहा भी है—‘वैश्वानर सूर्य के साथ चलता है’ (श० १। १८।१) । कोई अपने आपके साथ नहीं जा सकता है, द्रूमरे के साथ ही कोई जा सकता है। इस लोक में अग्नि को प्रज्ञलित करता है, इसकी किरणें उस लोक (स्वर्गं) से प्रकट होती हैं। यहाँ से इसकी ज्वालायें [प्रकट होनी हैं]—दोनों प्रकाशों का सर्वगं देखकर ही [अग्नि ने] ऐसा कहा है ॥

अथ यानि एतानि औत्तमिकानि सूक्तानि, भागानि वा, सावित्राणि वा, पौष्णानि वा, वैष्णवानि वा, तेषु वैश्वानरीया. प्रवादा. अभविष्यन् । आदित्यरूपर्मणा च एनम् अस्तोप्यन्-इति चदेपि, इति अस्तमेपि, इति विषयंपि इति ॥

[यदि वैश्वानर स्वर्गं के देवता या सूर्यं होते] तो उत्तम स्थान बाले देवतामो—सविना, पूरा या विष्णु—के वितने सूक्त या अग्नि होते उनमें वैश्वानर की बातें अवश्य रहनी। सूर्यं के अर्थ के साथ इनकी रुचि भी होनी जैसे—ठगते हो, अस्त होते हो, घूमत हो ॥

आग्नेयेषु एव हि सूक्तेषु वैश्वानरीया. प्रवादा. भवन्ति । भमिकर्मणा च एनं स्तौति । इति दहसि, इति वहसि, इति पचसि इति । यथो एतत्-‘वर्णकर्मणा हि एनं स्तौति’ इति, अस्मिन् अपि एतत् उपपद्यते ।

‘समानमेतदुदक्मुच्चैत्यव चाहमि ।

भूमि पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय ॥
इति सा निगदव्याख्याता ॥ २३ ॥

ऐवल अग्नि के सूक्तों में ही वैश्वानर की गाने हैं और अग्नि के अर्थ के साथ इनकी सुनि होती है—जलाते हो, ले जाते हो, पकाने हो । यह जो कहा है—‘वर्णा के अर्थ से इनकी सुनि होनी है’, वह बात तो इन (अग्नि) में भी शाम है—‘यह जल (एतत् उदाम्) दिन के समान है (अहमि गमाम्), कभी उठता है (उच्चा एति) कभी गिरता (वद ए) है, मेष पूरी में प्राप्त है; अग्नि स्वर्गं मे’ (श० १।१६॥५।) यह तो पूछ ये ही रुप्त है ॥ २३ ॥

विशेष—इस लक्ष्ये व्याख्यान वा निष्पत्ति यही है जि वैश्वानर ऐवल इसी पापिक अग्नि को कहते हैं, ग विज्ञती औक्तोर न गूँयं को । अपेक्षा पाठ में इताना निराकरण होगा ॥

स्तुति) भी सूर्यंह्यो वेश्वानर के लिए है—‘जो स्वर्गं को और पृथ्वी को प्रवासित करता है’ (निधित८) । द्यावापूर्यिवो को यही चमकाता है । छान्दोमिक सूक्त (वा० स० ३३।१२) भी सूर्यंह्यो वेश्वानर के लिए है । ‘वह स्वर्गं मे तभी शोभित हुआ’ (बाष्व० थौ० ८।१०) । वह सचमुच ही तब स्वर्गं मे शोभित हुआ । पेद-हृवि का सूक्त (हविष्यान्तीय-सूक्त, अ० १०। ८८।४) भी सूर्यंह्यो वेश्वानर का ही है ॥

अयमेव अग्नि वैश्वानर—इति शाकपूणि । विश्वानरौ एते उत्तरे ज्योतिषी । वैश्वानर अयम्, युत् ताभ्या जायते । कथ नु अयम् एताभ्या जायते इति ? यन् वैद्युतः शरणम् अभिहन्ति, यावदनुपात्तो भवति, मध्यमधर्मा एव तावत् भवति । उदकेन्धन, शरीरोपशमन । उपादोयमान । एव अय सपद्यते—उदकोपशमन, शरीरदीपि ॥

शाकपूणि के मत से यही (पादिव) अग्नि वैश्वानर है ये ऊपर के षष्ठोति पुण्ड्र भी वैश्वानर ही है । यह (अग्नि) वैश्वानर है षष्ठोति उन दोनों से उत्तरन होता है । यह उनसे कैसे उत्तरन होता है ? ऊपर विद्युत् ह्यो अग्नि किसी निवास-स्थान पर (शरण) गिरता है तो जबक किसी पर ठहरता नहीं, तबतक मध्यम ह्यान वा (बिजली) गुण लिये रहता है—जल मे जलता है, किसी ठोस वस्तु मे खुता जाता है । किसी वस्तु पर ठहरने पे बाद ही यह (अग्नि) उत्तरन होता है—तब यह जल मे खुशने वाला और वस्तु मे जलनेवाला बन जाता है ॥

अय आदित्यात् । उदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये कस वा मर्णि वा परिमूज्य प्रतिस्वरे यत्र दृष्टिगोमयम् असस्पर्शयन् धारयति, तत् प्रदीप्यते । स. अयमेव मपद्यते । अथापि आह—‘वैश्वानरो यतते सूर्येण’ इति । न च पुनः आत्मना आत्मा सयतते । अन्येन एव अन्य सयतते । इत इमम् आदधाति । अमुत् अमुप्य रक्षमय । प्रादुभंवन्ति । इत अस्य अर्चिप । तयो भासो ससञ्ज्ञ द्वापा एवमवक्षयत् ॥

आदित्य से भी [अग्नि निवलता है] । आदित्य ऊपर उत्तर दिशा मे पहले पहल आत्म है तब कोई आदमी कौसा या मणि (= कई परातलवाली) को साफ करके उसकी हिरण्यों को सामने खूब गोवरण्याले स्थापे, उसमे

पात्र सेष्टो (कपालो) मे होता है, तो पात्रो का सम्बन्ध व्याख्या से नहीं वयोकि सूर्य के एक पात्र-क्षण्ड भी है, पर्वत भी। (३) यह जो वहा कि 'दाह्यण वाक्य है', तो दाह्यण वहुत-से विमायो का वर्णन करते हैं जैसे—पृथ्वी वैश्वानर है, सत्सर वैश्वानर है, द्राह्यण (जाति) वैश्वानर है॥

यथो एतत्—'निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति' इति, अस्येव सा भवति—'यो विडभ्यो मानुपीभ्यो दीदेत्' इति। एप हि विडभ्यो मानुपीभ्यो दीप्यते। यथो एतत्—'छान्दोमिक सूल सौर्यवैश्वानर भवति' इति, अस्यैव तत् भवति—'जमदसिभिराहुत' इति। जमदग्नय प्रजमिताग्नय वा, प्रज्वलिताग्नय वा। ते अभिहुत भवति। यथो एतत्—'हविष्पान्तीय सूक्तं सौर्यवैश्वानर भवति' इति अस्य एव तत् भवति॥ २४ ॥

(४) यह जो कहा कि 'प्रशसा वाच्य (निवित्) सूर्यह्वी वैश्वानर के है', वे वाच्य तो इसी (अग्नि) के हैं जैसे—'जो मनुष्य जाति के लिए चमका' (निवित् ८)। यह (अग्नि) ही मनुष्य जाति के लिए चमकता है। (५) यह जो कहा कि 'छान्दोमिक-सूक्त (वाज० स० ३३१९२) सूर्यह्वी वैश्वानर का है', वह तो इसी (अग्नि) का है जैसे—'चमकते हुए अग्नि से हवन दिया गया' (आश्व० थीत० ८१९) जपदङ्गिन=प्रजमित (अधिक मात्रा में उत्पन्न) अग्नि या प्रज्वलित अग्नि। उन्ही के द्वारा इसे बाहुत दी जाती है। (६) यह जो कहा कि 'हविष्पान्तीय-सूक्त (ऋ० १०।८८।४) सूर्यह्वी वैश्वानर का है', वह तो इसी (अग्नि) का है—॥ २४ ॥

हविष्पान्तमजर स्वर्विदि दिविस्पूश्याहुत जुष्टमन्तौ ।

तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे क स्ववया पप्रयन्त ॥

(अजर) अविनाशी, (जुष्ट) सुन्दर या सेष्य (पास्त) तथा पीने योग्य (हवि) हवि, (स्वर्विदि) सूर्य को जानने वाले तथा (दिविस्पूशि) स्वर्य को दृष्टे बाले (अग्नो) अग्नि में (आहुतम्) पढ़ गया है, (देवा) देवताओं ने (तस्य) उसक (भर्मणे) पालन के लिय (भुवनाय) अस्तित्व के लिए तथा (धर्मणे) धारण करने के लिए, उस (स्ववया) अग्नि से (पप्रयन्त) दृश्याया। (ऋ० १०।८८।१) ॥

हवि यत् पानीयम्, अजर सूर्यविदि दिविस्पूशि अभिहुत जुष्टम् अग्नी । तस्य भरणाय च, भवनीय च, धारणाय च,

सप्तम-पाद

कृष्ण नियान् हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमृत्पत्तिं ।

त आववृत्त्सदनाद्वत्स्यादिद्वृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

(कृष्ण) काले (नियान्) रास्ते से (सुपर्णा) सुंदर पलोबाने (हरय) घोड़े (अप) जल को (वसाना) ढोने हुए (दिवम्) स्वर्ग की ओर (उत्पत्तिं) उद्धरते हैं । (ते) वे (अत्स्य) जल के (सदनात्) रथान से (आववृत्त्सदन्) मुड़ गये (आदित्) तभी (घृतेन) जल से (पृथिवी) पृथ्वी (व्युद्यने) भीग जाती है । (श्र० १।१६४।४३) ॥

कृष्ण निरयण रात्रि आदित्यस्य । हरय सुपर्णा=हरणा आदित्यरश्मय । ते यदा अमृत अर्वाच्च पर्यावर्तन्ते सहस्यानात् उदकस्य आदित्यात् , अथ घृतेन=उदकेन पृथिवी व्युद्यते । घृत-मिति उदकनाम । जिघर्त्त मिश्वतिकर्मण । अथापि न्राह्यण भवति—‘अग्नि वा इतो वृष्टि समीरयति, धामच्छद् दिवि भूत्वा वर्पति, मरुत् सृष्टा वृष्टि नयन्ति, यदा असो आदित्य अग्नि रश्मिभि पर्यावर्तते, अथ वर्पति’ इति ॥

कृष्ण निरयण = आदित्य की गत । दुर्दर पलो याते घोड़े=सूर्य की क्रियाएँ का हरण करते दाते । वे जब उदक वे निवारा-स्थापा से = आदित्य के पास से उल्टा लौटते हैं, तब घृत = जल से पृथ्वी भीग जाती है । घृत = जल, √घृ = ‘सीधना’ से । न्राह्यण म भी वहा है—अग्नि यहाँ से वृष्टि भेजता है, वह (वृष्टि) आवाज में स्थान को छेंकर बरसती है (मेष), मरुण छोड़ी है वृष्टि को ले जाते हैं जब वह आदित्य अग्नि को कपनी क्रियाएँ पैर लेता है तब वर्षा होती है’ (काठू स० ११।१०) ॥

यथो एतत्—‘रोहात् प्रत्यवरोह चिकीयित.’ इति, आम्ना-यवचनात् एतत् भवति । यथो एतत्—‘वैश्वानरीयो द्वादश-कपालो भवति’ इति, अनिर्वचन कपालानि भवन्ति, अस्ति हि सौर्य एककपाल पञ्चकपालश्च । यथो एतत्—‘न्राह्यण भवति’ इति, वहुभज्जवादीन न्राह्यणानि भवन्ति—पृथिवी वैश्वानर, सवत्सरो वैश्वानर, ‘न्राह्यणो वैश्वानर’ इति ।

(१) यहाँ जो वहा रि वृद्धिक्रम के बढ़ाया जाता है, वह हो येद के वाययो से होता है । (२) यह जो वहा ‘वैश्वानर का [हवि] वारह

मायामूर्तुं यज्ञियानामेतामपो यत्तूणिश्चरति प्रजानन् ॥

(सप्तम) रात में (अग्नि) अग्नि (मुख मूर्धा) पृथ्वी का सिर (भवति) बना रहता है, (प्रात) प्रात काल में (उद्यन्) उगते हुए (सूर्य) सूर्य के रूप में (जायते) निकलता है, (यज्ञियानाम्) पवित्र लोगों की (एता) इस (मायाम्) माया को (उतु) तो [देखो !] (यत्) जिसे (प्रजानन्) जानकर (तूणि) शीघ्र ही (अप) काम को (चरति) कर डालता है । (अ० १०।८८।६) ॥

मूर्धा=मूर्तम् अस्मिन् धीयते । मूर्धा य सर्वेषा भूताना भवति नक्तम् अग्निः, तत् सूर्यं जायते प्रात उद्यन् स एव । प्रजा तु एता मन्यन्ते यज्ञियाना देवाना, यज्ञसम्पादिनाम् । अप यत् कर्म चरति प्रजानन् । सर्वाणि स्थनानि अनुसचरते त्वर-माण । तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २७ ॥

मूर्धा = जिसमें कशीर छारण किया जाय (√मूर्छ + √धा) । रात में जो अग्नि सभी जीवों का सिर बाता है तब वही सुवह में उद्दीयमान सूर्य के रूप में निकलता है । इसे यनिय अर्थात् यज्ञ सम्पन्न करने वाल देवताओं की प्रजा (बुद्धि) मानते हैं । अप = जिस कर्म को, वह जानकर करता है, शीघ्रता से वह सभी स्थानों में जाता है । उसके बाद की (अर्चा) स्पष्टतर उदाहरण के लिये है ॥ २७ ॥

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनङ्गक्तिभी रोदसिप्राम् ।
तमूर्तुं अकृष्णवन् नेवा भुवे क स ओषधी पचति विश्वरूपा ॥

(स्तोमेन) स्तुति के द्वारा (दिवि) स्वर्ग में (देवास) देवताओं ने (गक्तिभि) अपनी शक्ति से (रोदसि प्राम्) द्याता पूर्यितो को पूर्ण करने वाल (अग्निम्) अग्नि को (अजीजनन्) उत्पन्न किया । (तम उ) उसे (भुवे) रहने के लिये (नेवा) तीन तरह या (अकृष्णवन्) बनाया, (स) यह (विश्वरूपा) न ना प्रकार की (ओषधी) वज्रपतियों को (पचति) पकाना है । (अ० १०।८८।१०) ॥

स्तोमेन हि य दिवि देवा अग्निम् अजनयन् । दक्तिभि = कर्मभि । द्यावापूर्थिव्यो आपूरणम् । तम् अकृष्णवन् नेवाभावाय—पूर्थिव्याम्, अन्तरिक्षे, दिवि इति शाकपूणि । 'यदस्य दिवि

एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यः इमम् अग्निम् अन्नेन अपप्रथन्त इति ।
अथापि आह् ॥ २५ ॥

जो हवि पेय है, अनश्वर है, मोदकारी (जुष) है, सूर्य के ज्ञाता एव स्वर्ग को छूने वाले अग्नि मे दिया जाता है; उसके पालन, अस्तित्व (√ भू), तथा पारण के लिए—इन सभी कर्मों के लिए इस अग्नि को [देवताओं ने] अग्नि से फेलाया । और भी कहा है ॥ २५ ॥

अपामुपस्थे महिपा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुकृद्गिमयम् ।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानर मातरिश्वा परावतः ॥

(अपाम्) जल की (उपस्थे) गोद मे. (महिपा) बडे लोगों ने (अगृभ्णत) उसे पकड़ा; (विश) जातियाँ (अग्निमयम्) सम्मानयुक्त (राजानम्) राजा के सामने (उप तस्थु) बैठी थीं । (मातरिश्वा) मातरिश्वा नाम का (दूत) दूत (वैश्वानर) वैश्वानर नाम के (अग्निम्) अग्नि को (परावत) बहुत दूर से (विवस्वत) सूर्य के पास से (आ अभरत्) ले भाया है । (कृ० ६।१८) ॥

अपाम् उपस्थे=उपस्थ्याने । महति अन्तरिक्षलोके आसीना:, महान्तः इति वा । अगृह्णत माध्यमिकाः देवगणाः । विशः इव राजानम् उपतस्यु । अग्निमयम्=वृग्मन्तम् इति वा, अचंनीयम्, इति वा । आहरत् यं दूतः देवानां विवस्वतः = आदित्यात् । विवस्वान्=विवासनवान् । प्रेरितवत्, परागताद्वा । अस्य अग्ने: वैश्वानरस्य मातरिश्वानम् आहर्तारम् आह । मातरिश्वा=वायु, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मानरि आशु अनिति इति वा । अथ एनम् एताभ्यां सर्वाणि स्थानानि अभ्यापादं स्तौति ॥ २६ ॥

जल के उपस्थ = गोद मे, महान् अन्तरिक्ष लोक में आसीन, अथवा, बडे । मध्य स्थान वाले देवताओं ने पकड़ा । वे राजा के आगे प्रजा के समान ठहर गये । अग्निमय = अग्नियों से युक्त या पूजनीय । जिसे देवताओं वा दूत, चमकने वाले आदित्य के पास से लाया है । विवस्वान्= (अन्तरिक्ष) भग्नाने वाला । प्रेरित करने वाले से या बहुत दूर से । मानरिश्वा को इस वैश्वानर अग्नि का आहर्ता (लाने वाला) कहा गया है । मातरिश्वा=वायु, योदि 'मातरि' = अन्तरिक्ष में सौंस लेता है या अन्तरिक्ष में घोष्ट (आशु) भग्नता है (√ अन्) । अब इन दोनों अग्नियों के हारा, सभी स्थानों वो व्याप बरने के लिए, इसकी स्तौति करता है ॥ २६ ॥

मूर्धा भुवो भवति नक्षमग्निस्तत्. सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।

हिन्दी-निरुक्त परिशिष्ट—१

चैदिक मन्त्रों का पद्यानुवाद

प्रथम अध्याय

पृ० ११-न नूतमस्ति०

न आज भी या कल भी नहीं है, अभूत बातें जन कीन जाने ?

मस्तिष्क है चचल दूसरों का; विनाश है निश्चित वस्तु का भी ॥

पृ० १२-नूतं सा ते०

हे इदं, तुम्हारा है उत्तम जो दान,
गायक को उससे कर दो बट-प्रदान ।
दो लाभ गायकों को, हमसे मत दूर
हो भास्य, यज्ञ में दोलें, हम सब शूर ॥

पृ० १४-ऋचां त्वा०

वह पोषक, बुद्धि ऋचाओं की करता है,
शब्दरी पदों में गान एक गाता है ।
ऋद्धा विभ्रम का समाधान बतलाता,
अद्वयं यज्ञ का पूरा काम कराता ॥

पृ० १६-अक्षण्वन्तः०

वे अँख कान से युक्त मिथ्यगण सारे,
हैं बुद्धिवेग में हुए दियम वैचारे ।
मूँह तक या कौलों तक ही वे हैं केवल,
दीखते नहाने योग्य झील-से वे सब ॥

पृ० १८-निष्ठृक्षासः०

व निर्बसन हो दीनजन, बहुपुत्र हो, सूर से यथा—
हरते हुए रोने लगे—'हो शिशिर जीवन-हित यथा' ।

पृ० १८-हयिभिरेके०

हयि देखकर, कुछ सो, स्वर्गं यही से पातो,
कुछ सर्वम-काल मेरोप्र चुलाकर जातो ।
किर समुद यस्तियों को करके, दानों से,
इरती कि नरक मे पड़े नहीं पापों से ॥

अस्ति उपमानस्य सप्रत्यर्थं प्रयोग । 'इहेव निधेहि' इति यथा । सुपर्णं = सुपतना, एता रात्रय वसते, मातरिष्वन् । ज्योति वर्णंस्य । तावत् उपदधाति यज्ञम् आगच्छन् ब्राह्मणः होता, अस्य अग्ने. होतु. अवर. निपीदन् ॥

जबतक लघा का प्रकाश (√ अञ्ज्) या प्रतिदर्शन होता है । उपमान वाचक ('न') का प्रयोग 'सम्प्रति' (इस समय) के बर्ये में हुआ है जैसे— इह इव निधेहि (ठीक यहाँ रखो) । सुपर्णं = सुन्दर शीति से गिरनेवाली ये रातें, ह मातरिष्वन् । इन की ज्योति पहनती है । तबतक यज्ञ में आया हुआ, इस अग्निहोषी होता के नीचे बैठा हुआ ब्राह्मणस्त्री होता उसे धारण करता है ॥

होतृजप तु अनग्निवैश्वानरीय. भवति । 'देव सवित । एत त्वा दृष्टे अग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण' इति । इम-मेव अग्नि सवितारम् आह—सर्वस्य प्रसवितारम् । मध्यम वा उत्तम वा पितरम् । यस्तु सूक्त भजते, यस्मै हवि निरूप्यते, अयमेव स अग्निं वैश्वानर । निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिपी एतेन नामधेयेन भजेते भजेते ॥ ३१ ॥

लेकिन होता का गाठ वैश्वानर के लिए है जो अग्नि मही—है देव सवित । वह तुम्हें अर्पात् अग्नि को, यज्ञ के लिए, पिता वैश्वानर के साथ चूतना है' (धाश्व० थौ० ११३) । इसी अग्नि को सविता कहा गया है—सबों को प्रसन्न करने वाले, मध्यम या उत्तम ह्यान वाले पिता को । जो सूक्त पाता है और जिसे हवि मिलता है, वह यही (पार्थिव) अग्नि वैश्वानर है । इस नाम से लगर के ज्योति पुञ्ज कभी कभी ही [सूक्त और हवि] पाते हैं ॥

विशेष—विरोधियों के तकों का निराकरण करने के बाद पासक इस निषय पर पहुँचते हैं कि 'वैश्वानर' हीनो अग्नि को कहते हैं—पार्थिव अग्नि विदली तथा सूक्त । तिन्हुं सूक्त और हवि पाने वाला अग्नि ही वैश्वानर है ॥ ३१ ॥

इति निरूप्ते सप्तमोऽध्याय ॥

वैदिक मन्त्रों का पद्यानुचान

४

जिसे विभारो गुचि, धप्रमादी; मेषा लिये हो वह ब्रह्मारी।
दोही कभी भी न हृषा गुग्हारा; बहुन ! मुझे दो निधिपाल को ही ॥

पृ० ४४-ता वां वास्तू०

इच्छा है तेरे चस घर पर जाने की,
किरणे चमकीली बहुत, जहाँ गतिघारी ।
हाँ, वही विघ्नु जो बड़े चरणवाला है,
उसका उत्तम पद बच्छा चमक रहा है ॥

पृ० ४६-य ईम०

उसके कर्ता ने नहीं उसे है जाना,
उससे छिपने पर भी परन्तु है माना ।
बह मातृयोनि मे पिरा हुआ अःदर से,
बहु संगतानो से युक्त मिला धरती से ॥

पृ० ४७-अयं स०

उसकी इनि है जिससे ढोककर यह बाणी,
होवर के गेयाहड, धोर-खव करती ।
निज गर्जन से तो भूमा दिया है नरको,
दिग्ली खनकर के खोन लिया निज छवि को ॥

पृ० ४९-आटिपेगो०

आटिपेण के पुत्र महारमा होता के पद पर आये,
नाम दिव्य देवापि देवता-भत्तिजान रखनेवाले ।
ऊपर से नीचे को उनने सागर बहा ! उंडेल दिया,
इवर्गलोक से वपविले जल को मानो टेन दिया ॥

पृ० ५०-यदेवापि०

यदेवु पर जर वृषा पुरोहित वे देवापि बने होता
चुने गये जब, तब तो उनने ध्यान लिया कुछ मन्त्रों का ।
तभी बृहस्पति दानविशारद, देवों के सुनने सापद,
यथा वरनेवाली रसुति के उनके लिए बने दायर ॥

पृ० ५४-अतिष्ठन्ती०

जो अतिपर है, जिसका न रोष होना है,
ऐसे जल के द्वी बोक दारीर पहाड़ है ।
जल बृन्दवान जी लिपि अयह पर चर्षता,
वह इन्द्रधनु वह अन्याशार मे लोगा ॥

पृ० ३०-स्थाणुरयं०

वह शुष्क वृक्ष-सा भार बहन करता है,
पढ़कर वेदों को अर्थ न जान सका है।
बाणों का ज्ञाता सभी सुफल है पाठा,
धो पाप, ज्ञानसे, स्वर्गलोक वह जाता ॥

पृ० ३१-यद् गृहोत०

याद किया पर सका न जान, शब्दों तक ही होना पाठ ।
नहीं कही है जलता आज, आग विना ज्यों सूखा काठ ॥

पृ० ३२-उत त्वां०

बाणी को लखकर भी न एक लघता है,
उसको सुनकर भी नहीं एक सुनता है।
लेकिन कुछ ऐसे तो है वह देह दिलाती,
पति जो सु-दसन पत्नी ज्यों इच्छा लानी ॥

पृ० ३३-उत त्वं० (प्राचीन अर्थ)

बाणी-समति मे कुछ अर्पण कहाते,
कोई न बठिन पद मे भी उगड़े हराने
माया रे, ज्यूठी गोना यह चलता है
फल फूल हीन बाणी ही यह सुनता है ॥

द्वितीय अध्याय

पृ० ३४-यशमात्परं० (द्वेतात्परं० ३१)

जिससे छंची नींधी कुछ खोज नहीं है,
जिससे छोटा या बड़ा नहीं कोई है ।
स्वर्ग मे वृक्ष-गा स्थिर होकर ठहरा है
यह सारा उमी पुणा से पूर्ण हुआ है ।

पृ० ४१-विद्या ह वै० (४ इलोक)

विद्या बभी द्वाह्याग पास दोन्ही—'रक्षा बरो मैं निधि हूँ सुधागी ।
परापवादी, वल या बुरे जो; न दो मुरो बीयंवती धनूं मैं ॥
जो गन्ध द्वारा युग वर्ण खोले; न दुन पाने, अमरमृत देने ।
माना-रिना तो ममसे उगड़े ही; दोहों न होना उनका खदानि ॥
गये पक्षावे गुह दो न घाने; जो विग्र, बाणी मन वर्म से भी ।
जंके बने वेणुगृह वे अमान्य; न मानती है अूति भी उगड़े त्वं ॥

पृ० ६४-इन्द्रो अम्मां०

सोदा हमे वज्जगारी बाहुबाले इन्द ने,
मारा वृत्त को जो नदियों को धेर ढाले था ।
लाये दिव्यपाणि देव हमे यही सविता,
जिनमे प्रसूत हम चारों ओर जाती हैं ॥

पृ० ६४-प्रा ते कारो०

हे स्तोत्रकार ! हम सुनें तुम्हारी वाणी,
गाही, रथ से तुम दूर-देश से आये ।
मैं दूष रिलानेवाली स्त्री-सी छुकती,

तर वा नारी-सा, आलिगन तड़ करनी ॥

पृ० ६६ उत रथ० (मूल ऋचा में एक 'झु' काट दें)

यह घोडा चाबुक देख दौड़ने लगता,
जब मुहं, गरदन, उर मे लगाम है पड़ता ।
संचिन अपने बल को घोडा यह करता,
झटपट राहो के मोड़ पार बर जाता ॥

तृतीय-अध्याय

पृ० ६८-परिषद०

खगति दूसरे दूल की त्याज्य रही है,
स्वामी हीं तो हम बने विस्तृत धन के ।
हे अग्नि, अग्न्य वा अग्ना पुण न होता,
दूषित न करो पष, मूर्ख भजे यह लेता ॥

पृ० ६९-न हि अमाया०

हो अग्न षेष वा मुखद शिन्तु परहुक वा,
सेना न वमी, होवे विचार नहि मन वा ।
वह तो अपने ही घर वो स्तोषा जाता,
दो हमे विजेता वोर सुपुण नया-मा ॥

पृ० ७०-शासद्वदि०

घोषित बरता है दाहुक पुचो से पुण उमे होगा,
जान रहा वह, प्रहृति-नियम के सर्व विद्यान वो मान रहा ।
जही रिता अपनी पुचो के लिए गोदने वर आउँ,
आने मन वो तदनक वह जो लागिगूर्ज पारन करता ॥

पृ० ५५-दासपत्नी०

दास के कलज-स्वरूप, हिये सधों से,
पण द्वारा गौमो से, जल रुके हुए थे।
जल के इस रोके यारे नये सोने को,
खोला है उसने, मार बृत्र योद्धा की ॥

पृ० ५६-इदं शेष्ठं०

ज्योतिषो वीच यह थोड़ ज्योति है आधी,
चहूरवी, चमसीली, विशाल यह छायी ।
सविता वे ही प्रसवाये प्रसूत हुई थी,
रजनी ने उपा-टेतु योनि साली की ॥

पृ० ५७-सशद्वत्सा०

इवेनमधी, चबगक बरती दीभित पुत्रोवाली आधी ।
कुण्डलयदी) इच्छिलए जगह तचमुक्त लगली) करके लायी ।
एक सरह वा च-धन वाले अमर दाने, आगे पीछे,
आपम य तो रग बदलन अहोरात्र चलने जाते ॥

पृ० ५८-अहश्च कुण्डलो०

उजला दिन वाली गत अयड नियम से,
दोनों समारो में आत अम-कम से ।
वैश्वानर नामह अग्नि जग्म सेते ही,
अपै द्रष्टाव रे हैं तम को हरते ही ॥

पृ० ५९-देवानां मानेऽ

देवो के यन्ते समय प्रथम यन छाये,
इनां छेदो रे निवल समी जल आये ।
तीनो मिल अग खे यहि को उत्ता बगाते,
दोनों प्रसन्न बरने घाला जल लाते ॥

पृ० ६१-इयं शुर्पेभिः०

यह तो बरने बल ने, बलयाली छहरी से तोड़ रही,
पवन की खोटी बो, मानों बयल-मूल हो योद रही ।
रक्षा के ही देतु गुनिमित मनुतियो वे द्वारा हम सद,
गरसती की पूजा चर ले, उमय तटों की जो नाश ॥

पृ० ६३-रमर्य०

मम सोम-सहस्र वसनों को गुनो हसी तुम,
हे मह वाहिनी, निज गनियों से दाण तुम ।
सालूल बढ़ी से मिथु पाम आया हूँ,
मैं कुचिक पूर्व रक्षा को बुला रहा हूँ ॥

वैदिक मन्त्रों का पद्मासुवाद

५

पृ० ८८-कुरु स्थित०

हे अश्विन् ! तुम रात कहाँ थे ? दिन भर भी तुम कहाँ रहे ?
 कहाँ नदापा-खाया तुमने, और कहाँ पर थे ठहरे ?
 कौन तुम्हें अपने बासस्थल में शय्या पर ले जाता ?
 जैसे देवर को विषवा या ले जाती पनि को महिला ।

पृ० ९१-चतुर०

जब तक न रहे वह जारो; पासों को, तर तक हरते ।
 त्यो ही सज्जन कटुयचनों, की इच्छा कसी न करते ॥

पृ० १००-कतरा०

इनमें है पहली कौन, कौन है पीछे ?
 है श्रवियो ! जाने कौन, हुईं ये कैसे ?
 धारण करती सारी धीर्जे अपने से,
 दोनों दिन मानो पूर्ण रहे पहिये-से ॥

चतुर्थ-अध्याय

पृ० १०१-को नु मर्याँ०

माइयो, 'मित्र को मैंने, होकर अतिन ही मारा' ।
 है कौन मित्र यह कहते, अब भाग रहे वयो हमसे ?

पृ० १०२-ययः सुपर्गा०

मुग्दर पंक्षीशाले पश्चो-भाति यज्ञ में प्रेम रहे,
 श्रुपिण्य करते हुए प्राचंना इन्द्रदेव के पास गये ।
 दैव, खोल दो दंकी जगह को, हम सद की अतिं मर दो,
 बैंधे जाल में गानों हम यव, देव, जरा बग्यन हर सो ।

पृ० १०४-यदिन्द्र०

हे इन्द्र, यथन के योग्य प्रयांसाप्रद जो,
 यन रवा, वयषारिन् ! वह सद तुम दे दो ।
 तुम भडारों का ज्ञान रखे हो, यन को
 दोनों हाथों से देव, दिये हो आओ ॥

पृ० १०५-जुषो दमूना०

दय, अरु से उत्तित होकर अतिथि बनो घर ये लाए,
 अभिनदेव, हुम जानहार हो, इम वैग्रस्थल में आओ ।
 उमी शत्रुमेनाथों का वरणे विनाय शट जै जाओ,
 बने हुए जो शत्रु हमारे, उनका बैमण हर लाभो ॥

पृ० ७३-अभ्रातेव०

जैसे भाई से हीना नारी मगुव्य की ओर चली,
घन पाने के लिए या कि बोई खम्मे पर चढ़ी हुई ।
पति की करती हुई कामना सुन्दरवसना नारी-सी,
हेसती सी ऊरा भी मानो रुष मनोरम फंलाती ॥

पृ० ७४-न जामये०

तन से निकले हुए तनय ने दिया बहन को भाग नहीं,
किन्तु एमं को उसके पति का बना शिंग भट्ठार सही ।
जब मातायें सुहनी सन्तानों को करती हैं उत्पन्न,
एक काम उनमें करती है, एक साम से है समझ ॥

पृ० ७५-तदद्य चाचं०

तो धाज सोइ लेता उपाय हूँ पहले,
हम देव लोग अमुरों को जीतें जिससे ।
है पचलोक, हुम यज्ञरोप बो साते,
याजिक हो तुम, मेरा भी यज्ञ रखाते ॥

पृ० ७६-दशाथनिभ्यो०

दस रथक से युक्त और दस व्यमरवन्द रथनेवाले,
दस जोती रम्भी बाले हैं जो दस ही व्यञ्जनवाले ।
दम लगामवाले अमरों की पूजा इटपट ही वर लो,
दस धुरियों बो धारण वरते, जोते जाने पर दस जो ॥

पृ० ७७-अभीदमेको०

मैं हूँ अजेय, इगपर वर्णित अवेला,
दो ल्लौर हीन भी वया वर सहते मेरा ?
मैं तृण शी तरह उसे पीमू सगर मे,
वया दण्डहीन रिपु गुह्ये दोष दालेंगे ?

पृ० ७८-त्वया चयं०

है स्तोत्रनाय, तुम चुदि चरो, तुमसे हम,
यानवग्न ईस्तिन धन-गमूह या जायें ।
जो दूर या कि है निष्ठ जग्नुगम येरे,
उन इने ज्ञाने बो चमो दौन मे खोरे ॥

पृ० ७९-यथा सुपर्णी०

अम अमून-स्तुष्टु बो सुन्दर पर्णो बाले,
अपनी स्तुतियों से स्यानार चूँधाते ।
मेरे रूपों जो नाय नुचन वा पालन,
आया अपवृत्त-मी दुष्टि लिये वहू नायह ॥

वैदिक मन्त्रों का पद्यानुयाद

पृ० ११३-कौयमानो०

चाहते हुए तुम इन्धन, जलमातृ-निष्ठ रहो जाते ।

हे अग्नि, तुम्हारा आना, हम भूल नहीं ही सकते ।

जिससे कि दूर होकर भी, तुम यहाँ चले हो थाते ॥

पृ० ११४-कनोनफेय०

जब नये और छेदोंवाले, छोटे आसनपर लकड़ी के ।

बैठी मुङ्डियों से वे भूरे, घोड़े राहोंमें सोम रहे ॥

पृ० ११५-उपो अदर्शि०

उपा शुद्ध करने वाले आदित्य यज्ञ-सी दीक्षा पढ़ी,

स्तुतिकर्ता की भौति वस्तुएँ प्रिय उसने सामने रखी ।

अग्नदायिका मातान-सी सोये बच्चों को जगा रही,

आयी, आनेवाली देवीगण में नियम बहुत रक्षी ॥

पृ० ११६-इमे सुता०

ऐ गये चूलाये सोम, इन्हे तो पी लो,

हे अशिक्षन्, प्रातः मे आ, सम यल वाले ।

यह तव रक्षा-बन्दन के लिए रक्षा है,

प्रातः उड़ते कोए ने जगा दिया है ॥

पृ० १२०-लामिन्द्र०

हे इन्द्र, ध्यान से पीसा; मह सोम, प्रार्थना करते ।

यत के इच्छुक लोगों नेः तेरी स्तुति भी वाणी से ॥

पृ० १२१-आ धा ता०

निश्चय ही वे आगामी युग आवेगे,

जब स्वरुल लोग पररुल की भौति बनेगे ।

अपनी धौहों को पति के लिए विदा दो,

सुमगे, पर, कोई मुझे छोड़ पति मौगो ॥

पृ० १२२-दौमे पिता०

स्वर्गलोक है पिता हमारा, सोदर बन्धु यहाँ रहते,

यह विदाल है माता मेरी पृथ्वी स्नोग बिसे रहते ।

फैने हुए टोरों के ही बीच पढ़ा है गर्भातिय,

यहाँ पिता ने दुहिता को ही यारण यमं कराया है ॥

पृ० १२३-अदिति०

अदिति स्वर्ग है, अन्तरिक्ष भी, माता, पिता, वर्ही-बन्दन ।

कभी देवता पांच निवासी, अदिति भूम-भावी है जन ॥

पृ० १०६-सं भाँ०

चारों ओर दे रही हैं कष्ट मुझे इटें ये,
मानो हो सपली; इन्द्र, शतशक्तिवाले हो ।
चूहा सूत खाता त्यो ही खाती मुझे व्याधियाँ
तेरे स्तुतिकर्ता थो; विचारो स्वर्ग-पुणियी ।

पृ० १०७-इपिरेण०

गतिशील बुद्धि से तुमने जिसे चुलाया,
पैतृक धन-सा ही भोग करें हम सारा ।
हे राजन्, सोम, हमारी आयु बढ़ाओ,
ज्यो ग्रीष्मकाल के दिन को सूर्य बढ़ाता ॥

पृ० १०८-महत्वाँ०

मध्यो के साथी, वर्षा करने वाले, तुम रण रखते,
इन्द्र, यिथो तुम सोम, मोद के लिए, वाद मे भोजन के ।
मधु की सुन्दर ऊमि बहा दो, जरा हमारे उदरो मे,
सोमो के तुम राजा, जिन्हे चुलाया पहले के दिन मे ॥

पृ० १०९-सकुमिद०

सत्तू को चलनी से पवित्र हैं करते,
त्यो बुद्धिमान मन से बाणी को करते ।
हे, मित्रो दी मित्रता यहाँ दिल जाती,
इनकी बाणी मे शुभ लक्ष्मी बस जानी ॥

पृ० ११०-तत्सूर्यश्य०

यही सूर्य का देवभाव है, यही आपकी है महिमा,
जिसने फैले अन्धकार को दीच राह मे हर ढाला ।
जभी अस्तवल से उसने अपने घोड़ो को जोन लिया,
तभी रात्रि वा वस्त्र सबो के लिये बही या फैल रहा ॥

पृ० १११-इन्द्रेण०

निर्भय के सोग मे जाते, तुम इन्द्र साय दिवलाते ।
तुम दोनों मोद मनाते, सचमुच समान बलवाले ॥

पृ० ११२-इर्मान्नामः०

जिनके नित्य सुविदाल, वमर पतली है,
जो दिव्य दक्षि-सम्पन्न थीर दोहाहे ।
गद्यै हैं श्रेणीबद्ध हस्ती ने गद,
घोडे पा लेते दिव्य मार्ग को हैं जब ॥

प्रमाण-ग्रन्थावली

संस्कृत

१. वैदिक साहित्याः (पूना, बम्बई) ।
२. निरुक्तम् (दुर्गांहितिसमेतम्—बम्बई खेमराजप्रकाशितम्)
३. " " " भद्रकम्पकरसमादितम् ।
४. निरुक्तालोचनम्—सत्यवत्सामध्रमीप्रगीतम् ।
५. पाणिनीया शिक्षा ।
६. निरुक्तस्य स्कन्दमहेश्वरप्रणीते योके (डा० लक्ष्मणसरूपप्रकाशिते)
७. महामाध्यम् (पूना), वाराणसी (चौलम्बा) ।
८. चतुर्वेदमाध्यभूमिकासंग्रहः (बलदेव उपाध्यायः) । चौलम्बा
९. ब्रह्मसूत्रशास्त्रभाष्यम् (निर्णयसागरीयम्) ।
१०. काशिका (चौलम्बा प्रकाशिता) ।
११. सिद्धान्तकौमुदी (,,,,)
१२. मीमांसास्त्रम् (शब्दमाध्ययुतम्—आनन्दाध्रमीयम्)

हिन्दी

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति—प० बलदेव उपाध्याय ।
२. वैदिक साहित्य—प० रामगोविन्द विजेदी ।
३. हिन्दी निरुक्त—प० सीताराम शास्त्री ।
४. संस्कृत का भाष्याशास्त्रीय अध्ययन—दा० भोलाशुंकर द्यास ।
५. भाषाविज्ञान—मोक्षनाथ तिकारी ।
६. व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक ।

अंगरेजी

- 1 L Sarup—Introduction to the Nirukta (1920)
2. " —The Nirukta, Eng Trans. (1921)
3. , —The Nighantu and the Nirukta.
- 4 Skold —The Nirukta, Lund, 1926.
5. Siddhesvar Varma—Etymologies of Yaska.
6. " " Phonetic Observations of Ancient Hindus.

पृ० २४-अपामुपस्थेऽ०

जल के सर्दंक में पवादा बड़े सुरों ने,
ये लोग गये सम्मान्य मृपति के आगे ।
अग्नि को दूत है सूर्य पास से लाया,
दूर से मातृरिष्वा भी वैश्वानर को ॥

पृ० २५-मूर्धा भुवो०

मूर्धों का महत्क अग्नि, निशा में बनतः,
होकर प्रभात में सूर्य वही उष आता ।
यह तो पवित्र लोहो की सुन्दर माया,
रख जान धीघ वे सभी कार्य कर पाते ॥

पृ० २५-स्तोमेन०

अग्नि को स्वर्ण म देवो ने स्तुतियो से,
उपजाया हवर्द्विनि जो बल से भरते ।
रहने को हीन तरह से उसे बनाया,
वह सभी तरह के पीथो को उपजाता ॥

पृ० २६-यदेन०

जब धारण किया इसे पवित्र देवो ने,
स्वर्ण में अदिति के पुत्र, सूर्य को मानो ।
जब गमनशील जोडे उत्तर्ण हुए हैं,
ये सभी लोक जो सदा देखते ही हैं ॥

पृ० २७-यत्रा वदेते०

करते हैं जहाँ विवाद बड़े थो' छोटे,
जानता बोा है हम याजिक लोगो में ।
वे ही समर्थ हैं मित्र, भोक्त पूर्वर ही,
करते जो यश, यता सबता क्या कोई ? ॥

पृ० २७-यापन्मात्र०

जब तक उपा के सुप्रवाद को पहने,
हे मातृरिष्व ! सूर्य दर पत्नोवाला है ।
जब तक रखना है, यश पास मे जाहर,
दृग्दण, होता से निम्न भाग मे रहकर ॥



- 7 Rajwade—Yāska's Nirukta, Poona, (1940)
 8. Ganganatha Jha Commemoration Volume
 - 9 Encyclopaedia Britannica, Vol. 8.
 - 10 Collier's Encyclopaedia, Vol. 7
 - 11 Taraporewala—Elements of the Science of Language
 - 12 P D Gune, Introduction to Comparative Philology
Poona, 1950.
 - 13 Bata Krishna Ghosh, Linguistic Introduction to Sanskrit.
 - 14 Skeat, Principles of English Etymology
 - 15 Bloomfield—Vedic Concordance
 - 16 " —Language 1933
 - 17 Louis Gray, Foundations of Language 1937.
 - 18 P C Chakravarty—Linguistic Speculations of the Hindus
 - 19 " , —Philosophy of Sanskrit Grammar
 - 20 Otto Jesperson—Origin and Development of Language
 - 21 , " —Philosophy of Grammar.
 - 22 S K Belvalkar—Systems of Sanskrit Grammar
 - 23 R G Bhandarkar—Wilson Philological Lectures
 - 24 S K Chatterjee, Indo Aryan and Hindi
 - 25 K C Chatterjee—Technical Terms of Sanskrit Grammar
 - 26 Max Muller—History of Ancient Sanskrit Literature
 - 27 Macdonell—History of Sanskrit literature
 - 28 , —Vedic Mythology
 - 29 M Winternitz—History of Indian Literature, Vol 1
(Eng Trans)
 30. Bishnupada Bhattacharya—Yaska's Nirukta, 1958
 - 31 Monier Williams—A Sanskrit Dictionary.
 - 32 Macdonell & Keith—Vedic Index
 - 33 R. N. Dandekar—Vedic Bibliography
-